श्रीहरिकृष्णनिबन्धमणिमालायाः
पञ्चमो (५) मणिः

श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यविरचित-
'सिद्धान्तमुक्तावली' सहिता

कारिकावली

'मयूख' 'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेता

मयूखकारः
न्याय-व्याकरण-साहित्याचार्यः
पण्डितराजः श्रीसूर्यनारायणशुक्लः

प्रकाशकारः सम्पादकश्च
न्याय-व्याकरण-साहित्याचार्यः
पण्डितश्रीरामगोविन्दशुक्लः

अनुसन्धानसहायकः
वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य

(अनुमानखण्डादि-गुणनिरूपणान्ता)

श्रीहरिकृष्णनिबन्धभवनम्, वाराणसी-२२१००१
१९८१

प्रकाशकः—

श्रीहरिकृष्णनिबन्धभवनम्

वाराणसी–२२१००१

(नवमं संस्करणम्)

मूल्यं ८–००

१९८१

मुद्रकः—

चौखम्बा प्रेस, वाराणसी–२२१००१

वि० सं० २०३७

भूमिका

(कारिकावली के प्रत्यक्षखण्डान्त प्रथम भाग का हिन्दी अनुवाद सहित छः संस्करण हो चुका है। किन्तु अनुमानादि गुणनिरूपणान्त द्वितीय भाग का हिन्दी अनुवाद हमारे आलस्य से ही अब तक रुका था। प्रत्यक्ष खण्ड की भूमिका में हमने प्रतिपाद्य विषय पर कुछ चर्चा आरम्भ की है। उसे इस भाग की भूमिका में अविच्छिन्न रूपसे चलाना आवश्यक समझकर अनुमान आदि प्रकरणों के प्रतिपाद्य विषय पर अपना विचार प्रस्तुत कर रहे हैं—)

अनुमान खण्ड

प्रत्यक्ष खण्ड में बुद्धि के भेदों का निरूपण करते समय अनुमान चर्चा का विषय रहा है। वह अनुमान अनुमिति का करण है। परामर्श के पश्चात् उत्पन्न ज्ञान को अनुमिति कहते हैं। व्यापारवत् असाधारण कारण को करण कहते हैं। अनुमिति एक प्रमा है। प्रमिति करण प्रमाण है। इस प्रकार अनुमान एक प्रमाण है। यह अनुमान व्याप्तिज्ञान से जन्य है तथा लिङ्गपरामर्श से भी जन्य है। कुछ आचार्यों का मत है कि लिंगपरामर्श व्यापार है तब व्याप्तिज्ञान ही अनुमान है। दूसरे आचार्यों का मत है कि लिङ्गपरामर्श के पश्चात् अनुमिति होती है अतः वह ही अनुमान है। प्रथम आचार्यों के मत में कारण को सव्यापार होना चाहिए। दूसरे आचार्य व्यापार होना आवश्यक नहीं मानते।

अनुमान के दो प्रकार—अनुमान स्वार्थ और परार्थ भेद से दो प्रकार का होता है। स्वार्थानुमान तो स्वयं के लिए होता है। अतः उसका निरूपण गौण है। मुख्यतः परार्थानुमान ही विवेचना का विषय है। यह पाँच वाक्य-खण्डों से समझाया जाता है। उन वाक्यखण्डों को अवयव अथवा न्याय कहते हैं। इनके प्रयोग इस प्रकार हैं—

१ प्रतिज्ञा	पर्वत में अग्नि है।
२ हेतु	क्योंकि धूम है।
३ उदाहरण	जो धूम वाला है वहाँ अग्नि है जैसे महानस।
४ उपनय	यह पर्वत धूमवान् है।
५ निगमन	यत: धूमवान् है अत: अग्निमान् है।

मीमांसकों का मत है कि उपनय का हेतु में तथा निगमन का प्रतिज्ञा में अन्तर्भाव कर लिया जाय तो तीन ही अवयव मान्य होंगे। पांच मानने में प्रथम द्वितीय की चतुर्थ पंचम से पुनरुक्ति होती है। कुछ मीमांसकों ने अन्त के तीन अवयवों को माना है। इस प्रकार स्वरूपभेद होने पर भी संख्या भेद नहीं है।

बौद्धों का मत है कि उदाहरण और उपनय से ही अनुमिति हो जायगी प्रतिज्ञा या निगमन तो अर्थात् सिद्ध है। इस प्रकार इनके मत में अध्याहार मानना पड़ता है।

लिङ्ग के तीन भेद—नैयायिकों ने लिङ्ग को तीन प्रकार का स्वीकारा है। (१) केवलान्वयि, (२) केवलव्यतिरेकि, (३) अन्वयव्यतिरेकि, तीन प्रकार से व्याप्ति होने से लिङ्ग तीन प्रकार का होता है। क्योंकि व्याप्य ही लिङ्ग होता है। व्याप्ति के आश्रय को व्याप्य कहते हैं। व्याप्ति तीन प्रकार की है अत: व्याप्य (लिङ्ग) भी तीन प्रकार है। हेतु के पाँच रूप होते हैं। (१) पक्षसत्व, (२) सपक्षसत्व, (३) विपक्षव्यावृतत्व, (४) अबाधित-विषयत्व, (५) असत्प्रतिपक्षितत्व। अन्वयव्यतिरेकि हेतु इन पाँचों रूपों से युक्त होता है। केवलान्वयि हेतु में चार रूप ही होते हैं। उसमें विपक्ष न होने से विपक्ष का व्यवृत्तत्व नहीं होता। केवलव्यतिरेकि में भी चार रूप होता है। क्योंकि उसमें सपक्षसत्त्व नहीं होता। इस प्रकार चार या पाँच रूपों से युक्त हेतु साध्य साधन के लिये समर्थ होता है।

हेत्वाभास—इन रूपों में से किसी एक रूप से हीन हेतु दुष्ट हेतु होने के कारण हेत्वाभास कहा जाता है। हेत्वाभास भी पाँच प्रकार का होता है। (१) सव्यभिचार, (२) विरुद्ध, (३) असिद्ध, (४) सत्प्रतिपक्ष और (५) बाधा।

मीमांसकों ने हेत्वाभास की भाँति पक्षाभास, दृष्टान्ताभास को भी दोष कहा है। उनका मत है कि जब इन दोषों में वैलक्षण्य है तो भेद मानना चाहिए। अब हम क्रमसे इनका स्वरूप कहते हैं—

पक्षाभास—परप्रतिपादनार्थं पक्षवचन को प्रतिज्ञा कहते हैं। जिज्ञासित धर्मविशिष्ट पक्ष होता है। किन्तु यदि पक्ष रूप का परिच्छेदक होने, विपरीत परिच्छेदक होने अथवा अन्यत्र अप्रसिद्ध होने से जिज्ञासित धर्म विशिष्ट नहीं होता तो वह पक्षाभास होता है। यह तीन प्रकार का होता है। (१) सिद्ध विशेषण, (२) बाधित विशेषण, (३) अप्रसिद्ध विशेषण। इन पक्षाभासों को पक्ष मानकर यदि प्रतिज्ञा वाक्य का प्रयोग किया जाय तो वह **प्रतिज्ञाभास** कहा जाता है। क्रम से उदाहरण—

१. **वह्निरुष्ण:**—इस प्रतिज्ञावाक्य में सिद्ध विशेषण दोष है।

२. **वह्निरनुष्ण:**—इस प्रतिज्ञावाक्य में बाधित विशेषण दोष है।

३. **क्षिति: सर्वज्ञकर्तृका**—इसमें अप्रसिद्ध विशेषण है। इस प्रकार प्रमाण बाध भी होता है। जैसे—

१. वह्निरनुष्ण: में प्रत्यक्षबाध।

२. मन: अनिन्द्रियम् अभूतात्मकत्वात् में अनुमान बाध।

३. याग: स्वर्गसाधनं न क्रियात्वात् गमनवत् में शाब्दबाध।

४. देवदत्तो बहिर्नास्ति तत्राविद्यमानत्वात् में अर्थापत्तिबाध।

५. वायु: रूपवान् द्रव्यत्वात् में अनुपलब्धिबाध है।

दृष्टान्ताभास—दृष्टान्त दो प्रकार का होता है। (१) **साधर्म्य** से जैसे 'यो धूमवान् सोऽग्निमान् यथा महानसम्' (२) **वैधर्म्य** से जैसे 'योऽग्निमान् न, असौ धूमवान् न, यथा जलम्। किन्तु साधर्म्य उदाहरणाभास चार प्रकार का होता है।

१. **साध्यहीन**—नित्यो ध्वनि: अकारणत्वात् प्रागभाववत् :

२. **साधनहीन**— ,, ,, ,, प्रध्वंसवत्।

३. **उभयहीन**— ,, ,, ,, घटवत्।

४. **आश्रयहीन**— ,, ,, ,, नरश्रृङ्गवत्।

वैधर्म्योदाहरणाभास भी चार प्रकारका होता है। जैसे—

१. साध्यव्यावृत्तः—यन्नित्यं न, तदकारणं न, यथा प्रध्वंसः।
२. साधनव्यावृत्तः— ,, ,, ,, प्रागभावः।
३. उभयव्यावृत्तः— ,, ,, ,, गगनम्।
४, आश्रयव्यावृत्तः— ,, ,, ,, नरशृङ्गम्।

उपमान खण्ड

उपमान प्रमाण को अनेक दार्शनिकों ने अनुमान अथवा शब्द में गतार्थ मानकर अलग प्रमाण नहीं माना है। किन्तु नैयायिकों ने प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्दमिश्रित होने के कारण इसे अलग प्रमाण मान लिया है। क्योंकि वैलक्षण्य ही वस्तुभेद में कारण है।

शब्द खण्ड

जैसे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान प्रमाण है वैसे ही शब्द भी प्रमाण है। यद्यपि शब्द तो अप्रामाणिक जन भी प्रतारणा आदि के लिए बोलता है अतः शब्द को प्रमाण मानना उचित नहीं प्रतीत होता तथापि आप्तवाक्य ही प्रमाण है। सबके लिए भिन्न-भिन्न आप्त होते हैं। किन्तु ईश्वर सबके लिए आप्त है। अतः उसका वचन वेद सर्वथा प्रमाण है। जो लोग ईश्वर नहीं मानते तथा वेद को मानवप्रणीत मानते हैं उनके मत में वेद-वाक्य प्रमाण नहीं माने जाते। अत एव वे लोग शब्द को प्रमाण नहीं मानते। किन्तु अविसंवादि प्रवृत्ति होने पर प्रामाण्य का अनुमान करते हैं।

इस प्रकार मुक्तावली के सामान्य विषयों का विवेचन हुआ, विशेष विवेचन तो ग्रन्थ में है ही। उसपर पुनः लिखना कोई नयी बात नहीं होगी।

इस संस्करण की विशेषता—

छात्रों को अनुमानखण्ड पढ़ते समय प्रत्यक्षखण्ड के कतिपय विषय स्मरण रखना आवश्यक होता है इसलिए विषयसूची और भूमिका के साथ-साथ परिशिष्ट में कारिका-सूची, नैयायिकों में प्रचलित कतिपय नियम और शाब्दबोध-

प्रकार की तत्तद्विभक्त्यर्थों के साथ जोड़ दिया है। इस प्रकार छात्रों की ज्ञानवृद्धि के लिए विषयों का समावेश एक आवश्यकता की पूर्ति ही है।

हर्ष का विषय है कि भगवान् आशुतोष की कृपा से न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली के शेष भाग का भी हिन्दी अनुवाद पाठक के समक्ष प्रस्तुत हो रहा है इसके प्रकाशन में सोल्लास रुचि रखने वाले विश्वविख्यात चौखम्बा संस्कृत सीरीज के संचालक, जो संस्कृत विद्वानों के परिवार बन गये हैं मैं उस परिवार में संस्कृतसेवा की निष्ठा बनी रहने का आशीर्वाद देता हूँ।

अन्त में विद्वानों से निवेदन करता हुँ कि पद-पद पर स्खलिति सम्भावित हैं उनका सुधार करेंगे।

शिवरात्रि
२०२५ विक्रम

—रामगोविन्द शुक्ल

विषय-सूची

(अनुमानखण्डादि-गुणनिरूपणान्तो भागः)

विषय-सूची

(प्रत्यक्षखण्डान्तो भागः)

(प्रत्यक्षखण्ड पृथक् छपा है)

॥ श्रीः ॥

कारिकावली

'मयूख' 'प्रकाश' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेता

(अनुमानखण्डम्)

व्यापारस्तु परामर्शः, करणं व्याप्तिधीर्भवेत् ॥ ६६ ॥
अनुमायां, ज्ञायमानं लिङ्गं तु करणं न हि ।
अनागतादिलिङ्गेन न स्यादनुमितिस्तदा ॥ ६७ ॥

व्यापार इति । तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वं व्यापारत्वम् परामर्शो हि व्याप्तिज्ञानजन्यः व्याप्तिज्ञानजन्यानुमितिजनकश्चेत्ते भवति तस्य व्याप्तिज्ञानव्यापारत्वमिति ।

अनागतेनेति । तथा च इयं शाला भाविवह्निमती भाविधूमात्, इयं शाला अतीतवह्निमती अतीतधूमात् इति अनागतविनष्टाभ्यां लिङ्गाभ्यामनुमितिर्न स्यात् तदानीं लिङ्गस्य धूमस्याभावात् । मम तु धूमस्याभावेऽपि धूमज्ञानस्य सत्त्वान्न दोष इति भावः ॥ ६६–६७ ॥

अनुमान (व्याप्तिज्ञान) तो नेत्र आदि से उत्पन्न होती है । इसलिए अनुमानमें प्रत्यक्ष-प्रमाणका कार्यत्वरूप उपजीवकत्व और प्रत्यक्षमें कारणत्वरूप उपजीव्यत्वके रहनेसे उपजीव्योपजीवकभावरूपी संगतिको ध्यानमें रखकर प्रत्यक्षनिरूपणके बाद अनुमानका निरूपण करते हैं ।

(पर्वतो वह्निमान् इस प्रकारके) अनुमानमें तो परामर्श व्यापार और व्याप्तिज्ञान करण है । ज्ञायमानलिंग अनुमितिके प्रति करण नहीं होता । क्योंकि यदि उसे करण मान लिया जाय तो अतीत-लिंग और अनागत-लिंगसे अनुमिति नहीं हो सकेगी ।

(न्यायसिद्धान्तमुक्तावली)

अनुमितिं व्युत्पादयति । व्यापारस्त्विति । अनुमितौ व्याप्तिज्ञानं करणं, परामर्शो व्यापारः ।

तथा हि—येन पुरुषेण महानसादौ धूमे वह्नेर्व्याप्तिर्गृहीता, पश्चात् स एव पुरुषः क्वचित् पर्वतादावविच्छिन्नमूलां धूमरेखां पश्यति, तदनन्तरं 'धूमो वह्निव्याप्य' इत्येवंरूपं व्याप्तिस्मरणं तस्य भवति, पश्चाच्च व-

---

अनुमितिस्त्विति : अयं भावः द्विविधादपि परामर्शात् 'पक्षः साध्यवान्' इत्येवमाकारानुमितिस्वीकारे यदा व्याप्यप्रकारकपक्षविशेष्यकपरामर्शादनुमितिर्जाता तदा पक्षप्रकारकव्याप्यविशेष्यकः परामर्शो नास्ति यदा च पक्षप्रकारकव्याप्यविशेष्यकपरामर्शादनुमितिर्जाता तदा व्याप्यप्रकारकपक्षविशेष्यकः परामर्शो नास्तीति कारणाभावे कार्योत्पादरूपव्यतिरेकव्यभिचारसत्त्वात् कस्यापि परामर्शस्य कारणत्वं न स्यात् अतः 'पक्षो व्याप्यवान्' इत्याकारकपक्षविशेष्यकपरामर्शात् पक्षविशेष्यिका 'पक्षः साध्यवान्' इत्याकारिका, 'पक्षे व्याप्य' इति व्याप्यविशेष्यकपरामर्शात् साध्यविशेष्यिका 'पक्षे साध्यम्' इत्याकारिकाऽनुमितिः स्वीक्रियते । एवं च एकधर्मावच्छिन्नकार्यं प्रति यदानेकधर्मावच्छिन्नस्य कारणता तदा व्यतिरेकव्यभिचारः प्रकृते च साध्यप्रकारकपक्षविशेष्यकानुमितित्वावच्छिन्नं प्रति व्याप्यप्रकारकपक्षविशेष्यकपरामर्शत्वावच्छिन्नस्य; पक्षप्रकारकसाध्यविशेष्यकानुमितित्वावच्छिन्नं प्रति च पक्षप्रकारकव्याप्यविशेष्यकपरामर्शत्वावच्छिन्नस्य कारणतया एकधर्मावच्छिन्नकार्यं प्रति अनेकधर्मावच्छिन्नस्य कारणस्याभावान्न व्यतिरेकव्यभिचारः ।

एतदुक्तं भवति—'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' इति परामर्शात् 'पर्वतो वह्निमान्' इत्याकारानुमितिः 'पर्वते वह्निव्याप्यो धूमः' इति परामर्शात् 'पर्वते वह्निः' इत्याकारानुमितिर्जायते इति ।

अनुमितिका व्याप्तिज्ञान करण है। व्यापारवान असाधारण कारणको करण कहते हैं। इसलिए अनुमितिमें परामर्श व्यापार है। "वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः" इस प्रकारके ज्ञानको परामर्श कहते हैं। 'जो कारणसे जन्य हो और कारणसे जन्यका भी जनक हो उसे व्यापार' कहते हैं। परामर्श भी व्याप्तिज्ञानसे जन्य है और व्याप्तिज्ञानसे जन्य जं अनुमिति उसका जनक है। इसलिए अनुमितिमें परामर्श व्यापार है। जैसे जिस पुरुषने महानसमें (भोजनालयमें) धूममें "जहाँ-जहाँ धूम वहाँ-वहाँ अग्नि" इस प्रकारके साहचर्य दर्शनसे वह्निकी व्याप्ति "धूम वह्निका व्याप्य है" इस रूपमें समझ लिया। बादमें वहीं पुरुष कहीं पर्वत आदि (चत्वर, गोष्ठ, महानस) में अविच्छिन्नमूलवाली धूम रेखा देखकर

ह्निव्याप्यधूमवानयमिति ज्ञानम्, स एव परामर्श इत्युच्यते। तदनन्तरं पर्वतो वह्निमानित्यनुमितिर्जायते ।

अत्र प्राचीनास्तु व्याप्यत्वेन ज्ञायमानं लिङ्गमनुमितिकरणमिति वदन्ति, तद् दूषयति । ज्ञायमानमिति । लिङ्गस्याऽनुमित्यकरणत्वे युक्ति-

---

ननु परामर्शस्य व्याप्यप्रकारकपक्षविशेष्यकपक्षप्रकारकव्याप्यविशेष्यकान्यतरपरामर्शत्वेन पक्षःसाध्यवानित्याकारानुमितिं प्रति कारणतास्वीकारेण अन्यतरपरामर्शत्वावच्छिन्नकारणस्य सत्त्वान्न व्यतिरेकव्यभिचारः कारणतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताककारणाभावे कार्यतावच्छेदकावच्छिन्नकार्योत्पादस्यैव व्यतिरेकव्यभिचाररूपत्वादिति चेन्न—तद्भिन्नत्वे सति तद्भेदवान् यः तत्प्रतियोगिकभेदवत्त्वम् यथा घटभिन्नत्वे सति पटभेदवद् एतद्द्वयातिरिक्तं जगन्मात्रं तद्भिन्नत्वमेतद्द्वये इति इदमेव घटपटान्यतरत्वं नाम । एवं पक्षविशेष्यकपरामर्शभिन्नत्वे सति व्याप्यविशेष्यकपरामर्शभिन्नं एतद्द्वयातिरिक्तं जगन्मात्रं तद्भिन्नत्वं द्विविधपरामर्श इति इदमेव पक्षविशेष्यकव्याप्यविशेष्यकपरामर्शान्यतरत्वमिति। एवं चान्यतरत्वरूपकारणतावच्छेदककुक्षौ जगतः प्रवेशेन विशेष्यविशेषणभावव्यत्यासेन व्याप्यविशेष्यकपरामर्शभिन्नत्वे सति पक्षविशेष्यकपरामर्शभिन्नो यः तद्भिन्नत्वरूपस्य पक्षविशे-

---

उसके बाद "धूम वह्निका व्याप्य है" इस प्रकारका व्याप्तिका स्मरण करता है। उसके बाद "वह्निके व्याप्य धूमका आश्रय यह पर्वत है" यह ज्ञान होता है इसी ज्ञानको परामर्श कहते हैं। फिर 'पर्वतो वह्निमान्' यह अनुमिति होती है। (इस प्रकार 'व्याप्तिज्ञान ही अनुमान है यह सिद्ध होता है।')

यहाँ प्राचीनों (उदयनाचार्य) का मत है कि 'अनुमितिके प्रति व्याप्यत्वरूपसे ज्ञायमान लिंग (हेतु) ही करण है।' अर्थात् व्याप्यत्वप्रकारकज्ञानविशेष्य जो लिंग वह अनुमितिका करण है। किन्तु इनके मत में 'ज्ञायमानलिंग अनुमितिका करण है' जो ठीक नहीं है। कारण यह कि यदि अनुमितिमें ज्ञायमान लिंग करण होता तो अनागत-लिंग और

---

१. प्राचीनाः—उदयनाचार्याः । एतेषां मते ज्ञायमानं लिङ्गमनुमितिकरणम् । तथा चोक्तं—गुणकिरणावल्यामनुमाननिरूपणे 'एतेन परामृश्यमानं लिङ्गमनुमितिकरणमिति । व्याप्यत्वेनेति—व्याप्यत्वप्रकारकवर्तमानग्रहविषयीभूतम् ।

२. परामृश्यमानं लिंगमित्यर्थः । अप्रतिबाधके विशिष्टस्य कारणताग्राहकप्रमाणेन विशेषणस्यापि कारणताग्रहनियमात् । लिङ्गपरामर्शस्यैव परामृश्यमानलिङ्गस्यापि हेतुता। एकस्य हेतुत्वे विनिगमनाविरहात् । तत्र च व्यापाराभावात् लिङ्गपरामर्शस्य न कारणता किन्तु ज्ञायमानलिङ्गस्यैव । तथा चोक्तं किरणावल्यां 'लिङ्गस्यावान्तरव्यापारवत्त्वेन करणत्वमिति ।

माह्। अनागतादीति। यद्यनुमितौ लिङ्गं करणं स्यात्, तदाऽनागतेन लिङ्गेन, विनष्टेन चाऽनुमितिर्न स्यात्, अनुमितिकरणस्य तदानीमभावादिति ॥ ६६–६७ ॥

व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः परामर्श उच्यते।

व्याप्यस्येति। व्याप्तिविशिष्टस्य पक्षेण सह वैशिष्ट्यावगाहिज्ञानमनुमितौ जनकं, तच्च 'पक्षे व्याप्य' इति ज्ञानं, 'पक्षो व्याप्यवान्' इति ज्ञानं वा, अनुमितिस्तु 'पक्षे व्याप्य' इति ज्ञानात् 'पक्षे साध्यम्' इत्याकारिका; 'पक्षो व्याप्यवान्' इति ज्ञानात् 'पक्षः साध्यवान्' इत्याकारिका।

ष्यकपरामर्शभिन्नत्वे सति व्याप्यविशेष्यकपरामर्शभिन्नो यः तत्प्रतियोगिकभेदवत्त्वरूपस्य च अन्यतरत्वस्य विनिगमनाविरहेण कारणतावच्छेदकत्वेन च गौरवेणाऽन्यतरत्वेन कारणतायाः स्वीकर्तुमयोग्यत्वादिति।

विनष्टलिंगसे जो अनुमिति होती है वह न होती। क्योंकि अनुमिति होनेके क्षणमें लिंग तो रहेगा नहीं। जैसे 'यह शाला भावी वह्निमती है क्योंकि भावीधूम है। यह शाला अतीत (विनष्ट) वह्निमती है क्योंकि अतीतधूम है' यह अनुमिति होती है ॥ ६६–६७ ॥

पक्षके सहित व्याप्तिविशिष्टका (हेतुका) जो वैशिष्ट्यावगाही अर्थात् वैशिष्ट्यविषयक जो 'संयोगेन वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः यह ज्ञान वह परामर्श कहा जाता है। वही अनुमितिके प्रति करण है।

व्याप्तिविशिष्टका अर्थात् लिंग धूम आदिका जो पक्षमें (पर्वत आदिमें) वैशिष्ट्य (सम्बन्ध) का अवगाहन करनेवाला ज्ञान 'संयोगेन वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत' यह ज्ञान वही अनुमितिका जनक है। उसे ही परामर्श कहते हैं। वह ज्ञान विशेषणविशेष्यमें व्यत्यास होनेके कारण दो प्रकारका होता है। परामर्श ज्ञान 'व्याप्तिविशिष्टपक्ष वैशिष्ट्यावगाही' ज्ञान है। इसमें 'व्याप्तिविशिष्टपक्ष' इस अंशमें पक्षप्रकारक व्याप्तिविशिष्टविशेष्यक परामर्श मानने पर 'पक्षे व्याप्य' और व्याप्तिविशिष्टप्रकारक पक्षविशेष्यक परामर्श मानने पर 'पक्षः व्याप्यवान्' इस रूपमें ज्ञान होगा। अनुमिति तो 'पक्षे व्याप्यः' (पर्वते धूमः) इस ज्ञानसे 'पक्षे साध्यम्' (पर्वते वह्निः) इस रूपमें और पक्षो व्याप्यवान् (पर्वतः धूमवान्) इस ज्ञानसे पक्षः साध्यवान् (पर्वतो वह्निमान्) इस रूपमें होगी। यहाँ पर 'पक्षे व्याप्यः' का 'पर्वते वह्निव्याप्यो धूमः' में और 'पक्षः व्याप्यवान्' का 'पर्वतः वह्निव्याप्यधूमवान्' में तात्पर्य है। इस प्रकार भिन्न प्रकारके परामर्शोंसे भिन्न प्रकारकी अनुमिति लेनेसे 'एक धर्मिक कार्यके प्रति अनेक धर्मिककारणका होना' रूपी व्यतिरेक व्यभिचार भी नहीं हुआ।

द्विविधादपि परामर्शात् पक्षः साध्यवानित्थेवाऽनुमितिरित्यन्ये।

द्विविधादपीति। ननु द्विविधादपि परामर्शादेकविधानुमितिस्वीकारे व्यतिरेकव्यभिचार इति चेन्न—व्याप्यप्रकारकपक्षविशेष्यकपरामर्शाव्यवहितोत्तरक्षणजायमानपक्षः साध्यवानित्याकारकानुमितित्वावच्छिन्नं प्रति व्याप्यप्रकारकपक्षविशेष्यकपरामर्शस्य कारणता एवं पक्षप्रकारकव्याप्यविशेष्यकपरामर्शाव्यवहितोत्तरक्षणजायमान 'पक्षः साध्यवान्' इत्याकारकानुमितित्वावच्छिन्नं प्रति पक्षप्रकारकव्याप्यविशेष्यकपरामर्शस्य कारणता इति स्वीकारेण व्यतिरेकव्यभिचाराभावात्।

वस्तुतस्तु—एतदपेक्षयापि लाघवात् पक्षनिष्ठविषयतानिरूपितव्याप्यनिष्ठविषयताकपरामर्शत्वेन द्विविधपरामर्शस्य 'पक्षः साध्यवान्' इत्याकारानुमितिं प्रति कारणतास्वीकाराद् व्यतिरेकव्यभिचारवारणं बोध्यम्, द्विविधपरामर्शात् पक्षविशेष्यकसाध्यविशेष्यकानुमितिद्वयस्वीकारस्तु नोचितः अनुभवविरोधादिति भावः।

केचित्तु अनुभवानुरोधेन पक्षविशेष्यकादेव परामर्शादनुमितिर्जायते न तु व्याप्यविशेष्यकात्। अत एव वह्निव्याप्यधूमवांश्चायमित्याकारकः पक्षविशेष्यक एवोपनय इति वदन्ति।

मीमांसकः शङ्कते नन्विति।[1] इदं हि तेषां मतम् यन्महानसादौ वह्निसहचरितधूमदर्शनेन 'धूमो वह्निव्याप्य' इति व्याप्तिग्रहे जाते पश्चाद् 'पर्वतो धूमवान्' इति पक्षधर्मताज्ञानात् 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यनुमितिर्जायते व्याप्त्यनुभवस्यानुमितिं प्रति कारणता तु संस्कारद्वारा। न च संस्कारजन्यत्वेन अनुमितेः स्मृतित्वापत्तिरिति

नवीन नैय्यायिक तो दोनों प्रकारके परामर्शसे 'पक्षः साध्यवान्' इसी प्रकारका अनुमान मानते हैं और व्यतिरेक व्यभिचार वारनेके लिए अव्यवहितोत्तरत्वका निवेश कर लिया करते हैं। जैसे 'व्याप्यप्रकारक पक्षविशेष्यक परामर्श के ठीक बादमें होने वाली 'पक्षः साध्यवान्' इस अनुमितिके प्रति व्याप्यप्रकारक पक्षविशेष्यक परामर्श कारण है। इसी प्रकार पक्षप्रकारक व्याप्यविशेष्यक परामर्शके ठीक बादमें होनेवाली 'पक्षः साध्यवान्' इस अनुमितिके प्रति पक्षप्रकारक व्याप्यविशेष्यक परामर्श कारण माननेसे व्यतिरेकव्यभिचार नहीं होता।

---

१ **मीमांसकों**का मत है कि महानसमें (पाकशालामें) वह्नि (अग्नि) और धूमका सहचार (साथ रहना) देखकर 'धूम वह्निका व्याप्य है' इस प्रकार व्याप्तिग्रह निश्चय हो गया। बादमें 'पर्वत धूमवाला है' इसप्रकारके पक्षधर्मताज्ञानके बाद ही "पर्वत वह्निवाला" यह अनुमिति होती है। इनके मतमें व्याप्तिका अनुभव संस्कार द्वारा अनुमितिके प्रति कारण है। **न्यायके** मतमें तो महानसमें वह्निके साथ रहनेवाले धूमको देखकर "धूम वह्निका व्याप्य" इसप्रकार का व्याप्त्यनुभव होता है। उसके बाद 'पर्वत धूमवाला' यह

ननु 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत' इति ज्ञानं विनाऽपि यत्र पर्वतो धूमवानिति प्रत्यक्षं, ततो 'वह्निव्याप्यो धूम' इति व्याप्तिस्मरणं, तत्र ज्ञानद्वयादेवाऽनुमितेर्दर्शनात् व्याप्तिविशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानं न सर्वत्र कारणं,

---

वाच्यम्। संस्कारजन्यत्वस्य संस्कारध्वंससाधारण्येन स्मृतित्वाप्रयोजकत्वादिति। न्यायमते तु महानसादौ वह्निसहचरितधूमदर्शनेन 'धूमो वह्निव्याप्य' इति व्याप्त्यनुभवः ततः 'पर्वतो धूमवान्' इति पक्षवृत्तिताज्ञानं ततः व्याप्तिस्मरणं ततः परामर्शः ततोऽनुमितिरिति।

व्याप्तिविशिष्टवैशिष्ट्यावगाहिज्ञानमिति। ज्ञानाकारश्च 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत' इत्येवंरूपः। वह्नेर्निरूपितत्वसम्बन्धेन व्याप्तौ तस्याश्च स्वरूपसम्बन्धेनाश्रये तस्य चाभेदेन धूमे तस्य च संयोगेन मतुबर्थाश्रये तस्य चाभेदेन पर्वतेऽन्वयः समानाधिकरणप्रकारताविशेष्यतयोरवच्छेद्यावच्छेदकभाव इत्येकं मतम् तयोरभेद इत्यपरं मतम्। आद्ये वह्नित्वावच्छिन्ननिरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिता या व्याप्तित्वावच्छिन्ना विशेष्यता तादृशविशेष्यत्वावच्छिन्नस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिता या आश्रयत्वावच्छिन्ना विशेष्यता तादृशविशेष्यावच्छिन्नाभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिता या धूमत्वावच्छिन्ना विशेष्यता तादृशविशेष्यत्वावच्छिन्नसंयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिता या आश्रयत्वावच्छिन्नाभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिता या पर्वतत्वावच्छिन्ना विशेष्यता तादृशविशेष्यताशाली बोधः।

मीमांसकोंका मत है कि 'वह्निव्याप्यधूमवाला पर्वत' इस ज्ञानके बिना भी जहां 'पर्वत धूमवाला' यह प्रत्यक्ष फिर 'वह्निव्याप्य धूम' यह व्याप्तिस्मरण है। वहाँ इन दो ज्ञानसे ही अनुमिति देखी गई है। अर्थात् अनुमिति उत्पन्न होती है। फिर व्याप्तिविशिष्टका वैशिष्ट्यावगाही ज्ञान (परामर्श) सर्वत्र कारण नहीं हो सकता। किन्तु 'वह्निव्याप्यधूम' इस स्मरणात्मकज्ञान में व्याप्यधूम व्याप्यतावच्छेदक=धूमत्व वह ही 'धूमवाला पर्वत' इस ज्ञानमें भी है। इसलिए व्याप्यताच्छेदक धूमत्व प्रकारक पक्षधर्मताविषयक 'धूमवाला पर्वत' इस ज्ञानको ज्ञानत्वरूपसे कारण मानना आवश्यक है। अर्थात् दोनों पक्षोंमें उपर्युक्त दोनों ज्ञान मानना अनिवार्य होनेसे दो ज्ञानों और अनुमितिके बीचमें व्याप्तिविशिष्ट

पक्षवृत्तिता ज्ञान। उसके बाद व्याप्तिस्मरण। उसके बाद 'वह्निका व्याप्यधूमवाला यह पर्वत' यह परामर्श। तब "पर्वत वह्निवाला" यह अनुमिति होती है। इसप्रकार मीमांसकोंके मतमें दो ज्ञानोंसे अनुमिति होती है। और न्यायमतमें परामर्श एक अधिक होकर तीन ज्ञान मानना पड़ता है।

किन्तु व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानत्वेन कारणत्वस्याऽऽवश्यकत्वात् तत्र विशिष्टज्ञानकल्पने गौरवाच्चेति चेन्न--

व्याप्यतावच्छेदकाज्ञानेऽपि वह्निव्याप्यवानिति ज्ञानादनुमित्युत्पत्तेः लाघवाच्च व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानत्वेन हेतुत्वम्।

द्वितीये तु वह्नित्वावच्छिन्ननिरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिता या व्याप्तित्वावच्छिन्ना विशेष्यता तादृशविशेष्यत्वाभिन्नस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिता या आश्रयत्वावच्छिन्ना विशेष्यता तादृशविशेष्यत्वाभिन्नाभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिता या धूमत्वावच्छिन्ना विशेष्यता तादृशविशेष्यत्वाभिन्नसंयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानि रूपिता या आश्रयत्वावच्छिन्ना विशेष्यता तादृशविशेष्यत्वाभिन्नाभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिता या पर्वतत्वावच्छिन्ना विशेष्यता तादृशविशेष्यताशाली बोधः।

व्याप्तिविशिष्टवैशिष्ट्यावगाहित्वेनेत्यस्य— व्याप्तिप्रकारतानिरूपितहेतुविशेष्यत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितपक्षविशेष्यताशालिनिश्चयत्वेनेति व्याप्तिप्रकारतानिरूपितहेतुप्रकारतानिरूपितपक्षविशेष्यताशालिनिश्चयत्वेनेति वार्थः। आद्यं तयोर्भेदमङ्गीकृत्यावच्छेद्यावच्छेदकभाववादिमताभिप्रायेण, द्वितीयं समानाधिकरणप्रकारताविशेष्यतयोरभेदवादिमताभिप्रायेणेति ध्येयम्।

अनुमित्युत्पत्तेरिति। अयं भावः, व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानस्या-

---

धूमवैशिष्ट्यावगाहिपरामर्शात्मकज्ञानकी कल्पना करना गौरव होगा ? किन्तु यह **मीमांसकोंका मत ठीक नहीं**। क्योंकि व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानको अनुमितिके प्रति कारण माननेसे जहाँ 'वह्नि व्याप्यवाला पर्वत' इतने ज्ञान से 'पर्वत वह्निवाला' यह अनुमिति होती है। वह नही होगी। क्योंकि यह 'वह्निव्याप्यवाला पर्वत' यह ज्ञान व्याप्यतावच्छेदकप्रकारक पक्षधर्मताक ज्ञान नहीं है।

यदि यहाँ अनुमितिरूप कार्य देखकर कारणका अनुमान करके उक्तस्थलमें 'धूमवाला पर्वत' इस निर्णयात्मक ज्ञानकी कल्पनासे व्यभिचार न होने की कल्पना की जाय तो भी ठीक नहीं। क्योंकि लाघव होनेके कारण व्याप्तिप्रकारक पक्षधर्मताज्ञानको ही कारण मानना चाहिए। यदि उक्त कारणमें नैयायिकको केवल एक अवच्छेदकता नहीं निवेश करना पड़ता तो मीमांसकोंको तो परामर्श नामक तीसरा ज्ञान ही नहीं मानना पड़ता। इसप्रकार दोनों मतोंमें समानता भी देना ठीक नहीं। क्योंकि जहाँ कालान्तरमें किसीको 'धूमवाला पर्वत' इसप्रकार पक्षधर्मतामात्र ज्ञान हो वहाँ पर भी व्याप्यतावच्छेदक धूमत्व प्रकारक पक्षधर्मताक ज्ञान होनेके कारण अनुमिति प्राप्त होगी। किन्तु केवल पक्षधर्मतामात्रके ज्ञान से अनुमिति होती नहीं है। अतः व्यभिचार वारने के लिए व्याप्ति प्रकारकपक्ष-

किं च 'धूमवान् पर्वत' इति ज्ञानादनुमित्यापत्तिः, व्याप्यतावच्छेदकीभूतधूमत्वप्रकारकस्य पक्षधर्मताज्ञानस्य सत्त्वात् ।

न च गृह्यमाणव्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानस्य हेतुत्वान्न दोष इति वाच्यम् । चैत्रस्य व्यातिग्रहे मैत्रस्य पक्षधर्मताज्ञानादनुमित्यापत्तेः ।

यदि तत्पुरुषीयगृह्यमाणव्याप्यतावच्छेदकप्रकारकं तत्पुरुषीयपक्षधर्मताज्ञान तत्पुरुषीयानुमितौ हेतुरित्युच्यते, तदाऽनन्तकार्यकारणभावः ।

भावऽपि अनुमितिदर्शनेन व्यतिरेकव्यभिचारान्नानुमितौ व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानस्य कारणत्वसम्भव इति ।

ननु तत्रानुमितिरूपकार्यदर्शनेन कारणानुमानात् व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकं 'पर्वतो धूमवान्' इति ज्ञानं कल्पनीयमिति न व्यभिचार इत्यत आह—लाघवाच्चेति- व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकत्वापेक्षया व्याप्तिप्रकारकत्वस्य लघुत्वादित्यर्थः ।

ननु तवावच्छेदकलाघवं मीमांसकानां तु पूर्वोक्तकल्पनालाघवमित्युभयोः साम्यमित्यत आह—किंचेति ।

तत्पुरुषसमवेतज्ञानविषयीभूता या व्याप्यता तदवच्छेदकप्रकारकं पक्षधर्मताज्ञानं तत्पुरुषसमवेतानुमितौ हेतुः, इति कार्यकारणभावस्वरूपमिति भावः । न च तत्पुरुषसमवेतमेव भिन्नकालीनं व्याप्तिज्ञानं पक्षधर्मताज्ञानं चादायानुमितिप्रसङ्गः, मम तु भिन्नकालीनज्ञानाभ्यामनुमितिकरणीभूतस्य विशिष्टज्ञानस्यानुदयान्नायं दोष इति वाच्यम्, शानचा वर्तमानकालीनत्वस्य बोधनेन ग्रहे तत्कालीनत्वस्यापि लाभेनादोषात् ।

धर्मताज्ञानको ही कारण मानना चाहिए। 'धूमवाला पर्वत' यह ज्ञान व्याप्तिप्रकारक नहीं है किन्तु वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः' यह ज्ञान व्याप्तिप्रकारक होनेसे अनुमितिका कारण होता है ।

यदि मीमांसक व्याप्यतावच्छेदकीभूतधूमत्वप्रकारक पक्षधर्मताज्ञानके होने से धूमवान् पर्वत इस ज्ञानसे प्राप्त अनुमिति वारण के लिए कहें कि 'गृह्यमाण = ज्ञायमान व्याप्यतावच्छेदकधूमत्वप्रकारक पक्षधर्मता ज्ञानको कारण माननेसे व्यभिचार नहीं होगा। तो ठीक नहीं। क्योंकि चैत्रको 'धूमः वह्निव्याप्यः' व्याप्तिग्रह होनेपर और मैत्र को 'धूमवाला पर्वत' यह पक्षधर्मताज्ञान होने पर गृह्यमाणव्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानरूप कारण होनेसे मैत्रको अनुमिति होने लगेगी ।

यदि मीमांसक कहें कि उस पुरुषमें होनेवाली अनुमितिके प्रति उस पुरुषके द्वारा ज्ञायमानव्याप्यतावच्छेदकप्रकारक ज्ञान और उसी पुरुषका पक्ष-धर्मताज्ञान ही कारण है तो भी ठीक नहीं। क्योंकि अनन्तपुरुष होनेके कारण अनन्त कार्य-कारण-भाव मानना पड़ेगा ।

मन्मते तु समवायसम्बन्धेन व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानं समवायसम्बन्धेनाऽनुमितिं जनयतीति नाऽनन्तकार्यकारणभावः ।

यदि तु व्याप्तिप्रकारज्ञानं पक्षधर्मताज्ञानं च स्वतन्त्रं कारणमित्युच्यते—

तदा कार्यकारणभावद्वयं 'वह्निव्याप्यो धूम आलोकवांश्च पर्वत' इति

कार्यकारणभावद्वयमिति । ननु व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मताज्ञानत्वेन पक्षधर्मताविषयकव्याप्तिप्रकारकज्ञानत्वेन वा हेतुतेत्यत्र विनिगमनाविरहेण हेतुताद्वयं तवापि।

न च व्याप्तिप्रकारकहेतुविशेष्यकनिश्चयत्वेन हेतुविशेष्यकव्याप्तिप्रकारकनिश्चयत्वेन व्याप्तिप्रकारकज्ञानस्य, व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षविशेष्यकनिश्चयत्वेन पक्षविशेष्यकव्याप्यतावच्छेदकप्रकारकनिश्चयत्वेन पक्षधर्मताज्ञानस्य, कारणत्वेन

हमारे (नैयायिकके) मतमें तो समवाय सम्बन्धसे व्याप्तिप्रकारकपक्षधर्मता ज्ञान समवायसम्बन्धसे अनुमिति उत्पन्न करेगा। इसप्रकार अनन्त कार्यकारण भाव नहीं मानना पड़ता ।

यदि मीमांसक समवाय सम्बन्धसे अनुमतिके प्रति व्याप्तिप्रकारकज्ञानत्वेन 'धूम वह्निका व्याप्य' यह व्याप्तिप्रकारक ज्ञान और पक्षधर्मताविषयक निश्चयत्वेन 'धूमवाला पर्वत' यह पक्षधर्मताका ज्ञान पृथक्-पृथक् कारण मानते हैं तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि इसप्रकार मीमांसकोंको दो प्रकारका कार्यकारणभाव मानना पड़ेगा। जैसे **प्रथम** समवाय सम्बन्धसे अनुमतिके प्रति समवाय सन्बन्धसे व्याप्ति प्रकारक ज्ञान कारण है। और **दूसरा** समवाय सम्बन्धसे अनुमितिके प्रति पक्षधर्मताज्ञान कारण है। हमारे (नैयायिकके) मतमें तो समवाय सम्बन्धसे अनुमितिके प्रति समवाय सम्बन्धसे व्याप्तिप्रकरणपक्षधर्मताज्ञान कारण है इसप्रकारका एक ही कार्यकारणभाव मानना पड़ता है ।

यदि विशेषण विशेष्यभाव में इच्छा को ही नियामक मानते हैं तो नैय्यायिकों के मतमें भी 'व्याप्तिप्रकारक पक्षधर्मताज्ञान' अथवा 'पक्षधर्मताविशेष्यक व्याप्तिप्रकारक ज्ञान'को हेतु माननेसे दो हेतु तो मानने ही पड़ते हैं। यह कहा जाय तो ठीक, क्योंकि इसीप्रकार मीमांसकोंके मतमें भी 'व्याप्तिप्रकारक हेतुविशेष्यकनिश्चयरूपमें और हेतु विशेष्यक व्याप्ति प्रकारक निश्चयरूपमें व्याप्तिप्रकारक ज्ञानका। तथा व्याप्यतावच्छेदकप्रकारकपक्षविशेष्यक निश्चयरूपमें और पक्षविशेष्यकव्याप्यतावच्छेदक प्रकारक निश्चयरूपमें पक्षधर्मताज्ञानको कारण माननेसे चार कार्यकारणभाव होंगे। फिर भी नैयायिकों का लाघव तो है ही यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि नैय्यायिकोंके मतमें व्याप्ति प्रकारता, हेतु प्रकारता और पक्षविशेष्यता इन तीनोंके विशेषणविशेष्यभावके व्यत्यासमें गौरव होगा। इसलिए **वह्निव्याप्यो धूम** इत्यादि ।

यदि मीमांसक दो स्वतन्त्र कारण मानते हैं तो 'वह्निव्याप्यधूम और आलोकवाला

ज्ञानादप्यनुमितिश्च स्यात् । इत्थं च यत्र ज्ञानद्वयं, तत्रापि विशिष्टज्ञानं कल्पनीयं, फलमुखगौरवस्यादोषत्वात् ।

मीमांसकस्य कार्यकारणभावचतुष्टयमिति, नैयायिकमते द्वयमेवेति तदपेक्षया लाघवमेवेति वाच्यम् । नैयायिकमते व्याप्तिप्रकारत्वहेतुप्रकारत्वपक्षविशेष्यतानां त्रयाणां विशेष्यविशेषणभावे विनिगमनाविरहेण गुरुभूतकार्यकारणभावत्रयसत्त्वेन मीमांसकापेक्षया गौरवात् । तथा हि—व्याप्तिप्रकारतानिरूपितहेतुप्रकारतानिरूपितपक्षविशेष्यताशालिनिश्चयत्वेन, पक्षविशेष्यतानिरूपितहेतुप्रकारतानिरूपितव्याप्तिप्रकारताशालिनिश्चयत्वेन, व्याप्तिप्रकारतानिरूपिता या पक्षविशेष्यतानिरूपिता हेतुप्रकारता तादृशप्रकारताशालिनिश्चयत्वेन, इति विनिगमनाविरहेण परामर्शकारणत्वमिति कार्यकारणभावत्रयमित्यपरितोषादाह—वह्निव्याप्यो धूम इति (पृ० ९)।

ननु व्याप्यतावच्छेदकानां धूमत्वादीनां कारणतावच्छेदककुक्षौ निवेशेन नायं दोष, इति चेन्न—'वह्निव्याप्यधूमवान्पर्वतः' 'वह्निव्याप्यालोकवान् पर्वतः', 'वह्निव्याप्यवान्पर्वतः' इति ज्ञानत्रयसाधारणकारणत्वानुरोधेन वह्न्यभाववन्निरूपितवृत्तित्वाभावप्रकारतानिरूपितपक्षविशेष्यताशालिनिश्चयत्वेन कारणतायास्तार्किकैः स्वीकारेण हेतुतावच्छेदकभेदेन कारणभेदाभावेन लाघवात् । मीमांसकस्य तु-व्याप्यतावच्छेदकधूमत्वादीनां निवेशे व्याप्यतावच्छेदकभेदेनानेककार्यकारणभावोत्पत्तेरेव दोषत्वादिति ।

ननु ज्ञानद्वयस्थले विशिष्टज्ञानकल्पने कल्पनागौरवं तार्किकाणामित्यत आह—इत्थं चेति ।

फलमुखेति । फलं कार्यकारणभावग्रहस्तन्मुखं तदधीनं गौरवं गौरवज्ञानमित्यर्थः । कार्यकारणभावग्रहोत्तरमुत्पन्नस्य गौरवज्ञानस्य कारणतानिश्चयप्रतिबन्धकत्वासम्भव इति भावः । एतदुक्तं भवति गौरवं नाम कार्यलिङ्गकानुमानातिरिक्तप्रमाणासिद्धतत्तदनुमित्यव्यवहितपूर्ववर्तिस्वाश्रयकत्वम् । स्वं गौरवम् । अनुमित्य-

---

पर्वत' इस ज्ञानसे भी अनुमिति होने लगेगी । क्योंकि 'वह्नि व्याप्य धूम' यह व्याप्तिप्रकारक ज्ञान और 'आलोकवान् पर्वत' यह पक्षधर्मता ज्ञान तो वर्तमान ही है ।

इस प्रकार जब 'वह्नि व्याप्यधूम' और 'धूमवान् पर्वत' ऐसे दो ज्ञान हों तब भी विशिष्ट ज्ञान की कल्पना करनी ही चाहिए । इसीलिए "वह्निव्याप्यधूमवाला यह पर्वत" इस प्रकार का उपनय का प्रयोग होता है ; न कि 'वह्निव्याप्य धूम और धूमवाला यह पर्वत' इस प्रकारका । अतः नैयायिकके मतमें विशिष्ट ज्ञान कल्पनामें गौरव होते हुए भी कार्यकारण भावग्रहरूपी फल के अनुकूल गौरवके रहने से कोई दोष नहीं होता । अर्थात् कार्यकारण भावग्रहके अनन्तर उत्पन्न गौरव ज्ञान कारणता निश्चयका प्रतिबन्धक नहीं हो सकता ।

व्याप्यो नाम व्याप्त्याश्रयः, तत्र व्याप्तिः केत्यत आह—व्याप्तिरिति ।

व्याप्तिः साध्यवदन्यस्मिन्नसम्बन्ध उदाहृतः ॥ ६८ ॥

वह्निमान् धूमादित्यादौ साध्यो वह्निः, साध्यवान् महानसादिः, तदन्यो जलह्रदादिः, तदवृत्तित्वं धूमस्येति लक्षणसमन्वयः । धूमवान् वह्नेरित्यादौ साध्यवदन्यस्मिंस्तप्तायःपिण्डादौ वह्नेः सत्त्वान्नाऽतिव्याप्तिः ।

अव्यवहितपूर्ववर्ती स्वाश्रयः परामर्शः तद्वृत्तित्वं गौरवे । स्वाश्रयकत्वमित्यस्य स्वाश्रयवृत्तित्वमर्थः । विशिष्टज्ञानत्वेन कारणतानिश्चये सति कार्यलिङ्गेन तत्तदनुमित्यव्यवहितपूर्ववर्तिपरामर्शनिश्चयः, ततः तादृशगौरवज्ञानमिति ।

परामर्शनिरूपणान्तरं व्याप्तिनिरूपणे उपोद्घातसङ्गतिं दर्शयति—व्याप्यो नामेति । उपपाद्योपपादकभावः उपोद्घातः । सङ्गतिश्च षोढा-'सप्रसङ्ग उपोद्घातो हेतुतावसरस्तथा । निर्वाहकैककार्यत्वे षोढा सङ्गतिरिष्यते' इत्यभियुक्तोक्तेः । तत्रेति । घटकत्वं सप्तम्यर्थः । एवं च व्याप्यघटकीभूता व्याप्तिः केत्यर्थः । घटकत्वं स्वाविषयकप्रतीत्यविषयत्वम् ।

साध्यवदन्यस्मिन्निति । साध्यवत्पदं लक्षणया साध्यवत्प्रतियोगिकपरं तस्य चाभेदसम्बन्धेन अन्यपदार्थैकदेशे भेदेऽन्वयः, न तु साध्यवत्पदार्थस्य प्रतियोगिता सम्बन्धेन भेदे नामार्थयोरभेदसम्बन्धेनान्वयस्याव्युत्पन्नत्वात् भेदवतश्च सप्तम्यर्थनिरूपितत्वसम्बन्धेन वृत्तित्वरूपे सम्बन्धपदार्थे तस्य च प्रतियोगितासम्बन्धे-

---

'व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः परामर्शः' इस पूर्वकारिकामें व्याप्य पदके द्वारा परामर्शका लक्षण बताकर व्याप्ति निरूपण करनेके पूर्व उपोद्घातरूप संगतिका प्रदर्शन करते हैं व्याप्यो नाम ।

व्याप्तिके आश्रयको व्याप्य कहते हैं । यहाँ व्याप्ति क्या वस्तु है इसके उत्तर में कहते हैं कि व्याप्तिरिति ।

साध्यके अधिकरणसे अन्यमें हेतुके असम्बन्धको व्याप्ति कहते हैं ।

'वह्निमान् धूमात्' इत्यादि स्थलमें साध्य = वह्नि (अग्नि) साध्यवान् = साध्यका अधिकरण (आश्रय) महानस आदि (पर्वत, चत्वर, गोष्ठ और तपाया हुआ लोहा) इनसे अन्य जल और ह्रद आदि (जहाँ अग्नि नहीं रह सकता) । उनमें धूम रूपी हेतुका असम्बन्ध = अवृत्तित्व (न रहना) होने से लक्षण समन्वय हो गया । 'धूमवान् वह्नेः' इस स्थलमें साध्य = धूम, साध्यवान् = महानस, पर्वत, चत्वर और गोष्ठ । तपाये हुए लोहेमें धूम नहीं रहता अतः साध्यवान् से अन्य तपाये लोहमें हेतु वह्निकी अवृत्तिता नहीं है किन्तु उसमें वह्नि रहता है इस अनुचित स्थल में लक्षण न जाने से अतिव्याप्ति नहीं हुई ।

अत्र येन सम्बन्धेन साध्यं, तेनैव सम्बन्धेन साध्यवान् बोध्यः, अन्यथा समवायसम्बन्धेन वह्निमान् वह्नेरवयवः, तदन्यो महानसादिः, तत्र धूमस्य विद्यमानत्वादव्याप्तिप्रसङ्गात् ।

साध्यवदन्यश्च साध्यवत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवान् बोध्यः, तेन यत्किञ्चिद्वह्निमतो महानसादेर्भिन्ने पर्वतादौ धूमस्य सत्त्वेऽपि न क्षतिः ।

नाभावे । एवं च साध्यवत्प्रतियोगिकभेदवान्निरूपितवृत्तित्वाभावो व्याप्तिरिति तदर्थः ।

अत्र येन सम्बन्धेनेति । अयं भावः साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्ना या साध्यनिष्ठाऽवच्छेदकता तन्निरूपितावच्छेद्यतावती या प्रतियोगिता तन्निरूपकभेदवन्निरूपितवृत्तित्वाभावो व्याप्तिरित्यर्थः । एवं च समवायेन इति प्रतीतिसाक्षिकभेदीयप्रतियोगितावच्छेदकता वह्निनिष्ठा सा च न साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्ना या च साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्ना संयोगेन वह्निमान्नेति भेदीया प्रतियोगितावच्छेदकता तन्निरूपकप्रतियोगिकताकभेदश्च न पर्वत इति नाव्याप्तिरिति ।

साध्यवत्त्वावच्छिन्नेति । अयं भावः। साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्ना साध्यता-

---

(प्रत्यक्ष खण्डमें यह बताया जा चुका है कि जो वस्तु किसी स्थान पर रहता है वह किसी सम्बन्धसे रहता है। अनुमिति करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि हम किस स्थान पर किस सम्बन्धसे किस वस्तुकी सिद्धि चाहते हैं।) यहाँ इस व्याप्ति के लक्षणमें भी जिस सम्बन्धसे साध्यको साधना है उसी सम्बन्धसे साध्यवान् भी होना चाहिए। यदि इस प्रकारकी व्यवस्था न की जाय तो 'वह्निमान् धूमात्' इस स्थलमें (महानसमें संयोग सम्बन्ध से वह्नि साध्य है और संयोग सम्बन्धसे ही धूम हेतु है।) समवायसम्बन्धसे वह्निमान् वह्निका अवयव (क्योंकि अवयव में अवयवी समवाय सम्बन्धसे रहता है।) उससे अन्य महानस भी है। उसमें हेतु धूमकी वृत्तिता है अवृत्तिता नहीं है। अतः इस स्थलमें लक्षण समन्वय नहीं होगा। सम्बन्धका नियम कर देनेसे तो 'संयोग-सम्बन्धसे वह्निमान् न' यह भेद महानसमें नहीं रहेगा क्योंकि वहाँ संयोग से वह्नि है किन्तु यह भेद जलह्रद में रहेगा वहाँ धूमरूप हेतु के न रहनेसे अव्याप्ति नहीं होगी।

और साध्यवानसे अन्य भी सकल साध्यके अधिकरण में रहनेवाला जो 'साध्यवत्त्व' रूप धर्मसे अवच्छिन्न प्रतियोगिताक 'साध्यवान्न' इस भेदका आश्रय समझना चाहिए। जिससे 'वह्निमान् धूमात्' इस स्थलमें जिस किसी वह्निके अधिकरण महानस आदिसे भिन्न पर्वत आदिमें धूमके रहने परभी कोई क्षति नहीं है। क्योंकि संयोग सम्बन्धसे साध्यवान्न (वह्निमान् न)। इस प्रकार का भेद पर्वतमें रह सकता नहीं किन्तु उस भेदका आश्रय ह्रद ही होगा उसमें धूमके न रहनेसे लक्षण समन्वय होता है।

येन सम्बन्धेन हेतुता तेनैव सम्बन्धेन साध्यवदन्यवृत्तित्वं बोध्यं, तेन साध्यवदन्यस्मिन् धूमावयवे धूमस्य समवायसम्बन्धेन सत्त्वेपि न क्षतिः।

साध्यवदन्यावृत्तित्वं च साध्यवदन्यवृत्तित्वत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता-

---

वच्छेदकमात्रा[1]वच्छिन्ना या साध्यनिष्ठावच्छेदकता तन्निरूपितावच्छेद्यतावती या प्रतियोगिता तन्निरूपकभेदवन्निरूपितवृत्तित्वाभावो व्याप्तिरित्यर्थः ।

अयं भावः–पर्वतः संयोगेन महानसीयवह्निमान्नेति भेदीयप्रयोगितावच्छेदकता न साध्यतावच्छेदकमात्रावच्छिन्ना इति तादृशो भेदो धर्तुं न शक्यते यश्च तादृशः संयोगेन वह्निमान्नेति प्रतीतिसाक्षिकः स च न पर्वते इति नाव्याप्तिः।

येन सम्बन्धेन हेतुनेति । अयं भावः–साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्ना साध्यतावच्छेदकमात्रावच्छिन्ना या साध्यनिष्ठावच्छेदकता तन्निरूपितावच्छेद्यतावती या प्रतियोगिता तन्निरूपकभेदवन्निरूपिता या हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्ना वृत्तिता तदभावो व्याप्तिरित्यर्थः। एवं च संयोगेन वह्निमान्नेति प्रतीतिसाक्षिभेदवद्धूमावयवनिरूपिता समवायसम्बन्धावच्छिन्ना वृत्तिता यद्यपि धूमे वर्तते तथापि साध्यवद्भिन्ननिरूपितहेतुतावच्छेदकसंयोगसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तिताया अभावो वर्तत एवेति नाव्याप्तिः।

साध्यवदन्यवृत्तित्वत्वावच्छिन्नेति । अयं भावः–साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्ना साध्यतावच्छेदकमात्रावच्छिन्ना या साध्यनिष्ठाऽवच्छेदकता तन्निरूपितावच्छेद्यतावती प्रतियोगिता तन्निरूपितहेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तितात्वनिष्ठावच्छेदकताकप्रतियोगिताकाभावो व्याप्तिः। एवं च धूमवान् वह्नेरित्यत्र धूमवदन्यजलनिरूपितवृत्तित्वं वह्नौ नास्तीति प्रतीतिसाक्षिकाभावीया प्रतियोगिता वृत्तितात्वावच्छिन्ना यथा वर्तते तथा निरूपितत्वसम्बन्धेन जलावच्छिन्नाऽपि वर्तते इति तादृशा-

---

इसी प्रकार जिस सम्बन्धसे हेतुका पक्षमें ज्ञान अनुमितिका कारण हो उसी सम्बन्धसे 'साध्यवदन्यवृत्तित्व' भी समझना चाहिए। जिससे 'वह्निमान् धूमात्' इत्यादि स्थलोंमें संयोग-सम्बन्धसे साध्य वह्निके अधिकरण पर्वतसे अन्य धूमावयवमें समवाय सम्बन्धसे धूमके रहने पर भी कोई क्षति नहीं हुई। क्योंकि पर्वत रूप पक्षमें धूमका संयोग सम्बन्धसे ज्ञान अनुमितिका कारण है समवाय सम्बन्धसे नहीं। इसलिए उसी संयोग सम्बन्ध से धूमावयवमें धूम की वृत्तिता न होनेसे लक्षणका समन्वय होता है।

इसी प्रकार साध्यवदन्यमें अवृत्तिता (वृत्तित्वाभाव) भी साध्यवदन्य वृत्तितात्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक अभाव समझना चाहिए। जिससे 'धूमवान् वह्नेः' इस असद्धेतु स्थलमें साध्य = धूमके अधिकरण = पर्वत आदिसे अन्य = जलह्रद आदि में वह्निरूप हेतुके

---

१. 'वह्निमद् घट एतदुभयन्नास्तीत्युभयाभावमादायाव्याप्तिवारणाय 'मात्र' पदम् ।

काभावः, तेन धूमवान् वह्नेरित्यत्र साध्यवदन्यजलह्रदादिवृत्तित्वाभावेऽपि नाऽतिव्याप्तिः।

अत्र यद्यपि द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्वादित्यादौ विशिष्टसत्तायाः शुद्धसत्तायाश्चैक्यात् साध्यवदन्यस्मिन् गुणादाववृत्तित्वं नाऽस्ति, तथाऽपि हेतुतावच्छेदकरूपेणाऽवृत्तित्वं वाच्यं, हेतुतावच्छेदकं तादृशवृत्तितानवच्छेदकमिति फलितोऽर्थः॥ ६८॥

भावो धर्तुं न शक्यते किन्तु धूमवदन्यनिरूपितवृत्तित्वं नास्तीति एवंस्वरूपः स च न वह्नौ इति नातिव्याप्तिः। वृत्तितात्वनिष्ठावच्छेदकताकप्रतियोगिताकेत्यस्य वृत्तितात्वनिष्ठावच्छेदकताभिन्ना या अवच्छेदकता तदनिरूपिका सती वृत्तितात्वनिष्ठावच्छेदकता निरूपिका या प्रतियोगिता तन्निरूपिकेत्यर्थः इति भावः।

हेतुतावच्छेदकमिति। साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्ना साध्यतावच्छेदकमात्रावच्छिन्ना या साध्यनिष्ठाऽवच्छेदकता तन्निरूपितावच्छेद्यतावती या प्रतियोगिता तन्निरूपकभेदवन्निरूपिता या. हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्ना वृत्तिता तदनवच्छेदकं यद्धेतुतावच्छेदकं तद्वत्त्वं व्याप्तिरिति लक्षणं पर्यवसन्नम्॥ ६८॥

न रहने पर भी अतिव्याप्ति नहीं होती। क्योंकि 'संयोगेन धूमवान्न' इस अभाव की वृत्तिता जैसे जलह्रदमें है वैसे अयोगोलक (तपाये हुए लोह) में भी है। अयोगोलकमें अग्निके रहनेसे वह्निमें साध्यवदन्यावृत्तित्व न ही है किन्तु वृत्तिता ही है। अतः अतिव्याप्ति दोष नहीं है।

यद्यपि इस लक्षण में भी 'घटः. द्रव्यं = द्रव्यत्ववान्, गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्त्वात्' इत्यादि सद्धेतुस्थलमें **'विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते'** इस न्यायके आधार पर द्रव्य, गुण और कर्ममें रहनेवाली सत्ता जाति तथा केवल द्रव्यमें रहनेवाली गुण-कर्मान्यत्वविशिष्ट-सत्ताजातिके एक होनेके कारण साध्य = द्रव्यत्वके अधिकरण = द्रव्य से अन्य = गुण आदिमें गुणकर्मान्यत्व विशिष्ट सत्ताकी अवृत्तिताके न रहनेसे अर्थात् वृत्ति होनेके कारण अव्याप्ति होती है। तथापि इस अव्याप्तिके वारनेके लिए हेतुकी अवृत्तिता (न रहना) हेतुतावच्छेदकरूपसे कहना चाहिए। अर्थात् विशिष्टसत्तात्वावच्छिन्न वृत्तित्वका अभाव कहेंगे। तात्पर्य यह कि हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्ना जो वृत्तिता उस वृत्तिताका अवच्छेदक जो हेतुतावच्छेदकसे विशिष्ट हेतु होना ही व्याप्ति है।

क्योंकि 'द्रव्यत्ववान्, गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्वात्' इस स्थलमें साध्यतावच्छेदकसम्बन्ध = समवायसम्बन्धसे अवच्छिन्न जो साध्य = द्रव्यत्व उसमें वृत्ति जो अवच्छेदकता उससे निरूपिता जो अवच्छेद्यतावती प्रतियोगिता तन्निरूपक जो भेद = 'द्रव्यत्ववान् न' इत्याकारक भेदका अधिकरणगुण निरूपिता जो हेतुतावच्छेदकसम्बन्ध समवायसम्बन्धसे अनवच्छिन्ना

ननु केवलान्वयिनि ज्ञेयत्वादौ साध्ये साध्यवदन्यस्याऽप्रसिद्धत्वादव्याप्तिः, किञ्च सत्तावान् जातेरित्यादौ साध्यवदन्यस्मिन् सामान्यादौ हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेन समवायेन वृत्तेरप्रसिद्धत्वादव्याप्तिश्चात आह—

अथ वा हेतुमन्निष्ठविरहाप्रतियोगिना।
साध्येन हेतोरैकाधिकरण्यं व्याप्तिरुच्यते॥ ६९॥

अथवेत्यादिलक्षणमवतारयितुमाद्यलक्षणे दोषमाह—नन्विति। अयं भावः, इदं ज्ञेयं वाच्यत्वादित्यादौ ज्ञेयत्वरूपसाध्यवद्भेदस्याप्रसिद्ध्याऽव्याप्तिः। एवं सत्तावान् जातेरित्यत्र सत्तावदन्यसामान्यादिनिरूपितहेतुतावच्छेदकसमवायसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वाप्रसिद्ध्या तदभावाप्रसिद्ध्याऽव्याप्तिरिति।

ननु भेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वरूपकेवलान्वयित्वनिश्चयकाले पक्षताघटकसंशयाभावान्नानुमितिः तच्छून्यकाले च भ्रमात्मकव्याप्तिज्ञानादेवानुमितिः सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावरूपपक्षतात्वोपगमेऽपि मीमांसकमते केवलान्वयिसाध्यकानुमित्यनङ्गीकारान्नेदं दूषणमित्यरुचेराह—किञ्चेति।

जो सत्ता, गुणत्व और कर्मत्वनिष्ठा वृत्तिताका अवच्छेदक सत्तात्व, गुणत्वत्व, कर्मत्वत्वादि अनवच्छेदक जो गुणकर्मभेद, सत्तात्व यह दोनों हेतुतावच्छेदक हुए तद्वान् गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्ताके होनेसे अव्याप्ति नहीं हुई॥ ६८॥

अस्तु, इस प्रकार व्याप्ति लक्षणकी केवलान्वयि ज्ञेयत्व आदिके साध्य होने पर साध्यवत्से अन्य अप्रसिद्ध होगा और अव्याप्ति रह जायगी। जिसका अत्यन्ताभाव न हो वह केवलान्वयी है। जैसे 'इदं ज्ञेयं वाच्यत्वात्' इस स्थलमें साध्य ज्ञेयत्व केवलान्वयी है। क्योंकि 'ज्ञेयत्वाभाव' कहीं भी मिलता नहीं अतः ज्ञेयत्वके अत्यन्ताभाव न होनेसे केवलान्वयी साध्य हुआ। यहाँ पूर्वोक्त व्याप्ति लक्षण नहीं घटेगा। क्योंकि साध्य = ज्ञेयत्व साध्यवान् = घट आदि सकलपदार्थ उससे अन्य = कोई वस्तु है ही नहीं अतः अन्यकी अप्रसिद्धि होनेसे लक्षण नहीं गया और अव्याप्ति हो गई। यदि मीमांसकोंके मतमें केवलान्वयि साध्यक अनुमिति नहीं होती। अतः उनके लक्षणमें ऐसा दोष देना उचित नहीं समझते तो, सुनिए, 'सत्तावान् जातेः' अर्थात् घट सत्तावाला है क्योंकि उसमें जाति है' इस अनुमानमें साध्य = सत्ता साध्यवान् = घट उससे अन्य = सामान्य आदिमें हेतुतावच्छेदक समवायसम्बन्धसे हेतु जातिकी वृत्तिता अप्रसिद्ध होनेसे अप्रसिद्धिरूपा अव्याप्ति होगी। इसलिए व्याप्तिका सिद्धान्तलक्षण कहते हैं। अथवा।

हेतुके अधिकरणमें वृत्ति = रहने वाले विरह = अभावका अप्रतियोगी जो साध्य उसके साथ हेतुका एक अधिकरण (स्थान) में रहनेको व्याप्ति कहते हैं॥ ६९॥

अथवेति। हेतुमति निष्ठा—वृत्तिर्यस्य स तथा विरहः-अभावः, तथा च हेत्वधिकरणवृत्तिर्योऽभावस्तदप्रतियोगिना साध्येन सह हेतो सामानाधिकरण्यं व्याप्तिरुच्यते।

अत्र यद्यपि वह्निमान् धूमादित्यादौ हेत्वधिकरणपर्वतादिवृत्त्यभावप्रतियोगित्वं तत्तद्वह्न्यादेरस्तीत्यव्याप्तिः।

हेतुमदिति हेतुनिष्ठ हेत्वधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः। पर्वतो वह्निमान्धूमादित्यत्र हेतुर्धूमस्तदधिकरणं पर्वतस्तन्निष्ठोऽत्यन्ताभावः घटो नास्तीति प्रतीतिसाक्षिकस्तत्प्रतियोगी घटः, अप्रतियोगी वह्निः स एव साध्यः तेन सामानाधिकरण्यं धूमे इति लक्षणसमन्वयः।

अत्रेति। वह्निमान् धूमादित्यत्र हेतुर्धूमस्तदधिकरणं पर्वतस्तन्निष्ठोऽत्यन्ताभावः महानसीयवह्निर्नास्तीति प्रतीतिसाक्षिकः एवं हेत्वधिकरणे महानसे पर्वतीयवह्निर्नास्तीति प्रतीतिसाक्षिकः तत्प्रतियोगी चालनीन्यायेन महानसीयवह्न्यादिरप्रतियोगी न कोऽपि वह्निरित्यव्याप्तिः।

तत्तद्वह्न्यादेरपीति। वह्निमान् धूमादित्यत्र हेत्वधिकरणे पर्वते पर्वतीयवह्निघटोभयं नास्तीति प्रतीतिसाक्षिकपर्वतीयवह्निघटोभयाभावस्य सत्त्वात् तत्प्रतियोगी पर्वतीयवह्निरिति समानाधिकरणवह्निधूमयोरेव व्याप्तिरित्युक्तावपि न निस्तार इति भावः। इदमुपलक्षणम्। विशिष्टाभावमादायाव्याप्तिरित्यपि बोध्यम्।

हेतुके अधिकरणमें निष्ठा = वृत्ति जिसका इस प्रकारका जो अभाव। इस प्रकार हेतुके अधिकरणमें रहनेवाला जो अभाव उसका अप्रतियोगी जो साध्य उसके साथ हेतुके समानाधिकरण = एक अधिकरणमें रहनेको व्याप्ति कहते हैं। (जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमात,' इस स्थलमें हेतु = धूमके अधिकरण पर्वतमें रहनेवाला जो घटाभाव उसका प्रतियोगी घट अप्रतियोगी साध्य वह्निका धूमके साथ पर्वतरूप एक स्थान पर रहनेके कारण व्याप्ति लक्षणका समन्वय हुआ।) और 'धूमवान् वह्नेः' इस स्थलमें हेतु = वह्निके अधिकरण अयोगोलगमें वृत्ति जो धूमाभाव उसका प्रतियोगी धूम वह ही साध्य है। साध्य इस अभावका अप्रतियोगी नहीं हुआ। अतः अतिव्याप्ति भी नहीं हुई।

यद्यपि इस प्रकारके व्याप्ति लक्षण मानने पर 'वह्निमान् धूमात्' आदि स्थलोंमें अव्याप्ति होगी। जैसे हेतु = वह्निके अधिकरण पर्वतमें वर्तमान जो 'महानसीय वह्न्याभाव' इसी प्रकार हेत्वधिकरण महानसमें 'पर्वतीय वह्न्यभाव' उसका प्रतियोगी चालनीन्यायसे 'महानसीयवह्नि' आदि होंगे अप्रतियोगी कोई वह्नि होगा नहीं अतः अव्याप्ति हो सकती है। यदि इस अव्याप्तिके वारणके लिए **'तद्हेत्वधिकरणवृत्त्यभावाप्रतियोगि तत् साध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः'** इसप्रकार विशेष व्याप्ति स्वीकार की जाय और हेतु = पर्वतीय-

न च समानाधिकरणवह्निधूमयोरेव व्याप्तिरिति वाच्यम्। तत्तद्वह्न्यादेरप्युभयाभावसत्त्वात्, एकसत्त्वेऽपि द्वयं नाऽस्तीति प्रतीतेः। गुणवान्

न च वैशिष्ट्यव्यासज्यवृत्तिधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वेनाभावविशेषणान्नायं दोष इत्यरुचेराह—गुणवानिति। अत्र हेतोरेकव्यक्तितया समानाधिकरणयोरेव व्याप्तिरित्युक्तावपि न निस्तारः। तथा हि गुणवान् द्रव्यत्वादित्यत्र द्रव्यत्वाधिकरणे जले गन्धो नास्ति हेत्वधिकरणे पृथिव्यां स्नेहो नास्ति तादृशे वायौ रूपं नास्तीति चालनीन्यायेन तत्तद्गुणानामभावसत्त्वात् प्रतियोगित्वमेव तत्तत्साध्ये इत्यव्याप्त्या सामानाधिकरण्योरेव व्याप्तिरित्यभ्युपगन्तुमशक्यमिति भावः।

धूमका अधिकरण पर्वत वृत्ति जो घटाभाव या महानसीयवह्न्यभावादि उनका प्रतियोगी घट या महानसीयवह्नि आदि उनका अप्रतियोगी पर्वतीयवह्नि उसके साथ पर्वतीय धूमका पर्वतमें एकाधिकरण होनेसे लक्षण समन्वय होता है यह कहा जाय, तब भी **'एकके होने पर भी दो नहीं हैं'** इस प्रतीतिके आधार पर 'वह्निमान् धूमात्' इसी स्थलमें उन-उन वह्नियों का उभयाभाव रहनेसे अव्याप्ति होगी। जैसे हेतु = पर्वतीयधूमके अधिकरणी पर्वतमें वर्तमान जो 'पर्वतीय वह्निजलोभयाभाव' उसका प्रतियोगी वह्नि होगा अप्रतियोग नहीं। अतः अव्याप्ति होती है।

यदि हेत्वाधिकरणवृत्ति वैशिष्ट्यव्यासज्यवृत्तिधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावाऽप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः। इस प्रकार लक्षण हो और हेतु = पर्वतीयधूमके अधिकरण पर्वतमें वर्तमान जो वैशिष्ट्य और व्यासज्यवृत्ति=उभयवृत्ति धर्मसे अनवच्छिन्न प्रतियोगिताके अभाव वह घटाभाव ही हो सकता है वह्निघटोभयाभाव नहीं। क्योंकि यह अभाव उभयधर्म उभयत्वसे अवच्छिन्न ही है। अतः अप्रतियोगी साध्य वह्निके साथ सामानाधिकरण्य होनेसे अव्याप्ति नहीं है यह कहा जाय तब भी 'गुणवान् द्रव्यत्वात्' इस स्थलमें अव्याप्ति होगी। जैसे हेतु=द्रव्यत्वके अधिकरण जलमें गन्धका अभाव, पृथिवीमें स्नेहका अभाव, वायुमें रूपका अभाव इस प्रकार चालनी न्यायसे उन-उन गुणोंके अभाव रहनेके कारण प्रतियोगी गुण हुआ अप्रतियोगी नहीं। अतः अव्याप्ति होती है। असम्भव नहीं हो सकता। क्योंकि 'तद्रूपवान् तद्रसात्' इस स्थलमें लक्षण समन्वय हो जाता है। जैसे हेतु तद्रसके अधिकरण तद्द्रव्यमें 'तद्रूप' नहीं है यह अभाव नहीं धर सकते किन्तु घटाभाव उसका प्रतियोगी घट अप्रतियोगी साध्य तद्रूप उसके साथ सामानाधिकरण्य तद्रसमें है, अतः लक्षण समन्वय होनेके कारण असम्भव दोष नहीं कहा गया।

तथापि 'गुणवान् द्रव्यत्वात्' की अव्याप्तिको वारनेके लिए **'हेत्वधिकरण निष्ठात्य-**

द्रव्यत्वादावव्याप्तिश्च। तथाऽपि प्रतियोगितानवच्छेदकं यत् साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसामानाधिकरण्यं व्याप्तिरिति वाच्यम्।

ननु रूपत्वव्याप्यजातिमन्वान् पृथिवीत्वादित्यादौ साध्यतावच्छेदिका

तद्रूपवान् (१)तद्रसादित्यत्र लक्षणसमन्वयसम्भवेनासम्भवाभावादव्याप्त्यभिधानम्।

तथापीति। एवं च हेत्वधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावीयप्रतियोगितानवच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिरिति लक्षणं निष्पन्नम्, तथा च गुणवान् द्रव्यत्वादित्यत्र द्रव्यत्वाधिकरणे गुणो नास्तीत्यभावो धर्तुं न शक्यते किन्तु रूपं नास्ति रसो नास्तीत्येवमादिरेव तदीया प्रतियोगिता रूपरसादिनिष्ठा प्रतियोगितावच्छेदकं रूपत्वादिकमनवच्छेदकं गुणत्वं तदेव साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नेन गुणेन द्रव्यत्वरूपहेतोः सामानाधिकरण्यसत्त्वात्समन्वयः।

नन्विति। रूपत्वव्याप्यजातिमत्त्वान् पृथिवीत्वादित्यत्र पृथिवीत्वाधिकरणे पीतघटे

न्ताभावीयप्रतियोगितानवच्छेदकं यत्, साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः' इस प्रकार व्याप्तिका लक्षण करनेसे अव्याप्ति नहीं होगा। जैसे 'गुणवान द्रव्यत्वात्' इस स्थलमें हेतु=द्रव्यत्वके अधिकरण द्रव्यमें 'गुण नहीं है' यह नहीं कहा जा सकता किन्तु रूप नहीं है, रस नहीं है, यह कहा जा सकता है इन अभावों की प्रतियोगिता रूपमें, रसमें रहेगी, प्रतियोगितावच्छेदक रूपत्व, रसत्व आदि होंगे और अनवच्छेक गुणत्व है वह ही साध्यतावच्छेदक=साध्यवृत्ति धर्म है उससे अवच्छिन्न गुणके साथ द्रव्यस्वरूप हेतुका सामानाधिकरण्य होनेसे लक्षण समन्वय होता है।

यदि 'रूपत्वव्याप्यजतिमत्त्वान् पृथिवीत्वात्' इस स्थलमें हेतु=पृथिवीत्वके अधिकरण पीतघटमें 'नील नहीं है' रक्तघट में "पीत नहीं है" इस प्रकार चालनी न्यायसे सब रूपोंका अभाव होनेके कारण सब रूपत्वव्याप्य नीलत्वादि जातियाँ प्रतियोगितावच्छेदिका ही हैं और वे ही साध्यतावच्छेदिका भी हैं प्रतियोगितानवच्छेदिका न हो सकीं। अतः अव्याप्ति दोष लक्षणमें आया वह कहा जाय तो ठीक नहीं। क्योंकि स्वाश्रयसमवायसम्बन्धरूप परम्परा सम्बन्धसे रूपत्वव्याप्यजातित्व ही साध्यतावच्छेदक होता है। जैसे स्व= रूपत्वव्याप्यजातित्व उसका आश्रय रूपत्वव्याप्यनीलत्वादि जातियाँ उनका समवाय रूपमें। इस प्रकार हेतु पृथिवीत्वके अधिकरणमें स्वाश्रयसमवाय सम्बन्धसे 'रूपत्वव्याप्य

---

(१) तद्रूपवानिति। हेत्वधिकरणे तद्द्रव्ये तद्रूपं नास्तीत्यभावोद्धर्तुं न शक्यते किन्तु घटाभावस्तत्प्रतियोगी घटः अप्रतियोगी साध्यं तद्रूपं तेन समानाधिकरण्य तद्रसे इति लक्षणसमन्वयादसम्भवो नोक्तः।

रूपत्वव्याप्यजातयः, तासां च शुक्लत्वादिस्वरूपाणां नीलघटादिवृत्त्यभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वमस्तीत्यव्याप्तिरिति चेन्न—

तत्र परम्परया रूपत्वव्याप्यजातित्वस्यैव साध्यतावच्छेदकत्वात्, न हि तादृशधर्मावच्छिन्नाभावः क्वाऽपि पृथिव्यामस्ति, रूपत्वव्याप्यजातिमान्नास्तीति बुद्ध्यापत्तेः।

एवं दण्ड्यादौ साध्ये परम्परासम्बद्धं दण्डत्वादिकमेव साध्यतावच्छेदकं तच्च प्रतियोगितानवच्छेदकमिति।

नीलो नास्ति, रक्तघटे पीतो नास्तीत्येवं चालनीन्यायेन सर्वेषामपि रूपाणामभावसत्त्वात्सर्वा अपि रूपत्वव्याप्या नीलत्वादिजातयः प्रतियोगितावच्छेदिकाः सम्पन्नास्ता एव च साध्यतावच्छेदिकाः इति हेत्वधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावीयप्रतियोगितानवच्छेदिका न सम्पन्ना इत्यव्याप्तिः।

परम्परयेति। स्वाश्रयसमवायसम्बन्धेनेत्यर्थः। स्वं रूपत्वव्याप्यजातित्वं तदाश्रयः रूपत्वव्याप्यनीलत्वादिजातिः तत्समवायो रूपे एवं च पृथिवीत्वाधिकरणे स्वाश्रयसमवायसम्बन्धेन रूपत्वव्याप्यजातित्ववान्नास्तीत्यभावो धर्तुं न शक्यते पृथिव्त्वाधिकरणे स्वाश्रयसमवायसम्बन्धेन रूपत्वव्याप्यजातित्ववतो नीलरूपादेः प्रतियोगिनः सत्त्वादिति प्रतियोगितावच्छेदकं पूर्वोक्तरीत्या नीलत्वादिकमनवच्छेदकं रूपत्वव्याप्यजातित्वं तदेव साध्यतावच्छेदकमित्यदोषः।

एवमिति। मठो दण्डिमान् दण्डिसंयोगादित्यत्र दण्डिसंयोगाधिकरणमनुयोगितासम्बन्धेन मठः तन्निष्ठोऽभावः तद्दण्डी नास्तीति तदभावीया प्रतियोगिता तत्तद्दण्डि-

---

जातित्ववान्नास्ति' यह अभाव कहीं पृथ्वीमें मिल नहीं सकता। यदि हो तो रूपत्वव्याप्यजातिमान् नहीं है यह बुद्धि उत्पन्न होने लगेगी। किन्तु हेतुके अधिकरण नील घटमें 'शुक्लका अभाव' मिलेगा इन अभावोंकी प्रतियोगितावच्छेदिका समवाय सम्बन्धसे नीलत्व आदि जातियाँ होगी। प्रतियोगितानवच्छेदक तो स्वाश्रयसमवाय सम्बन्धसे रूपत्वव्याप्यजातित्व होगा वह ही साध्यतावच्छेदक होनेसे हेतुके साथ सामानाधिकरण्य होने से लक्षणसमन्वय हो गया।

इसी प्रकार 'मठः दण्डिमान् दण्डिसंयोगात्' इस स्थलमें जहाँ दण्डी साध्य है वहाँ भी परम्परा सम्बन्धसे दण्डत्व आदि ही साध्यतावच्छेदक और प्रतियोगिता के अनवच्छेदक होते हैं। जैसे हेतु=दण्डिसयोगका अनुयोगिता सम्बन्धसे अधिकरण मठमें वर्तमान 'तद्दण्डी नास्ति' यह अभाव उसकी प्रतियोगिता तत्तद् दण्डीमें प्रतियोगितावच्छेदक दण्ड वह हो साध्यतावच्छेदक भी है इस प्रकार अव्याप्ति होती थी। किन्तु स्वाश्रयाश्रयत्वरूप परम्परा सम्बन्ध से दण्डत्व ही साध्यतावच्छेदक होगा। जैसे स्व-दण्डत्व उसका

साध्यादिभेदेन व्याप्तेर्भेदात् तादृशस्थले साध्यतावच्छेदकतावच्छेदकं प्रतियोगितावच्छेदकतानवच्छेदकमित्येव लक्षणघटकमित्यपि वदन्ति ।

हेत्वधिकरणं हेतुतावच्छेदकविशिष्टाधिकरणं वाच्यम्, तेन द्रव्यं

निष्ठा प्रतियोगितावच्छेदको दण्डः स एव साध्यतावच्छेदक इत्यव्याप्तिः । स्वाश्रयाश्रयत्वरूपपरम्परासम्बन्धेन दण्डत्वस्य साध्यतावच्छेदकत्वाङ्गीकारे तु—दण्डिसंयोगाधिकरणे स्वाश्रयाश्रयत्वसम्बन्धेन दण्डत्ववान्नास्तीति वक्तुं न शक्यते अपि तु घटो नास्तीत्येवमादिरिति नाव्याप्तिः ।

सा॰ मा॰ भेदेनेति । तादृशस्थले लक्षणान्तरमेव कर्तव्यम् । हेत्वधिकरणनिष्ठात्यन्ताभावीयप्रतियोगितावच्छेदकतानवच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकतावच्छेदकं तदाश्रयावच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिरिति लक्षणमास्थेयमित्यर्थः ।

ननु द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्वादित्यादौ 'विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते' इति न्यायाच्छुद्धसत्ताधिकरणं गुणस्तन्निष्ठाभावः 'द्रव्यत्वं नास्तीति' प्रतीतिसाक्षिकस्तदीयप्रतियोगितावच्छेदकं द्रव्यत्वत्वं तदेव साध्यतावच्छेदकं प्रतियोगितानवच्छेदकं न जातमित्यव्याप्तिरत आह—हेत्वधिकरणमिति । न च हेतुतावच्छेदकविशिष्टसत्तात्वविशिष्टसत्त्वस्य गुणे सत्त्वादेवं विवक्षायामप्यव्याप्तेरप्रतीकार इति वाच्यम्—हेतुतावच्छेदकावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपिताधिकरणत्वविशिष्टस्य हेत्वधिकरणपदेन

आश्रय दण्ड उसका आश्रय पुरुष दण्डी । इस प्रकार हेतु=दण्डिसंयोगके अधिकरणमें स्वाश्रयाश्रयत्वरूप परम्परा सम्बन्ध से 'दण्डत्ववान् नास्ति' यह अभाव नहीं कह सकते । किन्तु घट का अभाव ही कहना पड़ेगा फिर प्रतियोगितानवच्छेदक साध्यतावच्छेदक दण्डत्व के साथ हेतु का सामानाधिकरण्य होनेसे अव्याप्ति नहीं होती ।

कुछ लोग परम्परा सम्बन्धको न मानकर उक्त दोनों स्थलों में अव्याप्तिका परिहार करते हैं । उनका मत है कि साध्य और साधनके भेदसे व्याप्ति भी भिन्न-भिन्न बनती हैं । इसलिए इस प्रकार के स्थल के लिए लक्षणान्तर ही बना लेना चाहिए । जैसे—'हेत्वधिकरणवृत्यभावीयप्रतियोगितावच्छेदकतानवच्छेदकं यत् साध्यतावच्छेदकतावच्छेदकं तदाश्रयावच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः' ।

'घटः, रूपत्वव्याप्यजातिमत्त्वान्, पृथिवीत्वात्' इस स्थलमें हेतु = पृथिवीत्व के अधिकरण घट में वर्तमान जो शुक्लरूपादिका अभाव उसकी प्रतियोगिता शुक्ल आदिमें प्रतियोगितावच्छेदिका शुक्लत्व आदि रूपत्वव्याप्यजातियाँ और प्रतियोगितावच्छेदकतावच्छेदक शुक्लत्वत्व आदि प्रतियोगितावच्छेदकतानवच्छेदक रूपत्वव्याप्यजातित्व यह ही साध्यतावच्छेदकताका अवच्छेदक है इसलिए अव्याप्ति नहीं हुई । इसी प्रकार 'मठः दण्डिमान् दण्डिसंयोगात्,' इस स्थल में दण्डिसंयोगरूपहेतुके अधिकरण मठमें वर्तमान 'तद्दण्डी नास्ति'

गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्त्वादित्यादौ शुद्धसत्ताधिकरणगुणादिनिष्ठाभावप्रतियोगित्वेऽपि द्रव्यत्वस्य नाऽव्याप्तिः ।

विवक्षणात्, एवं च विशिष्टसत्तात्वावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपिताधिकरणत्वं द्रव्य एव न गुणे द्रव्यं विशिष्टसत्तावदिति प्रतीतेरित्यदोष इति भावः ।

नन्वेवमपि वह्निमान् धूमादित्यत्र समवायेन धूमाधिकरणं धूमावयवस्तन्निष्ठोऽभावः वह्निर्नास्तीतिप्रतीतिसाक्षिकः तत्प्रतियोगितावच्छेदकं वह्नित्वमित्यव्याप्तिरत

इस अभावकी प्रतियोगिता तद्दण्डी में उसका अवच्छेदक तद्दण्ड उसका अवच्छेदक तद्व्यक्तित्व उस प्रतियोगितावच्छेदकताका अनवच्छेदक दण्डत्व यह ही साध्यतावच्छेदक दण्डका अवच्छेदक दण्डत्वसे अवच्छिन्नदण्ड उससे अवछिन्न दण्डी के साथ हेतुका सामानाधिकरण्य बननेसे लक्षण समन्वय हुआ ।

अस्तु, परम्परा सम्बन्ध से उक्त स्थलों में दोष वारने पर भी 'द्रव्यं गुणकर्मान्यत्वविशिष्ट सत्वात्,' इस स्थल में 'विशिष्ट शुद्धसे अलग नहीं है' इस न्यायके द्वारा दोनों सत्ताओं के एक होनेसे शुद्ध सत्ताके अधिकरण गुण में वर्तमान जो अभाव 'द्रव्यत्वं नास्ति' इसकी प्रतियोगिता द्रव्यत्वमें प्रतियोगितावच्छेदक द्रव्यत्वत्व वह ही साध्यतावच्छेदक होनेसे प्रतियोगितानवच्छेदक न हुआ । अतः अव्याप्ति होगी । उसके वारने के लिए पूर्वोक्त लक्षण में 'हेत्वधिकरण' पदका 'हेतुतावच्छेदकविशिष्टाधिकरण' अर्थ करना चाहिए । इसका तात्पर्य यह है कि 'हेतुतावच्छेदकावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपिताधिकरणत्वविशिष्ट' । इस प्रकार शुद्ध सत्ता और विशिष्ट सत्ताके एक होने पर भी सत्तात्वावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपित अधिकरणता द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में है ।

किन्तु गुणकर्मान्यत्वविशिष्टसत्तात्वावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपिताधिकरणता द्रव्यमें ही रहती है । गुणमें नहीं । जिससे अव्याप्ति नहीं होगी ।

इतना करने पर भी 'वह्निमान धूमात्,' इस स्थलमें समवाय सम्बन्ध से धूम हेतु के अधिकरण धूमावयवमें वर्तमान जो 'वह्न्यभाव' उसका प्रतियोगितावच्छेदक ही वह्नित्व होगा जिससे अव्याप्ति होती है । इसलिए 'हेत्वधिकरण' भी हेतुतावच्छेदक सम्बन्धसे मानना चाहिए । इस प्रकार जिस सम्बन्धसे पक्षमें हेतु रहता है वही सम्बन्ध हेतुतावच्छेदक होता है । उसी सम्बन्धसे हेतुका अधिकरण भी माना जायगा । 'वह्निमान् धूमात्, इस स्थलमें धूम हेतु पर्वतमें संयोग सम्बन्धसे है । अतः हेतुतावच्छेदकसंयोग सम्बन्ध है समवाय नहीं । फिर हेतुतावच्छेदक संयोग सम्बन्ध धूमरूप हेतुके अधिकरण पर्वतमें वर्तमान घटाभावके प्रतियोगितानवच्छेदक वह्नित्वरूप साध्यतावच्छेदकसे अवच्छिन्न (विशिष्ट) वह्निके साथ धूमरूप हेतुका सामानाधिकरण्य होनेसे लक्षण समन्वय होता है ।

एवं हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेन हेत्वधिकरणं बोध्यम्, तेन समवायेन धूमाधिकरणतदवयवनिष्ठाभावप्रतियोगित्वेऽपि वह्नेर्नाऽव्याप्तिः।

अभावश्च प्रतियोगिव्यधिकरणो बोध्यः। तेन कपिसंयोग्येतद्वृक्षत्वादित्यादावेतद्वृक्षवृत्तिकपिसंयोगाभावप्रतियोगित्वेऽपि कपिसंयोगस्य नाऽव्याप्तिः।

माह—हेतुतावच्छेदकसम्बन्धेनेति। तथा च हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नहेतुतावच्छेदकावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपिताधिकरणत्वविशिष्टनिष्ठाभावीयप्रतियोगितानवच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः, इति लक्षणस्वरूपं निष्पन्नम्।

ननु, कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वादित्यत्र एतद्वृक्षत्वाधिकरणमेतद्वृक्षः तन्निष्ठोऽभावः मूलावच्छेदेन कपिसंयोगो नास्तीति प्रतीतिसाक्षिकः तत्प्रतियोगितावच्छेदकं कपिसंयोगत्वमित्यव्याप्तिरत आह—अभावश्चेति तथा च एतद्वृक्षे शाखावच्छेदेन कपिसंयोगस्य सत्त्वात् प्रतियोगिसमानाधिकरण एव कपिसंयोगाभावः न प्रतियोगिव्यधिकरणः किन्तु घटाभावादिरेव तथा तत्प्रतियोगितावच्छेदकं घटत्वमनवच्छेदकं कपिसंयोगत्व तदवच्छिन्नसामानाधिकरण्यमेतद्वृक्षत्वे इत्यदोषः।

इस प्रकार—हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नहेतुतावच्छेदकावच्छिन्ननिरूपकता निरूपिताधिकरणत्वविशिष्टवृत्यभावीयप्रतियोगितानवच्छेदकं यत् साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः। लक्षण बना।

जैसे—सयोगसम्बन्धसे धूमत्वावच्छिन्न निरूपकता निरूपित अधिकरणता से विशिष्ट पर्वतमें वर्तमान जो घटाभाव उसकी प्रतियोगिताका अवच्छेदक जो वह्नित्व उससे अवच्छिन्न जो वह्निरूप साध्य उसके साथ हेतुका एकाधिकरणमें रहनेसे व्याप्तिलक्षणका समन्वय होता है।

यदि 'वृक्षः कपिसंयोगवान् एतद्वृक्षत्वात्' इस स्थलमें एतद्वृक्षत्वरूप हेतुका अधिकरण एतद्वृक्षमें ही शाखामें कपि रहने पर भी मूलमें 'कपिसंयोगाभाव' के वर्तमान रहनेसे प्रतियोगितावच्छेदक कपिसंयोगत्व होगा जो साध्यतावच्छेदक भी है अतः अव्याप्ति होगी। क्योंकि साध्यतावच्छेदक को प्रतियोगिताका अनवच्छेदक होना चाहिए। यह कहा जाय तो ठीक नहीं। क्योंकि लक्षणमें 'अभाव' भी प्रतियोगिव्यधिकरण (अन्य अधिकरण में रहनेवाला) माना जायगा। जिससे उक्त अव्याप्ति नहीं होगी। जैसे एतद्वृक्षत्वरूप हेतुके अधिकरण एतद्वृक्षमें ही शाखाभागमें कपिके रहनेसे मूलमें अभाव होने पर कपिरूपी प्रतियोगीके अधिकरणमें ही रहनेसे कपिसंयोगाभाव नहीं लिया जा सकता किन्तु घटाभाव उसका प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक कपिसंयोगत्वसे

न च प्रतियोगिव्यधिकरणत्वं यदि प्रतियोग्यनधिकरणवृत्तित्वं, तदा-तथैवाऽव्याप्तिः प्रतियोगिनः कपिसंयोगस्याऽनधिकरणे गुणादौ वर्तमानो योऽभावस्तस्यैव वृक्षे मूलावच्छेदेन सत्त्वात्। यदि तु प्रतियोग्यधिकरणावृत्तित्वं, तदा संयोगी सत्त्वादित्यादावतिव्याप्तिः—सत्ताधिकरणे गुणादौ यः संयोगाभावस्तस्य प्रतियोग्यधिकरणद्रव्यवृत्तित्वादिति वाच्यम्।

ननु प्रतियोगिव्यधिकरण इत्यस्य प्रतियोग्यनधिकरणवृत्तीत्यर्थाङ्गीकारे कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वादित्यत्र प्रतियोगिनः कपिसंयोगस्य अनधिकरणं गुणादिकं तन्निष्ठोऽभावः कपिसंयोगाभावः प्रतियोगिव्यधिकरणः स एव वृक्षे अधिकरणभेदेनाभावभेदानभ्युपगमादिति तत्प्रतियोगितावच्छेदकं कपिसंयोगत्वमित्यव्याप्तिः। न च प्रतियोगिव्यधिकरणेत्यस्य प्रतियोग्यधिकरणावृत्तीत्यर्थः, तथा च वृक्षवृत्तिकपिसंयोगाभावस्य प्रतियोग्यधिकरणवृत्तितया प्रतियोग्यधिकरणवृत्तिभिन्नत्वाभावान्नाव्याप्तिरिति वाच्यम्, एवमपि संयोगी सत्त्वादित्यत्र सत्त्वाधिकरणे गुणादौ वर्तमानो यः संयोगाभावः तस्य प्रतियोग्यधिकरणद्रव्यवृत्तित्वात्प्रतियोग्यधिकरणावृत्तित्वं नास्ति किन्तूदासीनस्यैव घटाभावादेः तत्प्रतियोगितावच्छेदकं घटत्वादिक-

---

अवच्छिन्न कपिसंयोगके साथ एतद्वृक्षत्वरूप हेतुका सामानाधिकरण्य होनेसे लक्षण समन्वय होता है।

इस पर यह शंका होती है कि 'प्रतियोगिव्यधिकरण' का अर्थ क्या है? यदि **'प्रतियोगीका जो अधिकरण न हो उसमें रहनेवाला अभाव'** यह अर्थ किया जाय तो 'कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' इसी स्थलमें अव्याप्ति होगी। **जैसे**—हेतु = एतद्वृक्षत्वके अधिकरण एतद्वृक्षमें वर्तमान जो मूलदेशमें 'कपिसंयोगाभाव' वह अपने प्रतियोगी कपिसंयोगके अनधिकरण गुणमें वर्तमान होनेके कारण 'प्रयोग्यनधिकरणवृत्ति' अभाव हो गया। जिससे पुनः अव्याप्ति होगी। क्योंकि अधिकरणके (स्थानके) भेदसे अभावमें भेद होता है यह सिद्धान्त न मानकर यह दोष बताया गया है।

यदि **'प्रतियोगी के अधिकरणमें न रहनेवाला अभाव'** ऐसा अर्थ किया जाय तब तो 'कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' में दोष नहीं होगा। क्योंकि 'कपिसंयोगाभावका' प्रतियोगी 'कपिसंयोग' उसके अधिकरण वृक्षमें ही शाखादेशमें कपिसंयोगाभाव है। अतः घटाभाव ही इस प्रकारका अभाव मिलेगा जिससे अव्याप्ति नहीं होगी। किन्तु द्रव्यं संयोगी (संयोगवत) सत्त्वात्' इस स्थलमें अतिव्याप्ति होगी। यहाँ नवद्रव्य पक्ष हैं, समवायसम्बन्धसे संयोग साध्य है. और समवायसम्बन्धसे सत्ता हेतु है। 'संयोग' गुण है और 'गुणमें गुण नहीं रहता' इस नियमसे 'संयोगरूपीगुण' गुणमें रहेगा नहीं और सत्ता तो द्रव्य,

हेत्वधिकरणे प्रतियोग्यनधिकरणवृत्तित्वविशिष्टस्य विवक्षितत्वात्, स्वप्रतियोग्यनधिकरणीभूतहेत्वधिकरणवृत्त्यभाव इति निष्कर्षः ।

मनवच्छेदकं संयोगत्वमित्यतिव्याप्तेर्दुर्वारत्वादित्यत आह—हेत्वधिकरणे इति । हेत्वधिकरणावच्छेदेन प्रतियोग्यनधिकरणवृत्तेरित्यर्थः, तथा च कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वादित्यत्र कपिसंयोगाभावो न हेत्वधिकरणावच्छेदेन प्रतियोग्यनधिकरणवृत्तिः गुणस्य हेत्वधिकरणत्वाभावात् । संयोगी सत्त्वादित्यत्र च संयोगाभावस्तथा गुणस्य हेत्वधिकरणत्वादिति नाव्याप्त्यतिव्याप्ती इति भावः ।

नन्वेवं हेतुसमानाधिकरणेत्यस्य वैयर्थ्यं सत्तावान् जातेरित्यत्र सत्ताभावस्य हेत्वधिकरणावच्छेदेन प्रतियोगिवैयधिकरण्याभावादव्याप्त्यभावादित्यत आह—स्वप्रतियोगीति स्वपदं लक्षणघटकाभावपरम् ।

निष्कर्ष इति । प्रतियोग्यसमानाधिकरणाभावस्येत्यर्थः । तथा च हेतुसमानाधिकरणेति विशेषणादेव हेत्वधिकरणे इत्याद्यर्थलाभ इति न हेतुसमानाधिकरणेत्यस्य वैयर्थ्यमिति भावः ।

गुण और कर्ममें रहती है । अतः हेतु व्यभिचारी हुआ जिससे यह स्थल व्यभिचारी माना जाता है । व्यभिचारी स्थलमें व्याप्तिका लक्षण नहीं जाना चाहिए । किन्तु यहाँ लक्षण जानेसे अतिव्याप्ति होगी । जैसे हेतु = सत्ताके अधिकरण गुणमें वर्तमान जो संयोगाभाव उसके प्रतियोगी = संयोगके अधिकरण द्रव्यमें वर्तमान होनेके कारण यह अभाव 'प्रतियोगी-व्यधिकरण' नहीं हुआ किन्तु कोई घटाभाव ही होगा जिससे प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक संयोगत्व होगा लक्षणके समन्वित होनेसे अतिव्याप्ति होती है ।

अतः 'प्रतियोगिव्याधिकरण' का अर्थ यह है कि— **जो प्रतियोगीका अधिकरण न हो और हेतुका अधिकरण हो उसमें वर्तमान् जो अभाव'**। 'कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' इस स्थलमें अव्याप्ति नहीं होगी । जैसे हेतु = एतद्वृक्षत्वके अधिकरण एतद्-वृक्षमें वर्तमान जो मूलदेशमें 'कपिसंयोगाभाव' वह 'प्रतियोगिव्यधिकरण नहीं है । क्योंकि इस अभावका प्रतियोगी-कपिसंयोगका जो अधिकरण नहीं है गुण वह एतद्वृक्षत्वरूप हेतुका भी अधिकरण नहीं है । अतः यह अभाव नहीं किन्तु घटाभाव ही घटरूपी प्रतियोगीका जो अधिकरण नहीं है एतद्वृक्ष वह ही हेतुका अधिकरण होनेसे लिया जायगा जिससे लक्षण समन्वय होगा । इसी प्रकार 'संयोगी सत्त्वात्' में अतिव्याप्ति भी नहीं होगी । जैसे हेतु = सत्ताके अधिकरण गुणमें वर्तमान जो संयोगाभाव उसके प्रतियोगी संयोगका जो अधिकरण नहीं है गुण वह हेतु = सत्ताका अधिकरण है । अतः संयोगाभावप्रतियोगिव्याधिकरण हुआ जिससे अतिव्याप्ति नहीं होगी ।

प्रतियोग्यनधिकरणत्वं च प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणत्वं वाच्यम्, तेन विशिष्टसत्तावान् जातेरित्यादौ जात्यधिकरणगुणादौ विशिष्टसत्ताभावस्य प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वेऽपि न क्षतिः ।

ननु विशिष्टसत्तावान् जातेरित्यत्र जात्यधिकरणं गुणस्तन्निष्ठोऽभावः विशिष्टसत्ताभावः स च सत्तारूपप्रतियोगिसमानाधिकरण एव इत्युदासीन एवाभावो लक्षणघटको वाच्य इत्यतिव्याप्तिरत आह—प्रतियोग्यनधिकरणत्वमिति । प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपिताधिकरणताशून्यत्वं तदर्थः । तथा च विशिष्टसत्तात्वावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपिताधिकरणत्वं न गुणे, इति तन्निष्ठोऽभावः विशिष्टसत्ताभावः प्रतियोगिव्यधिकरणः सञ्जात इति नातिव्याप्तिरिति भावः ।

एवं च स्वप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपिताधिकरणताशून्यो हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नहेतुतावच्छेदकावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपिताधिकरणतावान् यः तन्निष्ठाभावप्रतियोगितानवच्छेदकं यत्साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिरिति लक्षणं निष्पन्नम् ।

नन्वेवमपि ज्ञानवान् सत्त्वादित्यत्र सत्ताधिकरणं घटादिकं तन्निष्ठोऽभावः, समवायेन ज्ञानं नास्तीति प्रतीतिसाक्षिकः स च विषयतासम्बन्धेन ज्ञानरूपप्रतियो-

---

किन्तु इस प्रकार अर्थ करने पर मूललक्षणका हेत्वधिकरणवृत्ति' यह पद पुनरुक्त होनेसे निरर्थक हो जायगा । अतः अभावमें 'प्रतियोगिव्याधिकरण' का निवेश नहीं करना चाहिए । किन्तु 'स्वप्रतियोग्यनधिकरण' को 'हेत्वधिकरण' में विशेषण बना देना चाहिए । जिससे 'स्वप्रतियोग्यनधिकरणीभूतहेत्वधिकरण वृत्ति जो अभाव' यह अर्थ होगा । और 'वृक्षः कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' इस स्थलमें अव्याप्ति भी नहीं होगा । जैसे 'अभावके प्रतियोगीका जो अधिकरण न हो और हेतुका अधिकरण हो उसमें वर्तमान जो अभाव' यह अर्थ हुआ । उक्त स्थलमें 'कपिसंयोगाभावमें' कपिसंयोगरूपप्रतियोगीका जो अधिकरण नहीं है गुण वह हेतु एतद्वृक्षत्वका भी अधिकरण नहीं है । अतः अभाव नहीं लिया जा सकता । घटाभाव लेकर लक्षण समन्वय होगा । 'द्रव्यं संयोगी सत्त्वात्' इस स्थलमें संयोगाभावके प्रतियोगी संयोगका जो अधिकरण नहीं है 'गुण' वह हेतु = सत्ताका अधिकरण है । अतः संयोगाभाव लक्षणघटक हो गया । जिससे अतिव्याप्ति भी नहीं होगी ।

प्रतियोगीके अधिकरणत्वको भी प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नका अनधिकरण कहना चाहिए । जिससे 'विशिष्टसत्तावान् जातेः' इस स्थलमें हेतुभूत जातिके अधिकरण गुणमें विशिष्टसत्ताभावके प्रतियोगी सत्ताके अधिकरणमें रहने पर भी कोई क्षति नहीं हुई । क्योंकि हेतुभूत जातिके अधिकरण गुणमें जो विशिष्टसत्ताभाव उसकी विशिष्टसत्ता-

अत्र साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोग्यनधिकरणत्वं बोध्यम् , तेन ज्ञानवान् सत्त्वादित्यादौ सत्ताधिकरणघटादेर्विषयतया ज्ञानाधिकरणत्वेऽपि न क्षतिः । इत्थं च वह्निमान् धूमादित्यादौ धूमाधिकरणे समवायेन वह्निविरहसत्त्वेऽपि न क्षतिः ।

गिसमानाधिकरणः," इति प्रतियोगिव्यधिकरणो न जातः किन्तूदासीन एव तथत्यतिव्याप्तिरत आह—साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेनेति । साध्यतावच्छेदकसम्बन्धश्च प्रकृते न विषयता किन्तु समवाय एव तेन च सम्बन्धेन घटे ज्ञानं न वर्तत इति प्रतियोगिव्यधिकरणो ज्ञानाभावः तत्प्रतियोगितावच्छेदकं ज्ञानत्वे, इति नातिव्याप्तिः ।

एतेन वह्निमान् धूमादित्यत्र हेत्वाधिकरणे पर्वते समवायेन वह्निर्नास्तीति प्रतीतिसाक्षिकाभावमादायाव्याप्तिमाशङ्क्य हेत्वधिकरणवृत्तिरभावः साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताको ग्राह्य इति कस्यचिदुक्तिः परास्ता, पर्वतनिष्ठस्य समवायेन वह्न्यभावस्य प्रतियोगिनो वह्नेः संयोगेन पर्वतवृत्तितया प्रतियोगिवैयधिकरण्याभावेन लक्षणाघटकत्वात् । तथा च साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नस्वप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्ननिरूपकतानिरूपिताधिकरणताशून्य इत्यादि लक्षणं निष्पन्नम् ।

वच्छिन्न अधिकरणता गुणमें नहीं है । किन्तु 'विशिष्ट शुद्धसे अतिरिक्त नहीं' इस न्यायके द्वारा शुद्धसत्ताका अधिकरण होनेसे विशिष्ट सत्ताका अधिकरण कहा गया था । इसलिए विशिष्टसत्ताभाव प्रतियोग्यनधिकरण हुआ और अतिव्याप्ति नहीं हुई ।

इसी प्रकार प्रतियोगीकी अनधिकरणता भी साध्यतावच्छेदक सम्बन्धसे जानना चाहिए । जिससे 'ज्ञानवान् सत्त्वात्' इस स्थलमें हेतुभूतसत्ताका अधिकरण जो घट उसमें वर्तमान जो 'समवाय सम्बन्धसे 'ज्ञानका अभाव' वह विषयतासम्बन्धसे ज्ञानरूपप्रतियोगीका समानाधिकरण हो गया व्याधिकरण नहीं हुआ किन्तु कोई दूसरा अभाव प्रतियोगि व्यधिकरण हुआ । फिर भी अतिव्याप्ति नहीं हुई । कारण यह कि हेतुभूत सत्ताके अधिकरण घटमें वर्तमान जो समवायसम्बन्धसे ज्ञानाभाव वह साध्यतावच्छेदकसमवाय सम्बन्धसे घटमें नहीं है । अतः ज्ञानाभाव प्रतियोगिव्यधिकरण हुआ ।

और इसी प्रकार 'वह्निमान् धूमात्' इस स्थलमें हेतुभूत धूमके अधिकरण पर्वतमें समवाय सम्बन्धसे वह्निके अभाव रहने पर भी अव्याप्ति नहीं हुई क्योंकि साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध समवाय नहीं किन्तु संयोग है । इस सम्बन्धसे पर्वतमें कभी भी वह्न्यभाव रह सकता नहीं है ।

ननु प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नस्य यस्य कस्यचित्प्रतियोगिनोऽनधिकरणत्वं, तत्सामान्यस्य वा, यत्किञ्चित्प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणत्वं वा विवक्षितम् ।

आद्ये कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वादित्यादौ तथैवाव्याप्तिः—कपिसंयो-

---

ननु प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नस्येति । विशिष्टसत्तावान् जातेरित्यत्राव्याप्तिवारणाय प्रतियोग्यनधिकरणत्वं प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणत्वरूपं विवक्षितं तत्र प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नयत्किञ्चित्प्रतियोगिनोऽनधिकरणं विवक्षितम्, किं वा प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नसामान्यस्यानधिकरणं विवक्षितम्, आहोस्वित् यत्किञ्चित्प्रतियोगितावच्छेदको यो धर्मस्तदवच्छिन्नानधिकरणत्व विवक्षितम्, आद्ये वृक्षः कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वादित्यत्राव्याप्तिः, एतद्वृक्षत्वाधिकरणनिष्ठो यो मूलावच्छेदेन कपिसंयोगो नास्तीत्यभावस्तत्प्रतियोगितावच्छेदकं कपिसंयोगत्वं तदवच्छिन्नो वृक्षावृत्तिकपिसंयोगोऽपि तदनधिकरणं हेत्वधिकरणमेतद्वृक्षस्तन्निष्ठाऽभावीयप्रतियोगितावच्छेदकत्वमेव कपिसंयोगत्वे, इति अव्याप्तिः । तद्वारणार्थं यदि प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नसामान्यस्यानधिकरणं विवक्ष्यते तदा 'वृक्षः कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' इत्यत्र न दोषः तथा हि प्रतियोगितावच्छेदककपिसंयोगत्वावच्छिन्नसामान्यस्यानधिकरणीभूतं हेत्वधिकरणमेतद्वृक्षो नास्ति किन्तु प्रतियोगितावच्छे-

---

अस्तु, 'प्रतियोग्यनधिकरण' का अर्थ 'प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरण' किया गया । किन्तु इसका तात्पर्य क्या है । **प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न जिस किसी प्रतियोगीका अनधिकरण** अथवा **प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगी सामान्यका** (सकलका) **अनधिकरण** अथवा **जिस किसी प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नका अनधिकरण ।**

प्रथम पक्षमें—'वृक्षः, कपिसंयोगवान्, एतद्वृक्षत्वात्' इस स्थलमें उसी प्रकारसे (पूर्ववत्) अव्याप्ति होगी । क्योंकि हेतु भूत = एतद्वृक्षत्वके अधिकरण वृक्षमें वर्तमान जो मूलदेशमें कपिसंयोगाभाव इसका प्रतियोगितावच्छेदक कपिसंयोगत्व उससे अवच्छिन्न वृक्षमें न रहनेवाला कपिसंयोग भी है । उस कपिसंयोगका अनधिकरण और हेतुका अधिकरण यह वृक्ष भी है । अतः कपिसंयोगाभाव प्रतियोगिव्यधिकरण हुआ । और कपिसंयोगत्वके ही साध्यतावच्छेदक और प्रतियोगितावच्छेदक दोनों बननेसे अव्याप्ति होगी ।

यदि इस अव्याप्तिको रोकनेके लिए दूसरा अर्थ स्वीकार करते हैं तो ठीक है । क्योंकि व्याप्ति लक्षणमें वही अभाव माना जायगा जो प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्न प्रतियोगी सामान्यका अनधिकरण हो और हेतुके अधिकरणमें वर्तमान हो । कपिसंयोगाभाव तो प्रतियोगितावच्छेदक = कपिसंयोगत्व = से अवच्छिन्न सामान्यका अनधिकरण हेत्वधिकरण

गाभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नो वृक्षावृत्तिकपिसंयोगोऽपि भवति तदनधिकरणं वृक्ष इति ।

द्वितीये तु प्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रसिद्धिः—सर्वस्यैवाभावस्य पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टस्वाभावात्मकप्रतियोगिसमानाधिकरणत्वात्। नच वह्निमान् धूमादित्यादौ घटाभावादेः पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टस्वाभावात्मकप्रतियोग्यधिकरणत्वं यद्यपि पर्वतादेः, तथापि साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन तत्प्रतियोग्यनधिकरणत्वमस्त्येवेति कथं प्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रसि-

---

दकघटत्वावच्छिन्नस्यानधिकरणं हत्वधिकरणमेतद्वृक्षः तद्वृत्त्यभावीयप्रतियोगितावच्छेदकं घटत्वम् अनवच्छेदकं कपिसंयोगत्वं तदेव साध्यतावच्छेदकमित्यव्याप्त्यभाव इति ।

द्वितीये तु प्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रसिद्धिरिति । **प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नसामान्यस्यानधिकरणमिति विवक्षणे 'वह्निमान् धूमात्' इत्यत्र सद्धेतुमात्रे लक्षणस्यासम्भवः, तथा हि धूमाधिकरणे पर्वते वर्तमानो यः घटाभावः पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टः तस्यैव उत्तरक्षणावच्छेदेन अभावोऽपि वर्तते इति पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टघटाभावाभावः पर्वते इति 'विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यते' इति विशिष्टघटाभावः शुद्धघटाभावस्वरूपोऽस्ति इति घटाभावस्य प्रतियोगी घटः घटाभावाभावश्च घटाभावस्य तृतीयाभावरूपत्वात् इति घटरूपप्रतियोगिनः पर्वतेऽसत्त्वेऽपि पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टघटा-**

'एतद्वृक्ष' नहीं हो सकता। क्योंकि वृक्षमें कपिसंयोग भी है। अतः प्रतियोगितावच्छेदक = घटत्वसे अवच्छिन्न घट सामान्यका अनधिकरण तथा हेतु एतद्वृक्षत्वका अधिकरण एतद्वृक्षमें वर्तमान अभाव = घटाभाव, उसका प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व, अनवच्छेदक और साध्यतावच्छेदक कपिसंयोगत्वके होनेसे लक्षण समन्वय होता है। किन्तु—

दूसरे पक्षमें भी 'प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव ही मिलेगा नहीं। क्योंकि हेतुके अधिकरणमें जो भी अभाव लिया जायगा। वह सब पूर्वक्षणवृत्तित्व विशिष्ट स्वाभावरूप प्रतियोगीका समानाधिकरण होगा। जैसे 'पर्वतो, वह्निमान् धूमात' इस स्थलमें हेतु धूमके अधिकरण पर्वतमें वर्तमान जो घटाभाव वह पूर्वक्षणमें वर्तमान है और दूसरे क्षणमें घटाभावका अभाव भी रहेगा। इसप्रकारसे पर्वतमें जैसे घटाभाव है वैसे पूर्वक्षणमें वर्तमान घटाभावका अभाव भी है। **'विशिष्ट शुद्धसे अतिरिक्त नहीं है'** इस नियमके आधार पर विशिष्ट घटाभाव और शुद्धघटाभाव एकरूप हुआ। इसलिए जैसे घटाभावका प्रतियोगी घट वैसे घटाभावाभाव भी। क्योंकि घटाभाव, घटाभावाभावाभाव स्वरूप है। इस प्रकार

द्धिरिति वाच्यम् । घटाभावे यो वह्न्यभावस्तस्य घटाभावात्मकतया घटाभावस्य वह्निरपि प्रतियोगी तदधिकरणं च पर्वतादिरित्येवं क्रमेण प्रतियोगिव्यधिकरणस्याप्रसिद्धत्वात् । यदि च घटाभावादौ वह्न्यभावादेर्भिन्न इत्युच्यते, तदापि धूमाभाववान् वह्न्यभावादित्यादावव्याप्तिः—तत्र साध्यतावच्छेदकसम्बन्धः स्वरूपसम्बन्धः तेन सम्बन्धेन सर्वस्यैवाभावस्य पूर्व-

---

भावाभावरूपप्रतियोगिनः सत्त्वेन नायं प्रतियोगिव्यधिकरणोऽभावः. एवं पटाभावादिरपीति प्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रसिद्धिः ।

न च ज्ञानवान् द्रव्यत्वादित्यत्रातिव्याप्तिवारणाय साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोग्यनधिकरणत्वं विवक्षितम्, इति पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टघटाभावाभावरूपघटाभावप्रतियोगिनः स्वरूपेण पर्वते सत्त्वेऽपि साध्यतावच्छेदकसंयोगसम्बन्धेनासत्त्वात् प्रतियोगिवैयधिकरण्यमक्षतम् इति न प्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रसिद्धिरिति वाच्यम् । एवमपि घटाभावे यो वह्न्यभावः स घटाभावस्वरूपः अभावाधिकरणकाभावस्याधिकरणस्वरूपत्वात् इति घटाभावस्य प्रतियोगी वह्निरपि स च

यद्यपि घटाभावका प्रतियोगी घट पर्वतमें नहीं है। तथापि पूर्वक्षण वृत्तित्वविशिष्टघटाभावाभावरूप प्रतियोगी तो पर्वतमें है ही। जिससे घटाभाव प्रतियोगि व्यधिकरण नहीं हो सकेगा। इस प्रकार कोई भी अभाव प्रतियोगिव्यधिकरण न होगा और असम्भव होगा।

यद्यपि 'वह्निमान् धूमात' इत्यादि स्थलमें घटाभाव आदि पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टस्वाभावरूप प्रतियोगीका अधिकरण ही पर्वत है। तथापि 'ज्ञानवान् द्रव्यत्वात' इस स्थलमें अतिव्याप्ति वारनेके लिए साध्यतावच्छेदक सम्बन्धसे प्रतियोगीका अनधिकरण लेनेकी बात स्वीकारकी गई है। अब तो पूर्वक्षणवृत्तित्वविशिष्टघटाभावाभावरूप जो घटाभावका प्रतियोगी है उसके स्वरूपसम्बन्धसे पर्वतमें रहने पर भी साध्यतावच्छेदक संयोग सम्बन्धसे पर्वतमें न रहनेके कारण प्रतियोगिव्यधिकरण अभावके मिलनेसे प्रतियोगीका अनधिकरणभूत हेत्वधिकरण अभाव प्रसिद्ध होता है। यह भी कहना उचित नहीं। क्योंकि **'अभावके अधिकरणमें रहनेवाला अभाव भी अधिकरण स्वरूप होता है'** इस नियमके आधार पर हेतुके अधिकरण पर्वतमें वर्तमान जो घटाभाव उसमें जो वह्न्यभाव वह भी घटाभावरूप ही है। इस प्रकार जैसे घटाभावका प्रतियोगी घट है वैसे वह्नि भी है। और वह्निका अधिकरण पर्वत है इस क्रमसे कोई भी अभाव प्रतियोगिव्यधिकरण नहीं बन सकता।

यदि **'अभावके अधिकरणमें रहनेवाला अभाव अधिकरणरूप नहीं किन्तु भिन्न है'** यह नियम माना जाय। तब तो 'धूमाभाववान् वह्न्यभावात' इस स्थलमें अव्याप्ति होगी। ह्रदरूपी पक्षमें धूमाभाव स्वरूप सम्बन्धसे साध्य है और स्वरूप सम्बन्धसे ही वह्न्यभाव हेतु है। यहाँ हेतुके अधिकरण ह्रदमें वर्तमान जो अभाव वह सब साध्यता-

क्षणवृत्तित्वविशिष्टस्वाभावात्मकप्रतियोग्यधिकरणत्वं हेत्वधिकरणस्येति।

तृतीये तु कपिसंयोगाभाववान् आत्मत्वादित्यादावव्याप्तिः—तत्रात्मावृत्तिकपिसंयोगाभावाभावः कपिसंयोगस्तस्य गुणत्वात् तत्प्रतियोगितावच्छेदकं गुणसामान्याभावत्वमपि तदवच्छिन्नानधिकरणत्वं हेत्वधिकरणस्यात्मन इति मैवम्—

साध्यतावच्छेदकसंयोगसम्बन्धेन पर्वते वर्तते इति प्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रसिद्धितादवस्थ्यात्। यदि च 'घटाभावे वह्न्यभावो भिन्न एव न घटाभावस्वरूप' इत्युच्यते तदा वह्निमान् धूमादित्यत्र लक्षणसमन्वयेनासम्भवाभावेऽपि यत्र स्वरूपेण साध्यता ह्रदो धूमाभाववान् वह्न्यभावादिति तत्राव्याप्तिः।

तृतीयत्विति। तथा च घटाभावीययत्किञ्चित्प्रतियोगितावच्छेदकघटत्वावच्छिन्नानधिकरणत्वस्य हेत्वधिकरणे सत्त्वेन न प्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रसिद्धिरिति न वह्निमान् धूमादित्यादावव्याप्तिसम्भव इति भावः।

कपिसंयोगाभाववानिति। अयं भावः। कपिसंयोगाभावाभावः कपिसंयोगः तत्र च गुणत्व कपिसंयोगत्वं चेति धर्मद्वयं वर्तते, इति कपिसंयोगाभावाभावप्रतियोगितावच्छेदकं गुणसामान्याभावत्वं कपिसंयोगाभावत्वं च भवितुमर्हति ततश्च यत्किञ्चित्प्रतियोगितावच्छेदकपदेन गुणसामान्याभावत्वं धृतं तदवच्छिन्नानधिकरणत्वमात्मन इति तन्निष्ठोऽभावः कपिसंयोगाभावाभावः तत्प्रतियोगितावच्छेदकं कपिसंयोगाभावत्वं तदेव साध्यतावच्छेदकमित्यव्याप्तिरिति।

वच्छेदक स्वरूप सम्बन्धसे पूर्वक्षण वृत्तित्वविशिष्टस्वाभावरूपप्रतियोगीके अधिकरण ही हैं। अतः यह अर्थ भी ठीक नहीं है।

यद्यपि इस अव्याप्तिको वारनेके लिए 'जिस किसी भी प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नका अनधिकरण' यह तीसरा अर्थ माना जाय तो अव्याप्तिका वारण हो सकता है। जैसे—घटाभावके प्रतियोगी घटमें और पूर्वक्षणीय घटाभावाभावमें वर्तमान जो घटत्व और पूर्वक्षणीय घटाभावाभावत्व धर्म इनमेंसे जिस किसी धर्म अर्थात् घटत्व धर्मको लेकर घटत्वावच्छिन्न घटका अनधिकरण हेत्वधिकरणके होनेसे प्रतियोगिव्यधिकरण अभावकी अप्रसिद्धि नहीं होगी और 'वह्निमान् धूमात्' इस स्थल में अव्याप्ति भी नहीं होगी।

तथापि 'आत्मा, कपिसंयोगाभाववान्, आत्मत्वात्' इस स्थलमें जहाँ स्वरूप सम्बन्धसे साध्य है और समवाय सम्बन्धसे हेतु है अव्याप्ति होगी। जैसे—व्यापक आत्मारूपी द्रव्यमें गुण अव्याप्यवृत्ति है। अर्थात् सर्वत्र नहीं है। इसलिए आत्मामें कपिसंयोग और कपिसंयोगाभाव भी है। इस प्रकार हेतु = आत्मत्वके अधिकरण आत्मामें वर्तमान जो कपिसंयोगाभावाभाव वह कपिसंयोगरूप हुआ। संयोग भी गुण है। इस प्रकार कपिसंयोगाभावाभाव

यादृशप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणत्वं हेतुमतस्तादृशप्रतियोगितानवच्छेदकत्वस्य विवक्षितत्वात्।

ननु कालो घटवान् कालपरिमाणादित्यत्र प्रतियोगिव्यधिकरणा-

यादृशेति। तथा च प्रकृते हेत्वधिकरणस्यात्मनो यादृशप्रतियोगितावच्छेदकगुणसामान्याभावत्वावच्छिन्नानधिकरणत्वं तादृशप्रतियोगितानवच्छेदकत्वं कपिसंयोगाभावत्वस्य वर्तते एवेति नाव्याप्तिरिति।

कालो घटवानिति। अयं भावः कालपरिमाणाधिकरणे महाकाले समवायसंम्बन्धेन

प्रतियोगी जैसे कपिसंयोगाभाव है वैसे गुणसामान्याभाव भी है। और कपिसंयोगाभावाभावप्रतियोगितावच्छेदक गुणसामान्याभावत्व और कपिसंयोगाभावत्व भी है। फिर जिस किसी प्रतियोगितावच्छेदकके रूपमें यदि गुणसामान्याभावत्व धर लिया जाय तो गुणसामामान्याभावत्वावच्छिन्नके अधिकरण आत्मामें गुणसामान्याभावात्मकप्रतियोगीके अनधिकरण और हेत्वधिकरण आत्मामें वर्तमान जो कपिसंयोगाभावाभाव उसका प्रतितोगितावच्छेदक ही कपिसंयोगाभावत्वरूप साध्यतावच्छेदक है।

यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि हेतुके अधिकरणमें जिस प्रकारके प्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नका अनधिकरणता है वैसे प्रतियोगिताका अनधिकरणत्व विवक्षित है। इस प्रकार **'यादृशप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नानधिकरणं हेत्वधिकरणं तादृशप्रतियोगितानवच्छेदकं यत् साध्यतावच्छेदकं तदवच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः।** यह व्याप्तिका लक्षण बना। जिससे पूर्वोक्त स्थलोंमें दोष नहीं है। जैसे 'आत्मा, कपिसंयोगाभाववान्, आत्मत्वात्' इस स्थलमें अव्याप्ति नहीं होगी। क्योंकि आत्मत्वरूप हेतुके अधिकरण आत्मामें जिस प्रकारके प्रतियोगितावच्छेदक गुणसामान्याभावत्वरूपसे अवच्छिन्न गुणसामान्याभावकी अनधिकरणता है। वैसी प्रतियोगिताका अनवच्छेदक कपिसंयोगाभावत्व है वह साध्यतावच्छेदक है। अतः अव्याप्ति नहीं हुई। इसी प्रकार 'कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' में भी हेतु एतद्वृक्षत्वके अधिकरण एतद्वृक्षमें घटत्वाच्छिन्न प्रतियोगिताका अनधिकरण है अतः घटत्वाच्छिन्नप्रतियोगिताके अनवच्छेदक साध्यतावच्छेदक कपिसंयोगत्वके होनेसे अव्याप्ति नहीं है।

इस लक्षणमें भी सम्बन्ध आदिका पूर्ववत् निवेश है। इसलिए लक्षणका आकार—**साध्यतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न यादृशप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोग्यनधिकरण हेतुतावच्छेदकावच्छिन्न हेतुतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्न हेत्वधिकरणवृत्त्यभावीय तादृशप्रतियोगितानवच्छेदकसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नसाध्य सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः।** यह हुआ।

अस्तु, इस लक्षणमें भी 'कालो घटवान् कालपरिमाणात्' इस स्थलमें प्रतियोगिव्यधि-

भावाप्रसिद्धिः—हेत्वधिकरणस्य महाकालस्य जगदाधारतया सर्वेषामेवाभावानां साध्यतावच्छेदकसम्बन्धेन कालिकविशेषणतया प्रतियोग्यधिकरणात् ।

अत्र केचित—महाकालभेदविशिष्टघटाभावस्तत्र प्रतियोगिव्यधिक-

घटो नास्तीत्यभावो यद्यपि धर्तुं शक्यते तथापि सोऽभावः साध्यतावच्छेदककालिकसम्बन्धेन प्रतियोगिसमानाधिकरण एव जातः, इति कालिकसम्बन्धेन काले वस्तुमात्रस्य सत्त्वेन अभावान्तरमपि प्रतियोगिसमानाधिकरणमिति प्रतियोगिव्यधिकरणभावाप्रसिद्धिरिति ।

अत्र केचिदिति । स्वरूपसम्बन्धेन महाकालभेदः भूतले वर्तते तत्रैव घटोऽपि वर्तत इति महाकालभेदविशिष्टो घटो जातः, वैशिष्ट्यं च सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन, इति महाकालभेदविशिष्टो घटो महाकाले न वर्तते तत्र स्वरूपसम्बन्धेन महाकालभेदाभावेन महाकालभेदविशिष्टघटस्याभावादिति महाकालभेदविशिष्टघटाभावः प्रतियोगिव्यधिकरणः तत्प्रतियोगितावच्छेदकं महाकालभेदविशिष्टघटत्वमनवच्छेदकं घटत्वं तदवच्छिन्नसामानाधिकरण्यं कालपरिमाणे इति समन्वयः ।

करणकी अप्रसिद्धि होनेसे अव्याप्ति होगी। यहाँ कालिक सम्बन्धसे घट साध्य है, समवाय सम्बन्धसे कालपरिमाण हेतु है। हेतु कालपरिणामके अधिकरण महाकालमें जो जगतका अधिकरण है। उसमें जितने भी अभाव होंगे वे सब साध्यतावच्छेदक कालिक सम्बन्धसे प्रतीयोगीके आधिकरणमे रहेंगे। क्योंकि जो जगतका आधार है वह अभाव और प्रतियोगीका भी अधिकरण है। अतः घट और घटाभाव महाकाल में रहेंगे कोई भी प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव नहीं मिलेगा। अतः अव्याप्ति होगी।

इस पर **कुछ लोगोंका** कहना है कि 'इस स्थलमें महाकाल भेदविशिष्टघटाभाव ही प्रतियोगिव्यधिकरण अभाव होगा। (जैसे स्वरूपसम्बन्धसे महाकालका भेद भूतलमें है। क्योंकि भूतल महाकाल नहीं है। भूतलपर ही घट भी है। इस प्रकार घट भी एक अधिकरणमें रहनेके कारण महाकाल भेदविशिष्ट हो गया। इस प्रकार महाकालभेद से विशिष्ट घट महाकालमें नहीं है। क्योंकि महाकालमें स्वरूपसम्बन्धसे महाकालका भेद नहीं है किन्तु महाकालभेदविशिष्टघटाभाव है। इस प्रकार महाकालभेदविशिष्टघटाभाव प्रतियोगिव्यधिकरण हुआ और प्रतियोगितावच्छेदक महाकालभेदविशिष्टघटत्व अनवच्छेदक घटत्वरूप साध्यतावच्छेदकके होनेसे अव्याप्ति नहीं होती है।) महाकाल घटका आधार है फिर भी महाकालभेदविशिष्टघटका आधार नहीं है। क्योंकि महाकालमें महाकालका भेद नहीं रह सकता।

रणः—महाकालस्य घटाधारत्वेऽपि महाकालभेदविशिष्टघटानाधारत्वात्, महाकाले महाकालभेदाभावात् ।

वस्तुतस्तु प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोग्यनधिकरणीभूतहेत्वधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगितासामान्ये यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वयद्धर्मावच्छिन्नत्वोभयाभावस्तेन सम्बन्धेन तद्धर्मावच्छिन्नस्य तद्धेतुव्यापकत्वं बोध्यम् । व्यापकसामानाधिकरण्यं च व्याप्तिः । (यत्सम्बन्धः साध्यतावच्छेदकसम्बन्धः यद्धर्मः साध्यतावच्छेदकधर्मः । तत्र यदि यद्धर्मावच्छिन्नाभावमात्रमित्युच्यते यदा समवायेन यो वह्न्यभावस्तस्य प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धः समवायस्तेन प्रतियोग्यधिकरणपर्वतादिवृत्तिः स एव, तत्प्रतियोगितावच्छेदकं वह्नित्वमित्यव्याप्तिः स्यात् । यदि

वस्तुतस्त्विति । पर्वतो वह्निमान् धूमादित्यादौ प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धेन प्रतियोग्यनधिकरणीभूतहेत्वधिकरणवृत्तिरभावः संयोगेन घटो नास्तीति प्रतीतिसाक्षिकः तदीयप्रतियोगितासामान्ये संयोगसम्बन्धावच्छिन्नत्ववह्नित्वावच्छिन्नत्वोभयाभावो वर्तते, 'एकसत्त्वे द्वयं नास्ती'ति प्रतीतेः, इति संयोगसम्बन्धेन वह्नित्वावच्छिन्नो धूमहेतोर्व्यापकः तत्सामानाधिकरण्यं च धूमे व्याप्तिलक्षणसमन्वयः । एवं

दूसरे लोग कहते हैं कि 'महाकालानुयोगिकघटप्रतियोगिक कालिक सम्बन्धसे घट साध्य है तो साध्यतावच्छेदक = महाकालवृत्तिकालिकसम्बन्धसे महाकालभेदविशिष्टघटात्मकप्रतियोगीका अधिकरण ही अप्रसिद्ध होगा फिर अव्याप्ति होगी। इसीलिए नया लक्षण कहते हैं **वस्तुतस्तु**।

वस्तुतः **प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्धसे प्रतियोगीके अनधिकरणीभूत हेतुके अधिकरणमें विद्यमान जो अभाव उसकी प्रतियोगितामात्रमें यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्व और यद्धर्मावच्छिन्नत्व इन दोनोंका अभाव हो उसी सम्बन्धसे तद्धर्मावच्छिन्न पदार्थको हेतुका व्यापक समझना चाहिए। और व्यापकके साथ एक अधिकरणमें व्याप्यका रहना ही व्याप्ति है।**

उक्त लक्षणमें 'यत्सम्बन्ध' साध्यतावच्छेदकसम्बन्ध समझना चाहिए। इसी प्रकार 'यद्धर्म' भी साध्यतावच्छेदकधर्म समझना चाहिए। उक्त लक्षणमें यदि केवल 'यद्धर्मावच्छिन्नत्वाभावमात्र' कहें तो 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस स्थलमें हेत्वधिकरण पर्वतमें समवायसम्बन्धसे वह्न्यभाव लेनेपर प्रतियोगितावच्छेदक समवाय सम्बन्धसे वह्निरूप प्रतियोगीके अनधिकरण पर्वतमें वर्तमान समवाय सम्बन्धसे वह्न्यभावके प्रतियोगी वह्निसामान्यमें वह्नित्वावच्छिन्न अभाव रहेगा नहीं जिससे अव्याप्ति होगी। और यदि

च यत्सम्बन्धावच्छिन्नत्वाभावमात्रमित्युच्यते तदा तादृशस्य संयोगेन घटाभावस्य प्रतियोगितायां संयोगसम्बन्धावच्छिन्नत्वसत्त्वादव्याप्तिः स्यादत उभयमुपात्तम्)

इत्थं च काला घटवान् कालपरिमाणादित्यादौ संयोगसम्बन्धेन घटाभावप्रतियोगिनोऽपि घटस्यानधिकरणे हेत्वधिकरणे महाकाले वर्तमानः स एव संयोगेन घटाभावः, तस्य प्रतियोगितायां कालिकसम्बन्धावच्छिन्नत्वघटत्वावच्छिन्नत्वोभयाभावसत्त्वान्नाव्याप्तिः। धूमवान् वह्नेरित्यादावतिव्याप्तिवारणाय सामान्यपदम्।

कालो घटवान् कालपरिमाणादित्यत्र प्रतियोगितावच्छेदकसमवायसम्बन्धेन घटरूपप्रतियोग्यनधिकरणहेत्वधिकरणवृत्तिरभावः समवायेन घटो नास्तीति प्रतीतिसाक्षिकः तदीयप्रतियोगितायां कालिकसम्बन्धावच्छिन्नत्वघटत्वावच्छिन्नत्वोभयाभावसत्त्वात् कालिकसम्बन्धेन घटत्वावच्छिन्नः कालपरिमाणरूपहेतोर्व्यापक इति तत्सामानाधिकरण्यं कालपरिमाणे इति व्याप्तिलक्षणसमन्वयः।

यत्सम्बन्धाभावमात्र कहा जाय तो 'वह्निमान्, धूमात्' इस स्थलमें हेतुके अधिकरण पर्वतमें संयोगसम्बन्धसे वर्तमान जो घटाभाव उसकी प्रतियोगितासामान्यमें साध्यतावच्छेदक संयोग-सम्बन्धावच्छिन्नत्व होनेसे और अभावके न रहनेसे व्यापकत्व हानि होगी। अतः अभावमें दोनों सम्बन्ध लगाए गए।

'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस स्थलमें प्रतियोगितावच्छेदकसंयोगसम्बन्धसे प्रतियोगी घटके अनधिकरणीभूत हेतुके अधिकरणमें वर्तमान जो अभाव (संयोग सम्बन्धसे घटाभाव) उस घटाभावीय प्रतियोगितामात्रमें संयोग सम्बन्धावच्छिन्नत्व और वह्नित्वावच्छिन्नत्वोभयाभाव है। क्योंकि 'एकके रहने पर भी दो नहीं हैं' यह प्रतीतिका आधार है। [इस प्रकार संयोगसम्बन्धसे वह्नित्वावच्छिन्न वह्नि धूमरूप हेतुका व्यापक है। और व्यापकके साथ सामानाधिकरण्य होनेसे धूममें व्याप्तिका लक्षण समन्वय होता है।]

इसी प्रकार 'कालः, घटवान्, कालपरिमाणात्, इस स्थलमें भी प्रतियोगितावच्छेदक संयोग सम्बन्धसे घटरूप प्रतियोगीके अनधिकरण और हेतु कालपरिमाणके अधिकरण महाकालमें वर्तमान् जो अभाव 'संयोग सम्बन्धसे घटाभाव' उसकी प्रतियोगितामात्रमें कालिक सम्बन्धावच्छिन्नत्व, घटत्वावच्छिन्नत्वरूप उभयाभावके रहनेसे कालिकसम्बन्धसे घटत्वावच्छिन्न घट कालपरिमाणरूप हेतुका व्यापक हुआ और उसके साथ हेतुका सामानाधिकरण्य होनेसे व्याप्ति हुई। अव्याप्ति नहीं। 'धूमवान् वह्नेः' इस स्थलमें अतिव्याप्ति वारनेके लिए 'सामान्य' पद लक्षणमें दिया गया है।

ननु प्रमेयवह्निमान् धूमादित्यादौ प्रमेयवह्नित्वावच्छिन्नत्वमप्रसिद्धं गुरुधर्मस्यानवच्छेदकत्वादिति चेद् न—

कम्बुग्रीवादिमान्नास्तीति प्रतीत्या कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताविषयीकरणेन गुरुधर्मस्याप्यवच्छेदकत्वस्वीकारादिति सङ्क्षेपः॥

प्रमेयवह्निमानिति। अयं भावः गुरुधर्मस्य प्रमेयवह्नित्वादेः प्रतियोगितानवच्छेदकत्वात् प्रतियोगितायां प्रमेयवह्नित्वावच्छिन्नत्वमप्रसिद्धम्, एवं च धूमाधिकरणवृत्तिघटाभावीयप्रतियोगितायां प्रमेयवह्नित्वावच्छिन्नत्वस्याप्रसिद्धत्वेन तद्घटितोभयाभावाप्रसिद्ध्याऽव्याप्तिरिति भावः।

कम्बुग्रीवादिमान्नास्तीति। अयं भावः कम्बुग्रीवादिमान्नास्तीति प्रतीतौ यदि कम्बुग्रीवादिमत्प्रतियोगिताकाभावो विषयः स्यात्तदा यत्किञ्चिद्घटवत्यपि भूतले कम्बुग्रीवादिमान्नास्तीति प्रतीतेः प्रमात्वं स्यादतः कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावो विषयो वाच्यः, एवं च गुरुधर्मस्य प्रतियोगितावच्छेदकत्वमङ्गीकर्तव्यमिति न प्रतियोगितायां प्रमेयवह्नित्वावच्छिन्नत्वमप्रसिद्धमिति।

ननु प्रतियोगिताधर्मिकोभयाभावघटितलक्षणे गुरुधर्मावच्छिन्नसाध्यकस्थलेऽव्याप्तिशङ्कैव नोचिता गुरुधर्मे साध्यतावच्छेदकत्वस्यैवानङ्गीकारादिति चेन्न—स्वरूपसम्बन्धरूपावच्छेदकताया एव गुरुधर्मे प्राचीनैरनङ्गीकारेण विषयताविशेषरूपायाः साध्यतावच्छेदकताया गुरुधर्मेऽप्यङ्गीकारसत्त्वेनादोषादित्यलम्॥ ६९॥

व्याप्तिनिरूपणानन्तरं पक्षतानिरूपणे अनुमितिलक्षणैककार्यानुकूलत्वं सङ्गतिः।

उक्त लक्षण मानने पर भी 'प्रमेयवह्निमान्, धूमात्' इत्यादि स्थलमें प्रतियोगीके अनधिकरणीभूत हेतुके अधिकरणमें वर्तमान जो संयोग सम्बन्धसे घटाभाव उसकी प्रतियोगितासामान्यमें प्रमेयवह्नित्वावच्छिन्नत्वके अप्रसिद्ध होनेसे अव्याप्ति होगी। क्योंकि (प्रमेयवह्नित्व, वह्नित्वकी अपेक्षा गुरुधर्म है। और **'लघुधर्मके रहते गुरुधर्म अवच्छेदक होता नहीं'** इस नियमके आधारपर गुरुधर्म अवच्छेदक नहीं माना गया है। यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि—'कम्बुग्रीवादिमान् (घट) नास्ति' इस आकारकी प्रतीति होती है। यह प्रतीति यदि किसी एक कम्बुग्रीवादिमान् रूप प्रतियोगिताके अभावको ही ग्रहण करती तो जहाँ पर कोई एक घट है उस भूतलमें भी 'कम्बुग्रीवादिमान् नास्ति' यह प्रतीति प्रामाणिक मानी जाती। अतः उक्त प्रतीति कम्बुग्रीवादिमत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभावको ही ग्रहण करती है। फिर तो गुरुधर्म भी अवच्छेदक सिद्ध हो गया तथा उक्त अप्रसिद्धि दोष लगाना अनुचित है। इस प्रकार व्याप्तिका संक्षिप्त निरूपण समाप्त हुआ॥ ६९॥

व्याप्ति निरूपणके बाद पक्षता निरूपण करना ही उचित है। क्योंकि दोनों अनुमिति-

पक्षवृत्तित्वमित्यत्र पक्षत्वं किं तदाह—

सिषाधयिषया शून्या सिद्धिर्यत्र न विद्यत ।
स पक्षस्तत्र वृत्तित्वज्ञानादनुमितिर्भवेत् ॥ ७० ॥

सिषाधयिषयेति । सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावः पक्षता, तद्वान्पक्ष इत्यर्थः ।

परामर्शनिरूपणानन्तरं पक्षतानिरूपणे तूपोद्घातसङ्गतिः तां तु ग्रन्थकृत्स्वयमाह— पक्षवृत्तित्वमित्यादिना ।

सिषाधयिषाविरहेति । **अयं भावः 'पर्वतो वह्निमान्' इति निश्चयः सिद्धिरित्युच्यते । सा च 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यनुमितौ प्रतिबन्धिका, प्रतिबन्धकत्वं च 'कारणीभूताभावप्रतियोगित्वम्' । प्रकृते च सिद्ध्यभावस्यानुमितिं प्रति कारणत्वात् तत्प्रतियोगित्वं सिद्धाविति भवति तस्याः प्रतिबन्धकत्वम् । परन्तु सिद्धिसत्त्वे 'पर्वते वह्न्यनुमितिर्मे जायताम्' इतीच्छा सिषाधयिषा तस्यां सत्यामनुमितिर्जायते इति सिषाधयिषाया उत्तेजकत्वम् । उत्तेजकत्वं च 'प्रतिबन्धकसमानकालीनकार्यजनकत्वम्' । एवं च सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धिः अनुमितेः प्रतिबन्धिका, तदभावश्च पक्षता सा चानुमितौ कारणम्**

रूपी एक कार्यके अनुकूल (साधन) है । और परामर्शके लक्षणमें पहले **'व्याप्यस्य'** पदके आधार पर व्याप्तिका निरूपण कर चुके अब **'पक्षवृत्तित्व'** पदके बारेमें जिज्ञासा हुई कि पक्ष किसे कहते हैं । अतः उत्तरमें ग्रन्थकारने कहा कि—

सिषाधयिषासे (अनुमितिकी इच्छासे) शून्य (विरहित) सिद्धि जहाँ नहीं है वही पक्ष है । वहाँ ही व्याप्यके (धूम आदिके) वृत्तिताके (रहनेके) ज्ञानसे अनुमिति होती है ।

सिषाधयिषाके विरहसे विशिष्ट सिद्धिके अभावको **पक्षता** कहते हैं । और पक्षताका आश्रय **पक्ष** होता है ।

विमर्श—पक्षमें साध्यके निश्चयको सिद्धि कहते हैं । जैसे 'पर्वतो वह्निमान्' यह ज्ञान । सिद्धि अनुमितिमें बाधक है । क्योंकि जानी हुई वस्तुमें अनुमान नहीं होता । किन्तु सिद्धिके रहने पर भी यदि 'पर्वतमें वह्नि (अग्नि) की अनुमिति मुझे हो' यह इच्छा हो जाती है वहाँ अनुमिति होती है । इसी इच्छाको **सिषाधयिषा** कहते हैं । सिद्धि अनुमितिकी बाधक है और सिषाधयिषा उत्तेजक है । इस प्रकार सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धि **अनुमितिकी प्रतिबन्धक** है और उसका अभाव उत्तेजक ।

सिषाधयिषामात्रं न पक्षता, विनापि सिषाधयिषां घनगर्जितेन मेघानुमानात् ।

अत एव साध्यसन्देहोऽपि न पक्षता विनापि सन्देहं तदनुमानात् ।

सिद्धौ सत्यामपि सिषाधयिषासत्त्वेऽनुमितिर्भवत्येव, अतः सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्वं सिद्धौ विशेषणम् ।

तथा च यत्र सिद्धिर्नास्ति तत्र सिषाधयिषायां सत्यामसत्यामपि पक्षता, यत्र सिषाधयिषास्ति तत्र सिद्धौ सत्यामसत्यामपि पक्षता, यत्र सिद्धिरस्ति सिषाधयिषा च नास्ति तत्र न पक्षता, सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धेः सत्त्वात् ।

मेघानुमानादिति । **गगनं मेघवत् घनगर्जनादिति हि अनुमानस्वरूपम् ।**

तथा चेति । **यत्र सिषाधयिषासिद्धी तत्र सिद्धिरूपविशेष्यसत्त्वेऽपि सिषाधयिषाविरहरूपविशेषणस्याभावात् विशेषणाभावप्रयुक्तो विशिष्टाभावः । यत्र सिषाधयिषा अस्ति सिद्धिश्च नास्ति तत्र सिद्धिरूपविशेष्यस्य सिषाधयिषाविरहरूपविशेषणस्य चाभावादुभयाभावप्रयुक्तो विशिष्टाभावः । यत्र सिषाधयिषा नास्ति सिद्धिश्च नास्ति तत्र सिषाधयिषाविरहरूपविशेषणस्य सत्त्वेऽपि सिद्धिरूपविशेष्यस्याभावात् विशेष्याभावप्रयुक्तो विशिष्टाभावः इति त्रिषु स्थलेषु अनुमितिर्भवति । यत्र च सिषाधयिषा नास्ति सिद्धिश्चास्ति तत्र सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धेस्सत्त्वात् सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावरूपपक्षताया असत्त्वेन नानुमितिरिति ।**

सिषाधयिषाविरहवैशिष्ट्यं च सिद्धौ एककालावच्छेदेनैकशरीरावच्छेदेनैकात्मवृत्तित्वम् तेन सिषाधयिषाकालीनसिद्धेः कालिकसम्बन्धेन सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्वेन, घटावच्छेदेनैकस्मिन्नात्मनि सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्वेन, वा नानुमितिक्षतिः एककालीनैकशरीरावच्छेदेनैकात्मवृत्तित्वस्याभावादिति

केवल सिषाधयिषाको पक्षता नहीं कह सकते । क्योंकि सिषाधयिषाके विना भी घनगर्जन सुनकर 'गगनं, मेघवत्, घनगर्जनात्,' इस प्रकार मेघका अनुमान होता है ।

इसीलिए 'साध्य सन्देह' भी पक्षताका लक्षण नहीं कहा जा सकता । क्योंकि सन्देहके विना भी मेघका अनुमान होता है ।

सिद्धिके रहते भी सिषाधयिषा होने पर अनुमिति होती ही है । इसलिए सिद्धिमें 'सिषाधयिषाविरह' को विशेषण लगाया गया ।

इस प्रकार जहाँ सिद्धि नहीं है वहाँ सिषाधयिषाके रहने पर या न रहने पर भी पक्षता होती है । जहाँ सिषाधयिषा है वहाँ सिद्धि रहे या न रहे पक्षता होती है । किन्तु

ननु यत्र परामर्शानन्तरं सिद्धिस्ततः सिषाधयिषा तत्र सिषाधयिषाकाले परामर्शनाशान्नानुमितिः, यत्र सिद्धिपरामर्शसिषाधयिषाः क्रमेण भवन्ति तत्र सिषाधयिषाकाले सिद्धेर्नाशात्प्रतिबन्धकाभावादेवानुमितिः, यत्र सिषाधयिषासिद्धिपरामर्शाः सन्ति तत्र परामर्शकाले सिषाधयिषैव नास्ति, एवमन्यत्रापि सिद्धिकाले परामर्शकाले वा न सिषाधयिषा—योग्यविभुविशेषगुणानां यौगपद्यनिषेधात्, तत्कथं सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्वं सिद्धेर्विशेषणमिति चेद् न—

परामर्शरूपकारणसत्त्वे सिद्धिरूपप्रतिबन्धकसत्त्वे यदि सिषाधयिषा स्यात्तदा सिषाधयिषाया उत्तेजकत्वं वाच्यं न चैतत्सम्भवतीत्याशयेनाशङ्कते—ननु यत्रेति।

अयं भावः—प्रथमं परामर्शस्तद्द्वितीयक्षणे सिद्धिः सिद्ध्युत्पत्तिद्वितीयक्षणे सिषाधयिषा तत्र सिषाधयिषाकाले परामर्शस्य नाशात् नानुमितिः, यत्र च क्रमेण सिषाधयिषासिद्धिपरामर्शास्तत्र परामर्शकाले सिषाधयिषाया नष्टत्वात् उत्तेजकाभावेन प्रतिबन्धकसद्भावान्नानुमितिः, यत्र च क्रमेण सिद्धिपरामर्शसिषाधयिषास्तत्र सिषाधयिषाकाले सिद्धेर्नाशेन प्रतिबन्धकाभावादेवानुमितिः, यत्र च परामर्शसिषाधयिषासिद्धयस्तत्र परामर्शनाशादेव नानुमितिः, यत्र च सिषाधयिषापरामर्शसिद्धयः तत्र उत्तेजकाभावात्प्रतिबन्धकसद्भावान्नानुमितिः, यत्र च सिद्धिसिषाधयिषापरामर्शाः तत्र प्रतिबन्धकाभावादेवानुमितिः, इति सिद्धिकाले परामर्शकाले च न सिषाधयिषा इति सिषाधयिषाविरहविशिष्टत्वं सिद्धेर्विशेषणं व्यर्थमिति।

जहाँ सिद्धि है सिषाधयिषा नहीं है वहाँ पक्षता नहीं होती। क्योंकि इस स्थलमें सिषाधयिषाविरहविशिष्ट सिद्धि ही है।

यदि जहाँ परामर्शके बाद दूसरे क्षणमें सिद्धि उसके बाद सिषाधयिषा। वहाँ सिषाधयिषाकालमें परामर्शके नाश हो जानेके कारण अनुमिति नहीं होगी। जहाँ पहले सिद्धि उसके बाद परामर्श उसके बाद सिषाधयिषा क्रमसे हैं। वहाँ सिषाधयिषा कालमें ही सिद्धिके नाश हो जानेसे प्रतिबन्धकके न रहनेके कारण ही अनुमिति हो जायगी। और जहाँ सिषाधयिषा तब सिद्धि और तब परामर्श है वहाँ परामर्शकालमें सिषाधयिषाके नाश हो जानेसे उत्तेजकके अभावके कारण अनुमिति नहीं होगी। इसी प्रकार अन्य स्थलमें भी सिद्धिके कालमें या परामर्शके कालमें सिषाधयिषा न रहनेके कारण अनुमिति नहीं होगी। सिद्धि, सिषाधयिषा और परामर्श एक ही क्षणमें रह नहीं सकते। क्योंकि प्रत्यक्षयोग्य विभुओं (व्यापकों) में रहनेवाले गुणोंकी एक कालमें उत्पत्ति नहीं होती है। फिर सिद्धिमें सिषाधयिषाविरहरूप विशेषण लगानेकी क्या आवश्यकता' यह कहा जाय तो ठीक नहीं।

यत्र वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमानिति प्रत्यक्षं स्मरणं वा ततः सिषाधयिषा तत्र पक्षतासम्पत्तये तद्विशेषणस्यावश्यकत्वात्।

अत्रेदं बोध्यम्। यादृशयादृशसिषाधयिषासत्त्वे सिद्धिसत्त्वे यल्लिङ्गकानुमितिस्तादृशतादृशसिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभावस्तल्लिङ्गकानु-

---

प्रत्यक्षमिति। ननु वह्निव्याप्यधूमवान्पर्वतो वह्निमानिति प्रत्यक्षानन्तरं सिषाधयिषैव नोदेति सिषाधयिषायामिष्टसाधनताज्ञानस्य कारणत्वात्तस्य च प्रकृतेऽभावात् तादृशप्रत्यक्षात्पूर्वमिष्टसाधनताज्ञानकल्पने च प्रत्यक्षमेव न स्यादिच्छासामग्र्याः प्रतिबन्धात् प्रत्यक्षानन्तरमिष्टसाधनताज्ञानोपगमे च सिषाधयिषाकाले तादृशप्रत्यक्षस्य नाशादनुमितिरेव न स्यात्परामर्शरूपकारणाभावादिति चेन्न—प्रत्यक्षमित्यस्य अनुमितीष्टसाधनताविषयकमिति शेषः। एवं च 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमान्' अनुमितिरिष्टसाधनम्, इति समूहालम्बनात्मकज्ञानानन्तरं सिषाधयिषासद्भावेन परामर्शसद्भावेन चानुमितिरित्याशयात्।

क्योंकि जहाँ 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमान्' इस प्रकारका सिद्ध्यात्मक और परामर्शात्मक प्रत्यक्ष अथवा स्मरणज्ञान है और उसके बाद सिषाधयिषा है वहाँ पक्षता सिद्ध करनेके लिए सिद्धिमें उक्त विशेषण लगाना चाहिए। इस ज्ञानमें एक ही क्षणमें सिद्धि परामर्श दोनों होनेके कारण सिषाधयिषा उत्तेजक है। और अनुमिति होती है। अन्यथा अनुमिति न होती।

यहाँ (पक्षताके लक्षणमें) यह समझना चाहिए कि **'जिस-जिस रूपकी सिषाधयिषाके और सिद्धिके रहने पर जिस हेतु द्वारा अनुमिति होती है, उस-उस रूपका सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभाव उस हेतु द्वारा होनेवाली अनुमितिमें पक्षता है।** जैसे 'पर्वते वह्न्यनुमितिर्मे जायताम्' इस सिषाधयिषाके रहने पर वह्निकी सिद्धि रहने पर भी जिस धूमको हेतु मानकर 'पर्वतो वह्निमान्' यह अनुमिति होती है उस 'पर्वते वह्न्यनुमितिर्मे जायताम्' इस सिषाधयिषाविरहविशिष्ट सिद्ध्यभाव को धूमलिंगक अनुमितिमें पक्षता मानते हैं।' इससे सिद्धि और परामर्शके रहने पर भी जो कोई ज्ञान मुझे हो **(यत् किञ्चिज् ज्ञानं मे जायताम्)** इस प्रकारकी इच्छासे अनुमिति नहीं होती। क्योंकि इस स्थलमें 'यत् किञ्चित् ज्ञान' की इच्छा उत्तेजक नहीं है। इसी प्रकार 'वह्निव्याप्यधूमवाला पर्वत, वह्निवाला है' इस रूपमें प्रत्यक्षात्मक ज्ञान रहने पर 'प्रत्यक्षातिरिक्त ज्ञान हो' इस प्रकारकी इच्छामें तो अनुमिति होती है। क्योंकि इस प्रकारकी इच्छा उत्तेजक हो सकती है। और प्रत्यक्ष होने पर भी प्रत्यक्षसे अतिरिक्त अनुमिति भी होती ही है। इसी प्रकार धूमपरामर्शके (वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमान् इस सिद्ध्यात्मक परामर्शके) होने पर 'आलोकसे अग्निकी अनुमिति हो' इस प्रकारकी इच्छा

मितौ पक्षता । तेन सिद्धिपरामर्शसत्त्वेऽपि यत्किञ्चिज्ज्ञानं जायतामितीच्छायामपि नानुमितिः । वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमानिति प्रत्यक्षसत्त्वे प्रत्यक्षातिरिक्तं ज्ञानं जायतामितीच्छायां तु भवत्येव । एवं धूमपरामर्शसत्त्वे आलोकेन वह्निमनुमिनुयामितीच्छायामपि नानुमितिः ।

सिषाधयिषाविरहकाले यादृशसिद्धिसत्त्वे नानुमितिस्तादृशी सिद्धिर्विशिष्यैव तत्तदनुमितौ प्रतिबन्धिका वक्तव्या, तेन 'पर्वतस्तेजस्वी पाषाणमयो वह्निमानिति' ज्ञानसत्त्वेऽप्यनुमितेर्न विरोधः ।

सिद्धिपरामर्शसत्त्वे इति । **ननु यत्किञ्चिज्ज्ञानस्यैव सिद्धित्वेन तस्य पूर्वमेव सत्त्वेन सिषाधयिषाविषयसिद्ध्या सिषाधयिषायाः प्रतिबन्धात् सिषाधयिषैव न स्यादिति चेन्न, सिद्धिपरामर्शसत्त्वेन 'एतदुत्तरकालीनं यत्किञ्चिज्ज्ञानं जायताम्' इतीच्छाविषयसिद्धः पूर्वमसत्त्वेन एवंरूपायाः सिषाधयिषाया उत्पत्तौ बाधकाभावादिति ।**

नन्वनुमितित्वप्रकारिकेच्छैवोत्तेजिका, तेन च यत्किञ्चिज्ज्ञानं जायतामितीच्छामादाय नानुमितिः सम्भवति इति यादृशयादृशेत्येवंरीत्या सिषाधयिषायाः परिचयं कृत्वा तत्तद्व्यक्तित्वेनोत्तेजकत्वकल्पनमफलमिति चेदत आह—प्रत्यक्षातिरिक्तमिति । **एत्र च अनुमितित्वप्रकारिकेच्छैव उत्तेजिकेति वक्तुमशक्यम् प्रत्यक्षातिरिक्तं ज्ञानं जायतामितीच्छाया अनुमितित्वाप्रकारकत्वेऽप्युत्तेजकत्वादिति भावः ।**

भवत्येवेति । **अनुमितिरिति शेषः ।**

विशिष्यैवेति । **वह्नित्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितपर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यताशालिनिश्चयः वह्नित्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितपर्वतत्वावच्छिन्नविशेष्यताकानुमितौ प्रतिबन्धक इति भावः ।**

होने पर भी अनुमिति नहीं होती । कारण यह कि 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमितिमें 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतो वह्निमान्' इस सिद्धिके प्रतिबन्धक होने पर 'आलोकेन वह्निमनुमिनुयाम्' इस प्रकारकी इच्छा उत्तेजक नहीं ।

सिषाधयिषाके अभावकालमें जिस रूपकी सिद्धिके रहते अनुमिति नहीं होती विशेषकर उस रूपकी सिद्धिको उस-उस अनुमितिका प्रतिबन्धक कहा जायगा । अर्थात् सिषाधयिषाके न रहने पर पर्वत विशेष्यक वह्निविशेषणक (प्रकारक) 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमितिके प्रति पर्वत विशेष्यक वह्निविशेषणक (प्रकारक) 'पर्वतो वह्निमान्' इस प्रकारकी सिद्धि (निश्चय) प्रतिबन्धक है । अन्य रूपकी सिद्धि प्रतिबन्धक नहीं होती । इस प्रकारका प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धकभाव मानने पर 'पर्वतः तेजस्वी पाषाणमयो वह्निमान्' इस प्रकारके ज्ञानके (सिद्धिके) रहने पर भी 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमितिसे कोई

परन्तु पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धावपि तदवच्छेदेनानुमितिदर्शनात्पक्षतावच्छेदकावच्छेदेनानुमितिं प्रति पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धिरेव प्रतिबन्धिका । पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येनानुमितिं प्रति तु सिद्धिमात्रं विरोधि ।

इदं तु बोध्यम् । यत्रायं पुरुषो न वेति संशयानन्तरं पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानयमिति ज्ञानं तत्रासत्यामनुमित्सायां पुरुषस्य प्रत्यक्षं भवति न त्वनुमितिरतोऽनुमित्साविरहविशिष्टसमानविषयकप्रत्यक्षसामग्री कामिनीजिज्ञासादिवत्स्वातन्त्र्येण प्रतिबन्धिका ।

इदं त्विति । **अयं पुरुषो न वेति संशयानन्तरं पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानयमिति ज्ञाने जाते चक्षुःसंयोगादिरूपायां प्रत्यक्षसामग्र्यां च सत्यामनुमितिर्न भवति किं तु प्रत्यक्षं भवति, अतः प्रत्यक्षसामग्री अनुमितिप्रतिबन्धिका तत्रैवानुमित्सासत्त्वे तु अनुमितिर्भवति इति अनुमित्साया उत्तेजकत्वं बोध्यम् तथा च अनुमित्साविरहविशिष्टसमानविषयकप्रत्यक्षसामग्री अनुमितिप्रतिबन्धिकेति ।**

स्वातन्त्र्येणेति । **यथा 'कामिनीजिज्ञासा ज्ञानमात्रे विरोधिनी' तथा अनुमित्साविरहविशिष्टप्रत्यक्षसामग्री अनुमितौ विरोधिनीति भावः ।** स्वातन्त्र्येण **पक्षताकुक्षप्रवि-**

विरोध नहीं रहता । कारण यह कि 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमितिके प्रति पर्वतविशेष्यक तेजस्वित्वविशेषणक (प्रकारक) अथवा पाषाणमयत्व विशेष्यक वह्निविशेषणक (प्रकारक) सिद्धि विरोधी (प्रतिबन्धक) नहीं है ।

परन्तु पक्षतावच्छेदक सामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धि रहने पर भी पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन अनुमिति होनेके कारण पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन अनुमितिके प्रति पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धिको प्रतिबन्धक मानते हैं । और पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन अनुमितिके प्रति तो सिद्धिमात्र विरोधी है । चाहे अवच्छेदकावच्छेदन हो या सामानाधिकरण्येन । तात्पर्य यह है कि पक्षतावच्छेदक = पर्वतत्व आदिके अधिकरण किसी एक पर्वतमें साध्यकी सिद्धि होने पर भी समस्त पर्वतोंमें अनुमिति देखी गई है । अतः सकल पक्षकी अनुमितिके प्रति सकलपक्षमें साध्यसिद्धि प्रतिबन्धक है । और पक्षतावच्छेदकधर्मसे विशिष्ट किसी एक पक्षमें अनुमितिके प्रति सकलपक्षमें साध्यसिद्धि अथवा कवल उस पक्षमें जिसमें अनुमिति करना है साध्यसिद्धि भी प्रतिबन्धक है ।

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि जहाँ यह पुरुष है या नहीं । इस प्रकार के संशय के बाद जहाँ 'पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानयम्' अर्थात् 'पुरुषत्व के व्याप्य जो हाथ-पैर आदि उनसे यह युक्त है' इस प्रकार का परामर्श रूप विशेष दर्शन है । वहाँ अनुमिति की इच्छा के न होने पर पुरुष का प्रत्यक्ष होता है । अनुमिति नहीं होती । अतः जैसे 'कामिनी स्त्री को

एवं परामर्शानन्तरं विना प्रत्यक्षेच्छां पक्षादेः प्रत्यक्षानुत्पत्तेः, प्रत्यक्षेच्छाविरहविशिष्टानुमितिसामग्री भिन्नविषयकप्रत्यक्षे प्रतिबन्धिका ॥ ७० ॥

हेतुप्रसङ्गाद्धेत्वाभासान्विभजते—

ष्टत्वेनेत्यर्थः। अयं भावः—यथा सिद्धिः सिद्ध्यभावरूपानुमितिकारणीभूतपक्षताविघटनद्वाराऽनुमितिप्रतिबन्धिका तथा नेयमिति। एतेन, यज्ञपत्युपाध्यायोक्ता सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धिप्रत्यक्षसामग्र्योरन्यतराभावरूपपक्षता नाभ्युपगन्तव्येति सूचितम्।

ननु प्रत्यक्षसामग्र्या अनुमितिप्रतिबन्धकत्वे भिन्नविषयकप्रत्यक्षसामग्रीसत्त्वेऽप्यनुमित्यनुदयप्रसङ्ग इत्याह—एवमिति। अयं भावः—वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इति परामर्शानन्तरं यदि पर्वतप्रत्यक्षसामग्री चक्षुःसंयोगादिरूपा वर्तते यदाऽनुमितिरेव जायते न प्रत्यक्षमिति विभिन्नविषयकप्रत्यक्षस्य अनुमितिसामग्री प्रतिबन्धिका भवति यदि च प्रत्यक्षेच्छा वर्तते तदा विभिन्नविषयकप्रत्यक्षं जायते इति प्रत्यक्षेच्छाया उत्तेजकत्वम्। एवं च प्रत्यक्षेच्छाविरहविशिष्टानुमितिसामग्री विभिन्नविषयकप्रत्यक्षस्य प्रतिबन्धिकेति ॥ ७० ॥

हेतुप्रसङ्गादिति। स्मृतत्वे सति उपेक्षानर्हत्वं प्रसङ्गसङ्गतिः। विजयलक्षणैककार्यकारित्वमप्यत्र सङ्गतिर्बोध्या।

जानने की इच्छा कामिनी ज्ञान के अतिरिक्त अन्य ज्ञान को स्वतन्त्र रूप से रोक देती है' वैसे ही अनुमिति की इच्छा के अभाव के साथ समानविषयक प्रत्यक्ष की सामग्री स्वतन्त्र रूप से अनुमिति की प्रतिबन्धिका है।

इससे **यज्ञपति उपाध्याय** का वह मत खण्डित हो गया। जिसमें उन्होंने कहा कि सिषाधयिषाविरहविशिष्ट सिद्ध्यभाव अथवा प्रत्यक्ष-सामग्री का अभाव इस प्रकार पक्षता दो प्रकार की है।

इस प्रकार 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' इस परामर्श के ठीक बाद यदि 'पर्वत के प्रत्यक्ष की सामग्री (चक्षुःसंयोगरूपा) है तो अनुमिति-सामग्री प्रतिबन्धक होती है' यह नियम मानना चाहिए और यदि प्रत्यक्ष की इच्छा रहती है तब विभिन्नविषयक प्रत्यक्ष होता है। अतः विभिन्नविषयक प्रत्यक्ष के प्रति प्रत्यक्षेच्छाविरहविशिष्ट अनुमिति सामग्री प्रतिबन्धिका होती है यह नियम माना जाता है ॥ ७० ॥

सत् हेतु निरूपण कर चुकने के बाद असत् हेतुओं का भी स्मरण हो आया। अतः 'जो अनुपेक्षणीय हो और स्मरण में आजाय उसे प्रसङ्ग सङ्गति कहते हैं' इस लिए हेत्वाभासों का विभाग करते हैं कि—हेत्वाभास तो पाँच प्रकार के होते हैं। जैसे—

अनैकान्तो विरुद्धश्चाप्यसिद्धः प्रतिपक्षितः।
कालात्ययापदिष्टश्च हेत्वाभासास्तु पञ्चधा ॥ ७१ ॥

अनैकान्त इति। तल्लक्षणं तु यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधि-

---

हेतोराभासा इति व्युत्पत्त्या हेत्वाभासपदस्य हेतुदोषपरत्वमभिप्रेत्य हेतुदोषलक्षणमाह—तल्लक्षणमिति।

यद्विषयकत्वेनेत्यत्र तृतीयार्थोऽवच्छेदकत्वं ज्ञानस्येत्यत्र षष्ठ्या निष्ठत्वमर्थः विरोधित्वं प्रतिबन्धकत्वम्। तथा च ज्ञानवृत्तित्वविशिष्टयद्विषयकत्वावच्छिन्नप्रकृता-

---

अनैकान्त (सव्यभिचार), विरुद्ध, असिद्ध, प्रतिपक्षित (सत्प्रतिपक्ष) और कालात्ययापदिष्ट (बाधित)।

विमर्श—हेत्वाभास पढ़ने के पूर्व यह समझ लेना चाहिए कि हेतु तीन प्रकार के होते हैं। अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि और केवलव्यतिरेकि। जिसमें अन्वयव्यतिरेकि पंचरूपों से युक्त होकर ही साध्य का साधन कर सकता है। वे पाँच रूप हैं। (१) पक्षसत्त्व, (२) सपक्षसत्त्व, (३) विपक्षासत्त्व, (४) अबाधितविषयत्व और (५) असत्प्रतिपक्षितत्व। **केवलान्वयि** तो चार ही रूप से युक्त होता है। उसके विपक्ष तो होता ही नहीं। **केवलव्यतिरेकी** भी चार रूपों से युक्त होता है क्योंकि उसमें सपक्ष नहीं होता। इस प्रकार इन्हीं रूपों में से कतिपय रूपों से युक्त होने के कारण कुछ हेतु की भाँति प्रतीत होने लगते हैं। अतः वे हेत्वाभास कहे जाते हैं। **अनैकान्तिक में** विपक्ष सत्त्व का अभाव, **विरुद्ध** में सपक्ष सत्त्व का अभाव, **असिद्ध** में पक्षसत्त्व का अभाव, सत्प्रतिपक्ष में असत्प्रतिपक्षितत्व का अभाव और **बाध में** अबाधित्व का अभाव है।

हेत्वाभास शब्द के **दो** प्रकार के अर्थ हैं। **एक तो** 'हेतोः आभासाः हेत्वाभासाः इस प्रकार समास करने से हेतु के आभास अर्थात् दोष यह अर्थ जाना जाता है और **दूसरा** 'हेतुवत् आभासन्ते' इति हेत्वाभासाः अर्थात् हेतु के सदृश जान पड़ते हैं वस्तुतः हेतु नहीं है किन्तु दुष्ट हेतु हैं।

जिसमें **पहला** अर्थ मानकर **हेतुदोष** का लक्षण इस प्रकार है **"यद्विषयक (व्यभिचार, विरोध, असिद्ध, सत्प्रतिपक्ष और बाधविषयक) ज्ञान अनुमिति का विरोधी हो वह विषय हेत्वाभास (हेतुदोष) होता है।** जैसे 'ह्रदो वह्निमान्' इस स्थल में 'वह्न्यभाववान् ह्रदः' यह बाध निश्चय प्रतिबन्धक है। अर्थात् वह्न्यभाववद्ह्रद विषयक बाधज्ञान 'ह्रदो वह्निमान्' इस अनुमिति का विरोधी है। अतः 'वह्न्यभाववद्ह्रद्' यह दोष है। इसी प्रकार 'यह हेतु व्यभिचारी है यह व्यभिचार आदि दोष कहे जाते हैं।

विशेष—'यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वं तत्त्वं हेत्वाभासत्वम्' इस हेत्वाभास के लक्षण में "यद्विषयकत्वेन' इस पद में तृतीया विभक्ति का अर्थ है 'अवच्छेदकत्व' और

त्वं तत्त्वम् । तथाहि—व्यभिचारादिविषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधि-

---

नुमितिनिष्ठप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकता तत्त्वम् हेत्वाभासत्वम्, 'ह्रदो वह्निमान्' इत्यनुमितौ 'वह्न्यभाववान् ह्रद' इति बाधनिश्चयः प्रतिबन्धकः। तथा च प्रकृतानुमितिः 'ह्रदो वह्निमान्' इत्याकारिका सा च प्रतिबध्या, इति प्रतिबध्यता तन्निष्ठा तन्निरूपिता प्रतिबन्धकता 'वह्न्यभाववान् ह्रदः' इति ज्ञाने तत्र च वह्न्यभाववद्ध्रदविषयकत्वं वर्तते इति प्रतिबन्धकता वह्न्यभाववद्ध्रदविषयकत्वावच्छिन्ना तत्त्वं वह्न्यभाववद्ध्रद इति तस्य दोषत्वम्, एवं पर्वतो धूमवान् वह्नेरित्यत्र धूमाभाववद्वृत्तिवह्नेर्दोषत्वम् । तथा हि–हेत्वाभासलक्षणेऽनुमितिपदमनुमितितत्करणान्यतरपरम् इति प्रकृतानुमितिकरणं धूमाभाववदवृत्तिर्वह्निरिति व्याप्तिज्ञानं तन्निष्ठप्रतिवध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकता 'धूमाभाववद्वृत्तिर्वह्नि' इति निश्चये तदवच्छेदकं धूमाभाववद्वृत्तिवह्निविषयकत्वमिति धूमाभाववद्वृत्तिवह्निर्व्यभिचारदोष इति ।

नन्वत्रावच्छेदकता यदि स्वरूपसम्बन्धरूपा तदा ह्रदो वह्न्यभाववान् इति ज्ञानीयवह्न्यभावविषयकत्वे स्वरूपसम्बन्धरूपावच्छेदकत्वसत्त्वात् वह्न्यभावे दोषलक्षणातिव्याप्तिरतोऽनतिरिक्तवृत्तित्वरूपा विवक्षणीया। तथा च वह्न्यभावविषयकत्वस्य

'ज्ञानस्य' इसमें षष्ठी विभक्तिका अर्थ है निष्ठत्व (वृत्तित्व) और 'विरोधित्व' का अर्थ "प्रतिबन्धकत्व' है। इस प्रकार 'ज्ञानवृत्तित्वविशिष्टयद्विषयकत्वावच्छिन्नप्रकृतानुमितिनिष्ठप्रतिवध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकता तत्त्वं हेत्वाभासत्वम्' उक्त लक्षणका तात्पर्य सिद्ध हुआ। इस प्रकार 'ह्रदो वह्निमान्' इस अनुमितिमें 'वह्न्यभाववान् ह्रदः। यह बाध निश्चय प्रतिबन्धक है। जैसे—प्रकृत अनुमिति 'ह्रदो वह्निमान्' यह अनुमिति प्रतिबध्य है। अतः उसमें प्रतिबध्यता है, इस प्रतिबध्यतासे निरूपिता प्रतिबन्धकता 'वह्न्यभाववान् ह्रदः' इस ज्ञान में है और वहीं 'वह्न्यभाववद् ह्रद विषयकत्व भी है। इस प्रकार 'वह्न्यभाववान् ह्रदः' इस ज्ञानमें वृत्ति और वह्न्यभाववद्ध्रद विषयकत्वावच्छिन्ना प्रकृतानुमिति 'ह्रदो वह्निमान्' में वर्तमान प्रतिबध्यतासे निरूपिता 'वह्न्यभाववान् ह्रदः' में वर्तमान प्रतिबन्धकता है ? अतः 'वह्न्यभाववद् ह्रद' यह उक्त अनुमितिमें दोष कहा जाता है।

'अवच्छेदकता' दो प्रकारकी होती है। एक तो स्वरूपसम्बन्धरूपा और दूसरी 'अनतिरिक्तवृत्तित्वरूपा'। उक्त लक्षणमें जो तृतीयार्थ 'अवच्छेदकत्व' है वह यदि स्वरूपसम्बन्धरूप मान लिया जाय तब 'ह्रदो वह्निमान्' इस अनुमितिमें 'ह्रदो वह्न्यभाववान्' इस ज्ञानमें वह्न्यभावविषयकत्व तथा ह्रदविषयकत्व भी है जिससे स्वरूपसम्बन्धरूप अवच्छेदकत्वह्न्यभावविषयकत्वमें रहने से 'वह्नभाव' में भी दोष के लक्षणकी अतिव्याप्ति होगी। अतः अनतिरिक्त वृत्तित्वरूप 'अवच्छेदकत्व' मानना चाहिए। जिससे उक्त स्थलमें दोष नहीं होगा

त्वात्ते दोषाः। यद्विषयकत्वं च यादृशविशिष्टविषयकत्वम्, तेन बाधभ्रमस्यानुमितिविरोधित्वेऽपि न क्षतिः। तत्र पर्वतो वह्न्यभाववानिति विशिष्टस्याऽसिद्धत्वान्न हेतुदोषः।

ह्रदो वह्निमान् इत्यनुमित्यप्रतिबन्धके वह्न्यभाव इति ज्ञाने सत्त्वेन अनुमितिप्रतिबन्धकतातिरिक्तवृत्तितया अनतिरिक्तवृत्तित्वरूपावच्छेदकत्वाभावेन वह्न्यभावेऽतिव्याप्तिवारणेऽपि 'विशिष्टं शुद्धान्नातिरिच्यत' इति न्यायेन वह्न्यभाववद्ध्रदस्य ह्रदानतिरेकात् ह्रदविषयकत्वस्य ह्रदो वह्निमान् इत्यनुमित्यप्रतिबन्धके ह्रद इत्याकारके ज्ञाने सत्त्वेन ह्रदविषयकत्वस्य अनुमितिप्रतिबन्धकतातिरिक्तवृत्तित्वे वह्न्यभाववद्ध्रदविषयकत्वस्य प्रतिबन्धकत्वानतिरिक्तवृत्तित्वस्य दुर्वचतया वह्न्यभाववद्ध्रदेऽव्याप्तेः। अतो यद्विषयकत्वमित्यस्यार्थमाह मूले–यादृशविशिष्टविषयकत्वमिति। तस्य यद्रूपावच्छिन्नविषयकत्वमिति, तत्त्वमित्यस्य च तद्रूपावच्छिन्नत्वमित्यर्थः। तेन 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यनुमितौ 'पर्वतो वह्न्यभाववान्' इति बाधभ्रमस्यानुमितिप्रतिबन्धकत्वेऽपि सा प्रतिबन्धकता न वह्न्यभाववत्पर्वतत्वावच्छिन्नविषयकत्वावच्छिन्ना वह्न्यभाववत्पर्वतस्यैवाप्रसिद्धेः। तथा च ज्ञानवृत्तित्वविशिष्टयद्रूपावच्छि-

---

क्योंकि वही अवच्छेदक होगा जो पक्षसे अन्यत्र न रहे ? वह्न्यभावविषयकत्व तो 'वह्न्यभाव' ज्ञानमें है। यह ज्ञान अनुमितिका प्रतिबन्धक नहीं है। अतः अतिव्याप्ति वारण कर सकते हैं। किन्तु 'विशिष्ट शुद्धसे अतिरिक्त नहीं है' इस न्यायके आधार पर 'वह्न्यभाववद्-ह्रद' यह ज्ञान शुद्ध 'ह्रद' इस ज्ञानसे अतिरिक्त होगा नहीं और 'ह्रदविषयकत्व' 'ह्रदः' इस ज्ञानमें भी है। जो ज्ञान 'ह्रदो वह्निमान्' इस अनुमितिका प्रतिबन्धक नहीं है। इस प्रकार 'ह्रदविषयकत्व' अनुमितिप्रतिबन्धकतासे अतिरिक्त वृत्ति होता है फिर वह्न्यभाववद्-ह्रदविषयकत्वको प्रतिबन्धकतानतिरिक्त वृत्ति बनाना दुष्कर होगा तथा वह्न्यभाववद्ह्रदमें अव्याप्ति भी होगी।

अतः यद्विषयकत्वका 'यादृशविशिष्टविषयकत्व' अर्थ करना चाहिए और इसका 'यद्रूपावच्छिन्नत्व' अर्थ तथा 'तत्त्वम्' का 'तद्रूपावच्छिन्नत्व' अर्थ मानना चाहिए। इस प्रकार 'ज्ञानवृत्तित्वविशिष्टयद्रूपावच्छिन्नविषयकत्व प्रकृतानुमितिनिष्ठप्रतिवध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकतानतिरिक्तवृत्ति तद्रूपावच्छिन्नत्वं हेत्वाभासत्वम्' यह अर्थ हुआ। अतएव 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमितिमें 'पर्वतो वह्न्यभाववान्' इस रूपमें बाधका भ्रम अनुमितिका प्रतिबन्धक है। फिर भी यह प्रतिबन्धकता वह्न्यभाववत्पर्वतत्वावच्छिन्नविषयकत्वावच्छिन्ना' नहीं। क्योंकि वह्न्यभाववत पर्वत अप्रसिद्ध है। तात्पर्य यह है 'वह्निमान्' ज्ञानका वह्न्यभाववान् ज्ञान प्रतिबन्धक है। चाहे वह यथार्थ हो या भ्रम। किन्तु भ्रमस्थल में हेत्वाभासका लक्षण नहीं समन्वित होगा। क्योंकि यद्विषयकत्वका अर्थ यद्रूपावच्छिन्नविषयकत्व होता है। यदि यद्विषयकत्व ही लक्षण हो तो वह्न्यभावविषयकत्व' भ्रममें भी है अतः अतिव्याप्ति होती।

न च वह्न्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववानितिपरामर्शकाले वह्निव्याप्यधूमस्याभासत्वं न स्यात्तत्र वह्न्यभावव्याप्यवान्पक्ष इति विशिष्टस्याप्रसिद्धत्वादिति वाच्यम्,

---

त्वविषयकत्वावच्छिन्नानुमितिप्रतिबन्धकता तद्रूपावच्छिन्नत्वं हेत्वाभासत्वमिति लभ्यते। एवं च ह्रदस्य वह्न्यभाववद्ध्रदानतिरेकेऽपि ह्रदत्वावच्छिन्नविषयतातो वह्न्यभाववद्ध्रदत्वावच्छिन्नविषयताया भेदेन वह्न्यभाववद्ध्रदत्वावच्छिन्नविषयकत्वस्य प्रतिबन्धकतानतिरिक्तवृतितया नाव्याप्तिः।

ननु ज्ञानवृत्तित्वविशिष्टयद्रूपावच्छिन्नविषयकत्वं प्रकृतानुमितिनिष्ठप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकतानतिरिक्तवृत्तितद्रूपावच्छिन्नत्वस्य हेत्वाभासलक्षणत्वे 'ह्रदो वह्निमान् न वे'ति संशये भाविज्ञानमप्रमा इति अप्रामाण्यनिश्चयास्कन्दिते 'ह्रदो वह्न्यभाववान्' इति बाधनिश्चये 'वह्न्यभाववान् ह्रदो वह्निमान्' इति आहार्यनिश्चये च वह्न्यभाववद्ध्रदत्वावच्छिन्नविषयकत्वस्य सत्त्वात्। तत्र चानुमितिप्रतिबन्धकत्वस्यासत्त्वादसम्भव इति चेन्न—ज्ञानपदस्य आनाहार्याप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितनिश्चयपरत्वेनादोषात्। प्रकृतलक्षणेऽवच्छेदकता च अनतिरिक्तवृत्तित्वरूपा गृह्यते एवं च अनाहार्याप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितनिश्चयवृत्तित्वविशिष्टयद्रूपावच्छिन्नविषयता प्रकृतानुमितिनिष्ठप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकताऽनतिरिक्तवृत्तिः तद्रूपवत्त्वं लक्षणं पर्यवसन्नम्।

नचेति। 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' इति परामर्शकाले 'वह्न्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववान् पर्वत' इति परामर्शे सति धूमहेतोरसत्प्रतिपक्षत्वं न स्यात् वह्न्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववत्पर्वतरूपविषयस्याप्रसिद्धेरिति भावः।

यद्रूपावच्छिन्नविषयकत्व कहनेसे कोई दोष नहीं है। क्योंकि यद्रूपपदसे 'वह्न्यभाववत् पर्वत' रूप लिया जायगा, जो अप्रसिद्ध है। अतः भ्रममें अतिव्याप्ति नहीं होती।

इतने पर भी यदि 'ह्रदो वह्निमान् न वा' इस संशय के बाद 'भावि ज्ञानमप्रमा' इस बाधनिश्चय के साथ 'ह्रदो वह्न्यभाववान्' इस रूप के बाधनिश्चय में तथा 'वह्न्यभाववान् ह्रदो वह्निमान्' इस रूप के आहार्य निश्चयमें भी 'वह्न्यभाववद्ध्रदत्वावच्छिन्नविषयकत्व' तो है। किन्तु अनुमितिकी प्रतिबन्धकता नहीं है। अतः उक्त लक्षणमें असम्भव दोष होगा यह कहा जाय तब उक्त लक्षणमें ज्ञान पदका 'अनाहार्याप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितनिश्चय' माननेसे तथा 'अनतिरिक्तवृत्तित्वरूप' अवच्छेदकत्व स्वीकार करनेसे दोष नहीं होगा। इस प्रकार **'अनाहार्याप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितनिश्चयवृत्तित्वविशिष्टयद्रूपावच्छिन्नविषयता प्रकृतानुमितिनिष्ठप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकतानतिरिक्तवृत्तिः तद्रूपावच्छिन्नत्वम् हेत्वाभासत्वम्'** यह हेत्वाभासका सामान्य लक्षण हुआ।

इष्टापत्तेः, अन्यथा बाधस्याप्यनित्यदोषत्वापत्तेः। तस्मात्तत्र वह्न्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववानितिपरामर्शकाले वह्निव्याप्यधूमस्य नाभासत्वम्, भ्रमादनुमितिप्रतिबन्धमात्रं हेतुस्तु न दुष्टः।

इत्थं च साध्याभाववद्वृत्तिहेत्वादिकं दोषः। तद्वत्त्वं च हेतौ येन केनापि सम्बन्धेनेति नव्याः।

ननु वह्न्यभाववद्ध्रदरूपबाधस्य जलादिहेतावसत्त्वात्तस्य दुष्टत्वव्यवहारो न स्यादत आह—तद्वत्त्वं चेति। अयं भावः 'वह्न्यभाववान् ह्रदः जलं च' इति ज्ञाने एकज्ञानविषयप्रकृतहेतुतावच्छेदकवत्त्वसम्बन्धेन वह्न्यभाववद्ध्रदरूपबाधो जलादिहेतौ वर्तते इति तत्र बाधितत्वव्यवहारे नत्यभाव इति।

यदि 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' इस परामर्शकालमें 'वह्न्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववान् पर्वत' इस प्रकारका परामर्श हो तो 'धूम' हेतुमें सत्प्रतिपक्षित नहीं कहा जायगा। क्योंकि 'वह्न्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववत् पर्वत' ही अप्रसिद्ध है यह कहा जाय तब भी कोई हानि नहीं। क्योंकि प्रतिद्वन्द्वी परामर्शभ्रम होने पर भी सद्हेतु दुष्ट नहीं होते। अतः धूम हेतुका दुष्ट न होना ही अच्छा है। यदि सत्प्रतिपक्षस्थलमें अव्याप्तिकी आशंकासे 'यादृशविशिष्ट विषयकत्व' नहीं कहते तो बाधभ्रममें भी अतिव्याप्तिके भयसे बाध अनित्यदोष हो जायगा। वास्तवमें बाध नित्यदोष है।

इसलिए 'वह्निव्याप्यपाषाणमयत्व वाला यह पर्वत है' इस रूपके परामर्शकालमें 'वह्निव्याप्यधूम' सत्प्रतिपक्ष नामका हेत्वाभास नहीं है। हाँ भ्रमके कारण अनुमिति का प्रतिबन्ध मात्र हो जाता है। हेतु तो दुष्ट नहीं होता।

इस प्रकार साध्याभावके अधिकरणमें वर्तमान हेतु ही दोष है। हेतुमें दुष्टत्व तो जिस सम्बन्धसे जहाँ उपयुक्त हो वहीं मान लिया जायगा। **जैसे** 'धूमवान् वह्नेः' इस व्यभिचार स्थलमें 'साध्याभाव = धूमाभावके अधिकरण अयोगोलकमें विद्यमान वह्नि दोष है। उसमें तादात्म्य सम्बन्धसे दोषवत्त्व भी है। 'ह्रदो वह्निमान् जलात्' इस बाधस्थलमें वह्न्यभाववद्ध्रदरूप बाध जल आदि हेतुमें है नहीं। अतः जल हेतुमें दुष्टत्व व्यवहार नहीं होगा यह भी कहना ठीक नहीं। क्योंकि 'वह्न्यभाववान् ह्रदः जलं च' इस समूहालम्बनात्मक ज्ञानमें 'एक ज्ञानविषयप्रकृत हेतुतावच्छेदकवत्व सम्बन्धसे वह्न्यभाववद्ध्रद रूप बाध जल आदि हेतुमें है। अतः 'जल हेतु बाधित है' यह व्यवहार बनता है। यह **नव्यनैयायिकोंका** मत है।

परे तु यद्विषयकत्वेन ज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वं तद्वत्त्वं हेत्वाभासत्वम् , सत्प्रतिपक्षे विरोधिव्याप्त्यादिकमेव तथा, तद्वत्त्वं च हेतोर्ज्ञानरूपसम्बन्धेन । न चैवं वह्निमान् धूमादित्यादौ पक्षे बाधभ्रमस्य साध्याभावविषयकत्वेनानुमितिविरोधित्वाज्ज्ञानरूपसम्बन्धेन तद्वत्त्वस्यापि सत्त्वा-

---

हेतुवदाभासन्त इति व्युत्पत्त्या हेत्वाभासपदस्य दुष्टहेतुपरत्वमभिप्रेत्य सत्प्रतिपक्षस्यानित्यदोषतामभ्युपगन्तॄणां मतमाह—परे त्विति। बाधभ्रमे बाधितत्वव्यवहारो न भवति सत्प्रतिपक्षभ्रमे तु सत्प्रतिपक्षित इति व्यवहारो भवति इति बाधितः सत्प्रतिपक्षित इति व्यवहारयोः स्वानुभवमात्रसाक्षिकत्वम् आहुरित्यस्वरसबीजम् ।

प्राचीन नैयायिक जो लोग 'हेतुवदाभासन्ते' इस रूपमें विग्रह समझकर 'हेत्वाभास' शब्द का अर्थ दुष्ट हेतु करते हैं। उनके अनुसार हेत्वाभासका लक्षण कहते हैं कि 'यद्विषयक अर्थात् (जिस दोषविषयक) ज्ञान अनुमितिका विरोधी तद्वत्व दुष्टहेतुत्त्व' (हेत्वाभासत्व) मानते हैं। अथोत् 'ज्ञानवृत्तित्वविशिष्टयद्विषयकत्वावच्छिन्नानुमितिप्रतिबन्धकता तद्वत्त्वं हेत्वाभासत्वम्' इस लक्षणमें स्वरूप सम्बन्धरूप अवच्छेदकता मानी जायगी। सत्प्रतिपक्षस्थलमें (जैसे—पर्वतो वह्निमान् धूमात्, पर्वतो वह्न्यभाववान् पाषाणमयत्वात्) विरोधिव्याप्ति अथवा विरोधी परामर्श ही दोष है। इस पक्षमें 'यादृशविशिष्टविषयकत्व' का भी निवेश नहीं किया जायगा। दोषवत्त्व हेतुमें ज्ञानरूप सम्बन्धमें माना जायगा। जैसे **'एकज्ञान विषयप्रकृतहेतुतावच्छेदकवत्त्व** ही ज्ञानरूप सम्बन्ध है। समन्वय–जैसे 'वह्न्यभाववदन्यावृत्तित्वं धूमश्च' इस समूहालम्बनरूप एक ज्ञानका विषय तथा प्रकृत हेतुतावच्छेदक धूमत्ववत्त्व धूम है। धूमको दुष्ट मान लिया गया है। तथा भ्रम मिट जाने पर अनुमिति होती भी है। (अतः इनके मतसे सत्प्रतिपक्ष अनित्य दोष माना गया है)।

यहाँ पहले लक्षणमें कहे गयेके अनुसार 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस स्थलमें किसीको 'वह्न्यभाववान् पर्वतः' इस प्रकार बाध भ्रम हो और वह साध्याभावविषयक होनेके कारण अनुमितिका प्रतिबन्धक हो तथा ज्ञानरूप सम्बन्धसे दोषवत्त्व भी धूमरूप हेतुमें हो तब तो 'यह हेतु बाधित है' इस प्रकार कहा जा सकता था; किन्तु यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इस स्थलमें 'बाधकालीन धूमादि सद्हेतुओंमें ज्ञानरूप सम्बन्धकी कल्पना नहीं की जाती'। कारण यह है कि यहाँ **सत्प्रतिपक्षस्थलमें** विरुद्ध परामर्शकी कल्पना कालमें धूम आदि सत् हेतुओंका **'सत्प्रतिपक्षित'** इस प्रकारका व्यवहार होनेसे ज्ञानरूप सम्बन्धकी कल्पना होती है। **बाधस्थलमें** तो 'बाधितः' यह ज्ञान नहीं होता। अतः ज्ञानरूप सम्बन्धकी कल्पना नहीं की जा सकती है।

त्तद्धेतोरपि बाधितत्वापत्तिरिति वाच्यम् , तत्र ज्ञानस्य सम्बन्धत्वाकल्पनात् , अत्र सत्प्रतिपक्षित इति व्यवहारेण तत्कल्पनात् , तत्र बाधित इति व्यवहाराभावादित्याहुः ।

अनुमितिविरोधित्वं च अनुमितितत्करणान्यतरविरोधित्वम् । तेन व्यभिचारिणि नाव्याप्तिः । दोषज्ञानं च यद्धेतुविषयकं तद्धेतुकानुमितौ

ननु 'ह्रदो वह्निमान्' इत्यनुमितिविरोधित्वं 'ह्रदो वह्न्यभाववान्' इति बाधबुद्धेरेव न तु वह्न्यभाववदवृत्तिजलमिति व्यभिचारबुद्धेरिति व्यभिचारे हेत्वाभासलक्षणाव्याप्तिरत आह—अनुमितितत्करणेति। एवं च बाधबुद्धेरनुमितिविरोधित्वाद्व्यभिचारबुद्धेश्च अनुमितिकरणव्याप्तिज्ञानविरोधित्वात् तयोर्लक्षणसमन्वय इति भावः।

ननु व्यभिचारबुद्धेरपि अनुमितिविरोधित्वमस्तु किमिति अनुमितिपदस्य अनुमितितत्करणान्यतरपरत्वमास्थीयते इत्यत आह—दोषज्ञानं चेति। अयं भावः

यदि यह कहा जाय कि 'ह्रदो वह्निमान' इस अनुमितिका 'ह्रदो वह्न्यभाववान्' यह बाध विरोधी है किन्तु 'वह्न्यभाववद्वृत्तिजलम्' इस व्यभिचार बुद्धिका विरोधी नहीं है, जिससे हेत्वाभासका अनुमितिविरोधित्व लक्षण व्यभिचारमें नहीं समन्वित होगा। तो ठीक नहीं। क्योंकि 'अनुमिति विरोधित्व' का अर्थ है 'अनुमितिका विरोधी अथवा अनुमितिकरण व्याप्ति ज्ञानका विरोधी' इस प्रकार बाध बुद्धि अनुमितिकी विरोधी है और व्यभिचारबुद्धि अनुमिति करण (व्याप्तिज्ञान) की विरोधा है। अतः 'धूमवान् वह्नेः' इस व्यभिचारी स्थलमें अव्याप्ति नहीं हुई। अन्यथा अव्याप्ति होती। जैसे ज्ञानवृत्तित्वविशिष्ट यद्विषयकत्वावच्छिन्न-धूमाभाववद्वह्निविषयकत्वावच्छिन्न किसी अनुमितिका प्रतिबन्धक है नहीं। फिर लक्षण समन्वित न होता। करण-निवेश करनेसे तो प्रकृत अनुमितिका करण 'धूमाभाववदवृत्तिर्वह्निः' इस व्याप्तिज्ञान में वर्तमान जो प्रतिबध्यता उससे निरूपित प्रतिबन्धकता 'धूमाभाववद्वृत्तिःवह्निः' इस निश्चयमें हैं उसका अवच्छेदक धूमाभाववद्वृत्तिवह्निविषयकत्व हुआ। इसलिए 'धूमाभाववद् वृत्तिर्वह्निः' यह व्यभिचार नामका दोष हुआ।

इस दोषसे बचनेके लिए व्यभिचार-बुद्धिको साक्षात् अनुमितिका प्रतिबन्धक नहीं मान सकते। क्योंकि जिस हेतुमें दोषज्ञान हो उसीको हेतु मानकर अनुमिति नहीं होती। अर्थात् जिसमें दोषज्ञान हो उसी हेतु से अनुमितिका प्रतिबन्धक है। इसलिए एकहेतुके व्यभिचारज्ञान होने पर भी दूसरे हेतुसे अनुमिति होती है। तात्पर्य यह है कि 'पर्वतो वह्निमान् द्रव्यत्वात्' इस स्थलमें 'वह्न्यभाववद्वृत्तिद्रव्यत्व' रूप व्यभिचारज्ञान होने पर भी धूमको हेतु मानकर 'पर्वतो वह्निमान्' यह अनुमिति होती है।

अनुमिति होनेमें दूसरा यह भी कारण है कि व्यभिचार ज्ञान साध्याभावसे सम्बद्ध नहीं है इसलिए साध्यवत्ता बुद्धिका प्रतिबन्धक भी नहीं है अतः व्यभिचार बुद्धि

प्रतिबन्धकं तेनैकहेतौ व्यभिचारज्ञाने हेत्वन्तरेणानुमित्युत्पत्तेः, तदभावाद्यनवगाहित्वाच्च व्यभिचारज्ञानस्यानुमितिविरोधित्वाभावेऽपि न क्षतिरिति सङ्क्षेपः।

यादृशसाध्यपक्षहेतौ यावन्तो दोषास्तावदन्यान्यत्वं तत्र हेत्वाभासत्वम्। पञ्चत्वकथनन्तु तत्सम्भवस्थलाभिप्रायेण।

'पर्वतो वह्निमान् द्रव्यत्वात्' इत्यत्र वह्न्यभाववद्वृत्तिद्रव्यत्वरूपव्यभिचारज्ञानेऽपि धूमहेतुका 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यनुमितिर्भवति; किं च व्यभिचारबुद्धेः साध्याभावावगाहित्वाभावान्न साध्यवत्ताबुद्धिप्रतिबन्धकत्वमिति; न व्यभिचारबुद्धेरनुमितिप्रतिबन्धकत्वमतोऽनुमितिपदस्य अनुमितितत्करणान्यतरपरत्वोपवर्णनं युक्तमेवेति मन्तव्यम्।

ननु 'निर्वह्निपर्वतो वह्निमान्' इत्यनुमितौ न कोऽपि हेत्वाभासः स्यात् 'निर्वह्निपर्वतो वह्निमान्' इत्याहार्यानुमितेरप्रसिद्ध्या तन्निष्ठप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकत्वस्य कुत्राप्यसत्त्वादत आह—यादृशसाध्यपक्षेति। तद्धर्मावच्छिन्नसाध्यपक्षकानुमितित्वेन किमुद्दिश्यन्यायप्रयोगे यद्धर्मावच्छिन्ने दोषव्यवहारः सम्प्रदायसिद्धस्तावदन्यान्यत्वं तत्रत्यदोषसामान्यलक्षणम्। एवं च 'निर्वह्निपर्वतो वह्निमान् धूमादि'त्यत्र अनुमितेरप्रसिद्धावपि अस्मिन्लक्षणेऽनुमितेरप्रवेशान्न क्षतिः, प्रकृते च वह्निविशिष्टपर्वतरूपाश्रयासिद्धौ धूमाभावविशिष्टनिर्वह्निरूपस्वरूपासिद्धौ दोषव्यवहारः इष्ट इति। 'वायुर्गन्धवान् स्नेहादि'त्यत्र सर्वहेत्वाभाससम्भवः। स्वविरुद्धधर्मधर्मितावच्छेदकस्वप्रकारकज्ञानमाहार्यज्ञानम्।

अनुमितिकी प्रतिबन्धक भी नहीं है। तात्पर्य यह कि व्यभिचार ज्ञान व्याप्तिज्ञानको रोकता है। अन्यको नहीं। **यह हेत्वाभासका संक्षिप्त विवेचन समाप्त।**

यद्यपि 'निर्वह्निपर्वतो वह्निमान्' इस अनुमितिमें कोई हेत्वाभास नहीं होगा। क्योंकि आहार्य अनुमिति होती नहीं। फिर प्रतिबध्य और प्रतिबन्धक भी कोई नहीं है। इसलिए पाँचसे अधिक हेत्वाभासकी कल्पना होनी चाहिए। और **'जिस प्रकारके पक्ष साध्य और हेतुमें अनुमितिकी इच्छासे न्यायका प्रयोग करने पर जिस रूपमें दोषव्यवहार सम्प्रदाय सिद्ध हो उतने दोषोंसे भिन्न जो कोई उनसे भिन्न होना ही हेत्वाभासत्व है'** यह दीपनिकारका लक्षण ही मानना चाहिए। इसलिए निर्वह्निः पर्वतो वह्निमान् इस स्थलमें साध्यतावच्छेदकमात्रावच्छिन्न साध्य प्रकारक पक्षतावच्छेदकवच्छिन्न पक्षविशेष्यक बोधजनक प्रतिज्ञावाक्यमें निर्वह्निपर्वतो वह्निमान् इस प्रयोगमें 'पक्षतावच्छेदकाभाववान् पक्षः' यह दोष व्यवहार सम्प्रदाय सिद्ध है उससे भिन्न जगत्, जगत्से भिन्नत्व इस आश्रयसिद्धिमें होनेसे दोषका लक्षण समन्वित होता है। तथापि पाँच प्रकारका हेत्वाभास कहना केवल

एवञ्च साधारणाद्यन्यतमत्वमनैकान्तिकत्वम्। साधारणः साध्यवदन्यवृत्तिः, तेन च व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धः क्रियते। असाधारणः साध्यासमानाधिकरणो हेतुः, तेन साध्यसामानाधिकरण्यग्रहः प्रतिबध्यते। (यथा शब्दो नित्यः शब्दत्वादित्यादावसाधारण्यं शब्दोऽनित्यः शब्दत्वादित्यादौ त्वसाधारण्यभ्रमः)।

तेन चेति। साध्यवदन्यावृत्तित्वरूपव्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धः क्रियते इति।

साध्यसामानाधिकरण्यग्रह इति। हेतुसमानाधिकरणाभावप्रतियोगितानवच्छेदकसाध्यतावच्छेदकावच्छिन्नसाध्यसामानाधिकरण्यरूपव्याप्तिग्रहः प्रतिबध्यते इति भावः, अनुपसंहारी च साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वरूपव्यतिरेकव्याप्तिग्रहं प्रतिबध्नाति। एवं च साधारणासाधारणानुपसंहारिणां त्रयाणामपि अव्यभिचारग्रहप्रतिबन्धकतया एकरूपेण (अनैकान्तिकत्वेन) हेत्वाभासतेति ध्येयम्।

पक्षे साध्यसन्देहदशायामेव असाधारणस्य हेत्वाभासता न तु निश्चयदशायां तदानीं पक्षस्यैव निश्चितसाध्यवत्त्वेन सपक्षतया सपक्षव्यावृत्तत्वस्य हेतोरभावादित्यसाधारणस्यानित्यदोषतावादिमत आह—अन्ये त्विति। नीलपटावृत्तित्वज्ञानस्य घटवत्ताज्ञाने इव निश्चितसाध्यवदवृत्तित्वरूपासाधारण्यज्ञानस्य साध्यसामानाधिक-

---

स्थलोंकी सम्भावना मात्र में है। जो विरुद्ध धर्म हो उसे अपना धर्म मानकर व्यवहार करना ही **आहार्य ज्ञान है'**

इसी प्रकार **साधारण, असाधारण** और **अनुपसंहारी** इन तीनों में अन्यतमको अनैकान्तिक (व्यभिचार) नामका हेत्वाभास कहते हैं।

साधारण—साध्यवदन्यवृत्ति हेतुको साधारण कहते हैं। अर्थात् साध्यके अधिकरणसे भिन्न स्थानमें भी रहने वाले हेतुको साधारण नामके व्यभिचारसे युक्त मानते हैं। जैसे 'धूमवान् वह्नेः' इस स्थलमें धूमरूपी साध्यके अधिकरणसे भिन्न तप्त लौह पिण्डमें वह्निरूपी हेतु रहता है। अतः धूमके साधनेमें वह्नि हेतु नहीं बन सकता। यह व्यभिचार ज्ञान व्याप्ति ज्ञानका प्रतिबन्धक है। क्योंकि 'साध्यके अधिकरण से भिन्नमें न रहने वाला हेतु व्याप्तिका आश्रय है। उक्त व्यभिचार ज्ञानसे व्याप्तिज्ञान नहीं होने पाता।

असाधारण—साध्यका असमानाधिकरण जो हेतु वह असाधारण व्यभिचारी होता है। यह ज्ञान सिद्धान्तलक्षणके साध्यसामानाधिकरण्य ग्रहका प्रतिबन्धक है। जैसे 'शब्द नित्य है, क्योंकि उसमें शब्दत्व है' इस स्थलमें शब्दत्वरूप हेतु, नित्यत्वरूपी साध्यके अधिकरण नित्यमें नहीं है। अतः शब्दत्व असाधारण है। यहाँ शब्द पक्ष है, स्वरूप सम्बन्धसे नित्यत्व साध्य है, समवाय सम्बन्धसे शब्दत्व हेतु है। **न्यायके** मतमें शब्द अनित्य है। अतः शब्दत्व हेतुमें असाधारण दोष है। **मीमांसकोंके** मतमें तो 'शब्दः अनित्यः शब्दत्वात्' इस स्थलमें असाधारण दोष होता है। क्योंकि ये शब्दको नित्य मानते हैं।

अन्ये तु सपक्षावृत्तिरसाधारणः। सपक्षश्च निश्चितसाध्यवान्। इत्थञ्च शब्दोऽनित्यः शब्दत्वादित्यादौ यदा पक्षे साध्यनिश्चयस्तदा नासाधारण्यम्–तत्र हेतोर्भिश्चयादिति वदन्ति। अनुपसंहारी चात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यकादिः, अनेन व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धः क्रियते।

विरुद्धस्तु साध्यव्यापकीभूताभावप्रतियोगी, अयं साध्याभावग्रहसामग्रीत्वेन प्रतिबन्धकः। सत्प्रतिपक्षे तु प्रतिहेतुः साध्याभावसाधकः, अत्र तु हेतुरेवेति विशेषः। साध्याभावसाधक एव साध्यसाधकत्वेनोपन्यस्त इत्यशक्तिविशेषोपस्थापकत्वाच्च विशेषः।

रण्यग्रहे प्रतिबन्धकताविरहेण साधारणादित्रयाणामेकहेत्वाभासत्वानुपपत्तिरत्रास्वरसबीजं वदन्तीत्य**नेन सूचितम्।**

व्यतिरेकव्याप्तीति। **साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वस्वरूपा व्यतिरेकव्याप्तिः। केवलान्वयिसाध्यकेऽन्वयव्याप्तिज्ञानादेवानुमितिरिति भावः। विरुद्धस्य साध्याभावग्रहसामग्रीत्वेन साध्याभावोन्नायकतया साध्यवत्ताग्रहविरोधित्वम्।**

नन्वेवं सत्प्रतिपक्षविरुद्धयोरुभयोरपि साध्याभावसाध्यकतया भेदो न स्यादत आह—सत्प्रतिपक्षे त्विति।

और नैयायिक इस स्थलमें असाधारणको भ्रमरूप मानते हैं।

असाधारणको अनित्य दोष मानने वाले **प्राचीनोंका** मत है कि सपक्षमें न रहना असाधारण है। इसका तात्पर्य है कि जब साध्यका सन्देह है उसी समय असाधारण हेत्वाभास है। जब साध्यका निश्चय हो जाता है तब तो पक्ष ही निश्चितसाध्यका अधिकरण बनकर सपक्ष बन जाता है फिर 'सपक्षम अवृत्ति होना' रूपा असाधारण हेतुमें रहता नहीं अतः असाधारण अनित्य दोष है। **सपक्ष** 'जिसमें साध्यका निश्चय हो वह सपक्ष कहलाता है।' इस प्रकार 'शब्दः अनित्यः शब्दत्वात्' इन स्थलोंमें जब साध्यका निश्चय रहता है तब असाधारण दोष नहीं होता क्योंकि वहाँ हेतुका निश्चय ही रहता है हेतुमें सपक्षव्यावृत्तत्व नहीं रहता।' **अनुपसंहारी**—जिसका साध्य, पक्ष और हेतु अत्यन्ताभावका अप्रतियोगी हो वह अनुपसंहारी व्यभिचार है जैसे 'सर्वं, प्रमेयं, वाच्यत्वात्' इस स्थलमें साध्य, पक्ष और हेतुका अत्यन्ताभाव अप्रसिद्ध। अतः ये अत्यन्ताभावके अप्रतियोगी हैं। यह व्यभिचार व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञानका प्रतिबन्धक है। 'जिस हेतुका अभाव साध्याभावका व्यापक हो वह हेतु व्यतिरेक हेतु कहा जाता है।'

विरुद्ध—'साध्यका व्यापक जो अभाव उसका प्रतियोगी हेतु होना विरुद्ध दोष है। जैसे 'शब्दः नित्यः कृतकत्वात्' इस स्थलमें नित्यत्वरूपी साध्यका कृतकत्वाभाव (कार्यत्वाभाव) व्यापक है। तात्पर्य यह है कि साध्याभावका व्याप्य हेतु ही विरुद्ध हेतु है। यह दोष साध्या-

सत्प्रतिपक्षः साध्याभावव्याप्यवान्पक्षः। अगृहीताप्रामाण्यकसाध्यव्याप्यवत्त्वोपस्थितिकालीनागृहीताप्रामाण्यकतदभावव्याप्यवत्त्वोपस्थितिविषयस्तथेत्यन्ये[1]। अत्र च परस्पराभावव्याप्यवत्ताज्ञानात्परस्परानुमितिप्रतिबन्धः फलम्।

अत्र केचित्–यथा घटाभावव्याप्यवत्ताज्ञानेऽपि घटचक्षुःसंयोगे

रत्नकोशकारमतमुपपादयति—अत्रेति। **सत्प्रतिपक्षस्य संशयजनकत्वं दूषकताबीजं, नत्वनुमितिप्रतिबन्धकत्वं तदभावव्याप्यवत्ताज्ञानस्यानुमितिप्रतिबन्धकत्वे मानाभावादिति तेषामाकूतम्।**

भाव ज्ञानकी सामग्रीरूपमें अनुमितिका प्रतिबन्धक है। अर्थात् साध्याभावग्राहक होनेके कारण साध्यवत्ता ज्ञानका प्रतिबन्धक है।

यद्यपि सत्प्रतिपक्षस्थलके समान विरुद्ध भी साध्याभाव साधक ही है तथापि सत्प्रतिपक्ष में प्रतिकूल दूसरा हेतु साध्याभावका साधक है और विरुद्धमें तो हेतु ही साध्याभावका साधक है। सत्प्रतिपक्षकी अपेक्षा एक यह भी विशेषता है कि विरुद्धमें साध्याभावसाधने वाले हेतुको ही साध्यका साधक बनाकर प्रयोग किया गया है जिससे अनुमानके प्रयोग करने वालेकी अशक्तिका भी ज्ञान होता है।

सत्प्रतिपक्ष—रघुनाथ शिरोमणिका मत है, कि 'साध्याभावकी व्याप्ति वाला पक्ष 'सत्प्रतिपक्ष' कहा जाता है। अर्थात् एक हेतुसे किसी पक्षमें कोई वस्तु सिद्ध की जाय वहीं साध्याभावका साधक जो दूसरा हेतु वह सत्प्रतिपक्ष कहा जाता है जैसे 'ह्रदो वह्निमान् धूमात्' इसके बाद 'ह्रदो वह्न्यभाववान् जलात्' इस प्रकारका प्रयोग अनुमितिका प्रतिबन्धक है। यहां दोनों हेतु सत्प्रतिपक्ष दोषसे दुष्ट हो जाते हैं क्योंकि जैसे धूमके साध्य वह्निका अभाव साधने वाला हेतु जल है वैसे जलहेतुके साध्य वह्न्यभावके अभाव (वह्नि) का साधने वाला हेतु धूम है। अतः दोनों ही हेतु सत्प्रतिपक्षित कहे जाते हैं।

सत्प्रतिपक्षके बारेमें **प्राचीनोंका** मत है कि 'अप्रामाण्यज्ञानग्रहशून्य साध्यव्याप्यवत्ता परामर्शकालमें अप्रामाण्यज्ञानग्रहशून्य साध्याभावव्याप्यवत्ता परामर्शके विषयको सत्प्रतिपक्ष कहते हैं। इस प्रकार यहाँ अप्रामाण्यज्ञान रहित साध्यसाधक परामर्श और अप्रामाण्यज्ञान रहित साध्याभावसाधक परामर्शोंसे परस्पर दोनों अनुमितियाँ रुक जाती हैं।

रत्नकोषकारका मत और खण्डन

(**रत्नकोषकारका** मत है कि सत्प्रतिपक्षदोष अनुमितिका प्रतिबन्धक नहीं है किन्तु

---

१. वृक्षः कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्, एवं वृक्षः कपिसंयोगाभाववान् एतद्वृक्षत्वादित्यत्रापि एकस्मिन्नेव हेतौ समन्वयेन सत्प्रतिपक्षव्यवहारापत्तिरित्यस्वरसादाह–अन्ये इति।

सति घटवत्ताज्ञानं जायते, यथा च शङ्खे सत्यपि पीतत्वाभावव्याप्यशङ्खत्ववत्ताज्ञाने; सति पित्तादिदोषे; पीतः शङ्ख इति धीर्जायते, एवं कोटिद्वयव्याप्यदर्शनेऽपि कोटिद्वयस्य प्रत्यक्षरूपः संशयो भवति, तथा सत्प्रतिपक्षस्थले संशयरूपानुमितिर्भवत्येव। यत्र चैककोटिव्याप्यदर्शनं तत्राधि-

---

अनुमितिर्भवत्येवेति। **ननु यद्यपि तद्वत्ताज्ञाने तदभावव्याप्यवत्ताज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वे मानाभावेन परस्परानुमितिप्रतिबन्धः सत्प्रतिपक्षस्थले न सम्भवति तथापि निश्चयोत्पादने क्लृप्तशक्तिकयोस्तद्व्याप्यवत्तातदभावव्याप्यवत्ताज्ञानयोर्मिलितयोः साध्यसंशयहेतुत्वं कल्पनीयमिति गौरवमिति चेन्न। तत्तत्परामर्शस्य तत्तद्विधेयकानुमितित्वमेव कार्यतावच्छेदकं न तु निश्चयत्वमपि तद्घटकं किन्तु**

संशय उत्पन्न कर देता है। अतः दोष कहा जाता है। जो लोग तद्वत्ता ज्ञानके प्रति तदभावव्याप्यवत्ताज्ञानको प्रतिबन्धक मानते हैं उनका मत ठीक नहीं। क्योंकि) जैसे (भूतलमें अन्धकार आदि दोषोंके कारण पहले) 'घटाभावव्याप्यभूतलवत्ता' ज्ञानके हो जाने पर भी (दीपककी सहायतासे) घट और नेत्रके संयोग होने पर 'घटवाला भूतल है' यह ज्ञान उत्पन्न होता है। अर्थात् 'घटाभावव्याप्यवत्ता ज्ञानरूप कारणके रहते भी घटवत्ता ज्ञानाभावरूप कार्य नहीं होता। अतः घटवत्ताज्ञानके प्रति अन्धकारसे युक्त घटाभावव्याप्यवत्ताज्ञानको भी अन्यरूपसे प्रतिबन्धक मानना चाहिए। और जैसे स्वस्थ आँखसे देखे हुए शंखमें 'पीतत्वाभावव्याप्य शंखत्ववान् शङ्खः' इस ज्ञानके होते हुए भी पित्तदोषसे दूषित नेत्रसे 'पीतः शङ्खः' (पीतत्ववान् शंखः) यह बुद्धि होती है। (इसलिए 'पीतत्वाभाव व्याप्यवत्ता ज्ञान' 'पीतत्ववत्ता ज्ञान' का प्रतिबन्धक नहीं है। अतः पीतत्ववत्ता बुद्धिके प्रति पित्तादिदोषके बिना पीतत्वाभाववत्ता बुद्धिको प्रतिबन्धक मानना पड़ता है। इस प्रकार कहीं गुणकी प्रबलतासे कहीं दोषकी प्रबलतासे व्यभिचार होनेके कारण 'तद्वत्ता बुद्धिके प्रति तदभावव्याप्यवत्ता बुद्धि प्रतिबन्धक होती है' यह माना नहीं जा सकता।) इसी प्रकार दूर अथवा अन्धकारमें स्थित दो कोटियोंके व्याप्यदर्शनमें भी (अर्थात् 'स्थाणुत्वके व्याप्यकोटरोंवाला यह है, या 'स्थाणुत्वाभावव्याप्य कर-चरण आदि वाला यह है अथवा पुरुषत्वका व्याप्य कर आदि वाला यह है या पुरुषत्वाभावका व्याप्य कोटर आदि वाला यह है' इस प्रकारके परस्परमें विरोध रखनेवाले परामर्शोंके रहने पर भी) दो कोटियोंका (अर्थात् स्थाणुत्व स्थाणुत्वाभाव कोटिका) 'यह स्थाणु है या नहीं' यह प्रत्यक्षात्मक संशय अथवा पुरुषत्व पुरुषत्वाभाव रूप दो कोटियोंका 'यह पुरुष है या नहीं' यह प्रत्यक्षात्मक संशय होता है। इस प्रकार इन स्थलों पर भिन्न-भिन्न प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव मानना पड़ता है। **वैसे** सत्प्रतिपक्ष स्थलमें भी संशयरूप अनुमिति होती ही है। और (पीतः शंखः) इत्यादि स्थलोंमें जहाँ एक कोटिका व्याप्यदर्शन है वहाँ पित्तादि

कबलतया द्वितीयकोटिभानप्रतिबन्धान्न संशयः। फलबलेन चाधिकसमबलभावः कल्प्यत इति वदन्ति।

तन्न, तदभावव्याप्यवत्ताज्ञाने सति तदुपनीतभानविशेषशाब्दबोधादेरनुदयाल्लौकिकसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यज्ञानमात्रे तस्य प्रतिबन्धकता लाघवात्, न तूपनीतभानविशेषे शाब्द[2]बोधे च पृथक्प्रतिबन्धकतागौरवात्। तथाच प्रतिबन्धकसत्त्वात्कथमनुमितिः ? न हि लौकिकसन्निकर्षस्थले प्रत्यक्षमिव सत्प्रतिपक्षस्थले संशयाकारानुमितिः प्रामाणिकी

एकैकपरामर्शसत्त्वे कोट्यन्तरभासकसामग्र्यभावात् निश्चयात्मिकानुमितिर्भवति उभयपरामर्शसत्त्वे च कारणबलादुभयकोट्योर्विरोधितया भानेऽर्थात्संशयरूपानुमितिर्भवतीति अधिककार्यकारणभावकल्पनाऽभावेन गौरवाभावादिति भावः।

ननु यद्युभयभासकसामग्रीसत्त्वे उभयभानं तदा पित्तादिदोषसत्त्वेऽपि पीतत्वशुक्लत्वोभयस्मृतावुभयोर्भानापत्तिरत आह—फलबलेनेति। **तथा च तत्र पीतत्व-**

दोषके अधिकबल होनेके कारण द्वितीय कोटिके शुक्लत्वका) भान नहीं होता। अतः संशय भी नहीं होता। इस प्रकार फलके बलसे (अर्थात् कार्यके अनुसार) समबलवत्ता और निर्बलता आदिकी कल्पना करते हैं। यह रत्नकोषकार कहते हैं।

किन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि तदभावके (किसी वस्तुके अभावके) व्याप्यवत्ताका ज्ञानके (निश्चयके) रहते उपनीत भान विशेष (अलौकिक ज्ञानलक्षण सन्निकर्षसे जन्य साक्षात्कार), अनुमिति और शाब्दबोध उत्पन्न होता नहीं। इसलिए 'लौकिक सन्निकर्षसे अजन्य, दोष विशेषसे अजन्य तद्वत्ता बुद्धिके प्रति तदभावव्याप्यवत्ता निश्चय प्रतिबन्धक है' इस प्रकार प्रतिबन्धक मानना चाहिए। रत्नकोषकारको तो ज्ञानलक्षणा सन्निकर्षमें तथा शाब्दबोध आदिके विषयमें पृथक्-पृथक् प्रतिबन्धकता माननी पड़ेगी जिससे गौरव होगा। इस प्रकार सत्प्रतिपक्षस्थलमें 'वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' 'वह्न्यभावव्याप्यपाषाणमयत्ववान पर्वतः' दो प्रकारके विरुद्ध परामर्शोंके रहते अनुमिति कैसे हो सकती है ?। यद्यपि सत्प्रतिपक्षस्थलमें 'संशय रूप अनुमिति होती है' यह मानकर ही प्रतिबध्यभागमें संशयाकारानुमित्यन्यत्व विशेषण लगा सकते हैं। जैसे 'लौकिक सन्निकर्षसे अजन्य, दोष विशेषसे अजन्य, संशयात्मक अनुमितिसे अन्य तद्वत्ता बुद्धिके प्रति तदभावव्याप्यवत्ता निश्चय प्रतिबन्धक होता है।' इस प्रकार माननेसे संशयात्मक अनुमिति होने में कोई बाधा नहीं है। तथापि जैसे लौकिक सन्निकर्ष स्थलोंमें (घटवाला यह भूतल है) यह प्रत्यक्ष होता है

---

१. अलौकिकतद्वत्ताबुद्धिं प्रति तदभावव्याप्यवत्ता निश्चयः प्रतिबन्धकः।

२. तद्वत्ताशाब्दबोधं प्रति तदभावव्याप्यवत्ताबुद्धिः पृथक् प्रतिबन्धिका।

येनानुमितिभिन्नत्वेनापि विशेषणीयम्। यत्र च कोटिद्वयव्याप्यवत्ताज्ञानं तत्रोभयत्राप्रामाण्यज्ञानात्संशयो नान्यथा अगृहीताप्रामाण्यकस्यैव विरोधिज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वादिति।

असिद्धिस्त्वाश्रयासिद्ध्याद्यन्यतमत्वम्। आश्रयासिद्धिः पक्षे पक्षतावच्छेदकस्याभावः। यत्र च 'काञ्चनमयः पर्वतो वह्निमानि'ति साध्यते तत्र 'पर्वतो न काञ्चनमय' इति ज्ञाने विद्यमाने काञ्चनमयपर्वते परामर्शप्रतिबन्धः फलम्।

स्वरूपासिद्धिस्तु पक्षे व्याप्यत्वाभिमतस्याभावः। तत्र च ह्रदो द्रव्यं धूमादित्यादौ पक्षे व्याप्यत्वाभिमतस्य हेतोरभावे ज्ञाते पक्षे साध्यव्याप्यहेतुमत्ताज्ञानरूपस्य परामर्शस्य प्रतिबन्धः फलम्।

साक्षात्कारस्यैव आनुभविकत्वमिति शुक्लत्वग्रहेऽपि पित्तरूपदोषस्य प्रतिबन्धकत्वं कल्पयित्वा पीतत्वसाक्षात्कारसामग्र्या अधिकबलवत्त्वं, दूरत्वदोषे च स्थाणुत्वपुरुषत्वयोः स्मृतौ संशयस्यैवोदयात्समबलत्वं कल्प्यते इति भावः।

रत्नकोशकृन्मतं निरस्यति—तन्नेति। उपनीतभानविशेषः—**ज्ञानलक्षणासन्निकर्षः**।

और प्रामाणिक है वैसे सत्प्रतिपक्षस्थलमें संशयाकारानुमिति प्रामाणिक नहीं है। जिसके लिए प्रतिबध्यकोटिमें अनुमितिभिन्नत्व विशेषण लगाया जा सके।

जिस स्थलमें 'पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानयम्, 'पुरुषत्वाभावव्याप्यकोटरादिमानयम्' इस प्रकार दो कोटियोंमें व्याप्यवत्ताज्ञान है और पुरुषत्व, पुरुषत्वाभावप्रकारक संशयकी सामग्री भी है। वहाँ दोनों कोटियोंमें यदि अप्रामाण्यज्ञान रहे तभी संशयात्मक प्रत्यक्ष होगा। अन्यथा नहीं। क्योंकि अप्रामाण्यग्रहशून्य जो विरोधिज्ञान वही प्रतिबन्धक माना गया है। **रत्नकोषकारके मतका खण्डन समाप्त**

असिद्धि—आश्रयासिद्धि, स्वरूपासिद्धि और व्याप्यत्वासिद्धिका अन्यतम असिद्धि है। **आश्रयासिद्धि**—पक्षमें पक्षतावच्छेदक धर्मका अभाव। जैसे 'काञ्चनमयः पर्वतो वह्निमान्' इस स्थलमें पक्ष = पर्वतमें विशेषण अतः पक्षतावच्छेदक धर्म काञ्चनमयत्वका अभाव है। वह्निव्याप्यधूमवान काञ्चनमयपर्वतः' यह परामर्श न बन सकना ही फल है।

स्वरूपासिद्धि—पक्षमें व्याप्यत्वरूपसे अभिमत हेतुके अभावको स्वरूपासिद्धि कहते हैं। जैसे 'ह्रदः द्रव्यं धूमात्' इत्यादि स्थलोंमें पक्ष = ह्रदमें व्याप्यत्वरूपसे अभिमत हेतुका (धूमका) अभाव (धूमाभाववद् ह्रद) जान लेने पर पक्षमें साध्यके व्याप्यहेतुमत्ताज्ञान (द्रव्यत्व व्याप्यधूमवान् ह्रदः) इस परामर्शरूप ज्ञानका प्रतिबन्ध ही इस दोषका फल है।

साध्याप्रसिद्ध्यादयस्तु व्याप्यत्वासिद्धिमध्येऽन्तर्भूताः। साध्ये साध्यतावच्छेदकस्याभावः साध्याप्रसिद्धिः, एतज्ज्ञाने जाते 'काञ्चनमयवह्निमानि' त्यादौ साध्यतावच्छेदकविशिष्टसाध्यव्याप्यवत्ताज्ञानरूपपरामर्शप्रतिबन्धः फलम्।

एवं हेतौ हेतुतावच्छेदकस्याभावः साधनाप्रसिद्धिः, यथा काञ्चनमयधूमादित्यादौ, अत्र हेतुतावच्छेदकविशिष्टहेतोर्ज्ञानाभावात्तद्धेतुकव्याप्तिज्ञानादेरभावः फलम्।

एवं वह्निमान् नीलधूमादित्यादौ गुरुतया नीलधूमत्वस्य हेतुतानवच्छेदकत्वमपि व्याप्यत्वासिद्धिरित्यपि वदन्ति।

केषांचिन्मतमाह—एवं वह्निमानिति। वदन्तीत्यनेनास्वरसः सूचितः। तद्बीजं तु नीलधूमे व्याप्तिसत्त्वात्कथं व्याप्यत्वासिद्धिः।

न च तत्र व्याप्तिसत्त्वेऽपि नीलधूमत्वस्यानवच्छेदकतया तदवच्छेदेन व्याप्यत्वासिद्धिरेवेति वाच्यम्। अनतिरिक्तवृत्तित्वरूपावच्छेदकत्वस्य नीलधूमत्वेऽपि सत्त्वात्।

न च स्वरूपसम्बन्धरूपावच्छेदकत्वस्याभावाद्व्याप्यत्वासिद्धिरिति वाच्यम्, तथा सति 'पशुमान् सास्नादिमत' इत्यत्रापि व्याप्यत्वासिद्ध्यापत्तेः; सास्नापेक्षय गोत्वस्य लघुत्वेन सास्नादेः स्वरूपसम्बन्धरूपावच्छेदकत्वाभावात्। तस्माद्व्यर्थविशेषणस्थले न व्याप्यत्वासिद्धिर्हेत्वाभासः, किन्त्वधिकेति रूपनिग्रहस्थानेन पुरुषो निगृह्यते इति भावः।

साध्याप्रसिद्धि आदि तो व्याप्यत्वासिद्धिमें ही अन्तर्भूत हैं। साध्यमें साध्यतावच्छेदक धर्मका अभाव साध्याप्रसिद्धि है। जैसे 'पर्वतः काञ्चनमयवह्निमान् धूमात्' इस स्थलमें साध्यवह्निमें साध्यतावच्छेदक काञ्चनमयत्वके अभावका ज्ञान साध्यतावच्छेदक विशिष्ट साध्यव्याप्यवत्ताज्ञान 'काञ्चनमयवह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः' इस परामर्शका प्रतिबन्धक है।

साधनाप्रसिद्धि इसी प्रकार हेतुमें हेतुतावच्छेदक धर्मका अभाव साधनाप्रसिद्धि है। जैसे 'पर्वतः वह्निमान् काञ्चनमयधूमात्' इस स्थलमें भी हेतु धूममें हेतुतावच्छेदकधर्मका (काञ्चनमयका) अभाव निश्चय हो जाने पर हेतुतावच्छेदक विशिष्ट हेतुका ज्ञान होता नहीं इसलिए काञ्चनमयधूम हेतुमें व्याप्तिज्ञान नहीं होता।

व्याप्यत्वासिद्धि कुछ लोग तो 'पर्वतो वह्निमान् नीलधूमात्' इस स्थलमें धूमत्वकी अपेक्षा गुरुधर्म होनेके कारण नीलधूमत्वको हेतुतावच्छेदक नहीं मानते और यहाँ व्याप्यत्वासिद्धि मानते हैं। (किन्तु नीलधूममें व्याप्ति होनेसे व्याप्यत्वासिद्धि होना अस्वाभाविक है। अत एव **वदन्ति** कहकर अपनी अरुचि प्रकट की गई है।

बाधस्तु पक्षे साध्याभावादिः। एतस्यानुमितिप्रतिबन्धः फलम्। तद्धर्मिकतदभावनिश्चयो लौकिकसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यतद्धर्मिकतज्ज्ञानमात्रे विरोधीति।

न तु तत्र संशयसाधारणं पक्षे साध्यसंसृष्टत्वज्ञानमनुमितिकारणं तद्विरोधितया च बाधसत्प्रतिपक्षयोर्हेत्वाभासत्वमिति युक्तम्-अप्रसिद्ध-

---

धूमाभाववद्ह्रदः स्वरूपासिद्धिः। काञ्चनमयत्वाभाववत्पर्वतः आश्रयासिद्धिः। काञ्चनमयत्वाभाववद्वह्निः साध्याप्रसिद्धिः। काञ्चनमयत्वाभाववद्धूमः साधनाप्रसिद्धिः। प्रतिहेतुव्यापकसाध्याभावसमानाधिकरणप्रतिहेतुमत्पक्षः सत्प्रतिपक्षः, मतभेदेन साध्याभावव्याप्यवत्पक्षः सत्प्रतिपक्षः।

कस्यचिन्मतं दूषयति—नत्विति। श्रुत्यात्मनिश्चयवतोऽपि सिषाधयिषयाऽनुमित्युपपादनाय संशयनिश्चयसाधारणसाध्यसंसर्गज्ञानत्वेन साध्यसंसर्गज्ञानमनुमितिकारणमिति तदाशयः।

नन्वेवं बाधनिश्चयकाले साध्यसंसर्गज्ञानाभावादेवानुमितिर्न भविष्यति इति बाधनिश्चयस्य नानुमितिविरोधित्वमिति बाधस्य हेत्वाभासत्वं न स्यादित्यत आह—तद्विरोधितयेति। अनुमितिकारणीभूतसंसर्गज्ञानविरोधितयैव बाधसत्प्रतिपक्षयोर्हेत्वाभासत्वन्नत्वनुमितिविरोधितयेति भावः!

बाध—पक्षमें साध्याभाद अथवा साध्यवदन्यत्व बाध है। इसका फल है अनुमितिका प्रतिबन्ध (रुकना)। जैसे 'वह्निः अनुष्णः द्रव्यत्वात्' पक्ष = वह्निमें अनुष्णत्वाभाव ज्ञान हो जानेसे अनुमिति नहीं होती। क्योंकि अनाहार्य (अनारोपित) और अप्रामाण्यज्ञानसे अनास्कन्दित तद्धर्मिक तदभावप्रकारक निश्चय लौकिकसन्निकर्षसे अजन्य और दोषविशेषसे अजन्य तद्धर्मिक तत्प्रकारक ज्ञानमात्रका विरोधी होता है।

कुछ **प्राचीनोंका** मत है कि 'पक्षमें संशय और निश्चय साधारण साध्यसंसृष्टत्वज्ञान (अर्थात् संशयाकार अथवा सिषाधयिषाकालीन निश्चयाकार साध्यसम्बन्धज्ञान पक्षतारूप) अनुमितिका कारण है। तात्पर्य यह कि अनुमिति होनेसे पूर्व साध्यका संशय अथवा निश्चय रहना आवश्यक है। और अनुमितिका कारण जो साध्य संसृष्टत्वज्ञान उसका विरोधी होनेके कारण ही बाध और सत्प्रतिपक्षको हेत्वाभास माना जाता है न कि अनुमितिका विरोधी होनेके कारण।' किन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं। कारण यह कि 'अप्रसिद्धसाध्यक अनुमिति (अर्थात् पक्षमें जिस अनुमितिके साध्यका सम्बन्ध निश्चित नहीं है वह अनुमिति नहीं हो सकेगी। जैसे पृथ्वी इतरभेदवती गन्धवत्वात्' इस स्थलमें अनुमितिसे पूर्व साध्यज्ञान नहीं है। यदि अप्रसिद्धसाध्यक अनुमिति नहीं होती है यह कहा जाय तब भी ठीक नहीं। क्योंकि 'गगनं मेघवत् घनगर्जनात्' इस अनुमितिसे पूर्व साध्य-संशय और निश्चय दोनों न रहनेसे अनुमिति होती है वह नहीं हो सकेगी।

साध्यकानुमित्यनापत्तेः, साध्यसंशयादिकं विनाप्यनुमित्युत्पत्तेश्च।

एवं साध्याभावज्ञाने प्रमात्वज्ञानमपि न प्रतिबन्धकं-मानाभावाद्गौर-

---

अप्रसिद्धसाध्यकेति। पूर्वमगृहीतसाध्यविधेयकेत्यर्थः। 'पृथिवीतरत्वव्यापकाभावप्रतियोगिगन्धवती पृथिवी' इति व्यतिरेकपरामर्शजन्यायाः अप्रसिद्धेतरभेदरूपसाध्यविधेयिकायाः 'पृथिव्यामितरभेद' इत्यनुमितेरभावापत्तिरिति यावत्।

नन्वप्रसिद्धसाध्यिकाऽनुमितिः कुत्रापि न भवत्येवेत्यत आह—साध्यसंशयेति। तथा च घनगर्जितेन मेघानुमितिस्थले संशयनिश्चययोर्द्वयोरप्यभावेन साध्यवत्ताज्ञानं नानुमितिहेतुरिति भावः।

पक्षविशेष्यकसाध्याभावज्ञाने प्रमात्वनिश्चयोऽनुमितिप्रतिबन्धकः तदभावोऽनुमितिकारणमिति तादृशप्रमात्वमेव बाध इति प्राचीनमतं दूषयति—एवं साध्याभावेति।

मानाभावादिति। ग्राह्याभावानवगाहिनः साध्याभावज्ञानधर्मिकप्रमात्वनिश्चयस्य विरोधित्वे मानाभावादित्यर्थः।

इसी प्रकार यदि 'पक्षमें जो साध्याभावज्ञान उसमें प्रमात्व निश्चय ही अनुमितिका साध्यवत्ताज्ञान प्रतिबन्धक है और प्रतिबन्धकका अभाव ही अनुमितिका कारण है। अतः प्रमात्व ही बाध है।' कहा जाय तो ठीक नहीं। क्योंकि ग्राह्याभावका (वह्न्यभावका) अवगाहन करने वाला साध्याभावज्ञान (वह्न्यभावज्ञान) साध्यवत्ता (वह्निमत्ता) ज्ञानका प्रतिबन्धक होता है। किन्तु ग्राह्याभावका अवगाहन न करने वाला जो साध्याभावधर्मिकप्रमात्वनिश्चय वह भी साध्यवत्ता ज्ञानका प्रतिबन्धक होता है ऐसा माननेमें कोई प्रमाण नहीं प्रत्युत 'पक्षविशेष्यकसाध्याभावप्रकारक निश्चयको प्रतिबन्धक माननेकी अपेक्षा पक्षविशेष्यकसाध्याभावज्ञानविशेष्यकसाध्याभाववति साध्याभावप्रकारकत्वरूप (प्रमात्व) निश्चयको अतिगौरव होनेसे मानना भी उचित नहीं है। यदि लघुधर्ममें असमनियत गुरुधर्मको अवच्छेदक मानकर साध्याभावज्ञानमें प्रमात्वनिश्चयको साध्यवत्ताज्ञानमें प्रतिबन्धक मानते हैं। तो सत्प्रतिपक्षस्थलमें भी परस्पर तदभाववत्ताज्ञान अप्रामाण्यग्रहकालमें तद्वत्ताबुद्धिके प्रति अप्रतिबन्धक है फिर तो तद्वत्तानुमिति होने लगेगी उसे रोकनेके लिये यहाँ भी तदभावव्याप्यवत्ताज्ञानधर्मिकप्रमात्वनिश्चयत्वेन प्रतिबन्धक मानना पड़ेगा। जिससे सत्प्रतिपक्षधर्मिकप्रमात्वके अनेक होनेसे अनन्त अवान्तर भेद मानना पड़ेगा। अतः अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितबाध-निश्चयको ही प्रतिबन्धक मानना चाहिए। इसमें भ्रम शङ्का मिटानेके लिए प्रामाण्य ज्ञानका भी कहीं-कहीं उपयोग होता ही है।

वाच्य। अन्यथा सत्प्रतिपक्षादावपि तदभावव्याप्यवत्ताज्ञाने प्रमात्वविषयकत्वेन प्रतिबन्धकतापत्तेः। किन्तु भ्रमत्वज्ञानानास्कन्दितबाधादिबुद्धेः प्रतिबन्धकता। तत्र भ्रमत्वशङ्काविघटनेन प्रामाण्यज्ञानं,क्वचिदुपयुज्यते।

न च बाधस्थले पक्षे हेतुसत्त्वे व्यभिचारः, पक्षे हेत्वभावे स्वरूपासिद्धिरेव दोष इति वाच्यम्, बाधज्ञानस्य व्यभिचारज्ञानादेर्भेदात्। किञ्च यत्र परामर्शानन्तरं बाधबुद्धिस्तत्र व्यभिचारज्ञानादेरकिञ्चित्कर-

---

गौरवाच्चेति। पक्षविशेष्यकत्वापेक्षया पक्षविशेष्यकसाध्याभावज्ञानविशेष्यकस्य साध्याभावनिश्चयत्वापेक्षया साध्याभाववति साध्याभावप्रकारकत्वरूप (प्रमात्व) निश्चयत्वस्यातिगुरुत्वादिति भावः।

अकिञ्चित्करत्वादिति। व्यभिचारज्ञानं नानुमितौ साक्षात्प्रतिबन्धकं किन्तु परामर्शप्रतिबन्धद्वारा तथा च परामर्शोत्तरकालीनो व्यभिचारग्रहो नानुमितिं प्रतिरोद्धुं शक्नोति परामर्शस्य जातत्वात् किन्तु बाधबुद्धिरेव प्रतिबन्धिकेति भावः।

व्यभिचारासङ्कीर्णमपि बाधं दर्शयति—एवमिति। उत्पत्तिकालावच्छिन्नो घटो गन्धवान् पृथिवीत्वादिति हि तादृशं स्थलम्। अत्र हि पक्षे हेतुसत्वात् स्वरूपा-

---

इसपर यह शंका होती है कि बाधस्थलमें यदि पक्षमें हेतु रहे तब तो साध्याभावके अधिकरणमें वृत्ति होनेके नाते व्यभिचार दोष होना चाहिए। यदि पक्षमें हेतु न रहे तो पक्षको हेतुके अभावका अधिकरण होनेके कारण स्वरूपासिद्धि होगी। फिर बाध दोष अलग क्यों माना जाय। किन्तु यह शंका ठीक नहीं। कारण यह है कि (**बाधज्ञान** नियमतः व्यभिचार और स्वरूपासिद्धिके रहने पर अनुमितिका प्रतिबन्धक (निषेधक) होता है। **व्यभिचारज्ञान** अव्यभिचारज्ञानका प्रतिबन्धक एवं **स्वरूपासिद्धि** पक्षताज्ञानका प्रतिबन्धक है।) इसी प्रकार बाधसे व्यभिचार आदिमें भेद है। और जहाँ (धूमव्याप्य वह्निमानयं ह्रदः) परामर्शके बाद बाधज्ञान हुआ वहाँ (धूमाभाववद्ह्रदवृत्तिर्वह्निः) अर्थात् धूमाभावके अधिकरण ह्रदमें वह्नि वर्तमान है इस प्रकारका व्यभिचारज्ञान अथवा 'धूमाभाववान् ह्रद वह्नयभाववान् है'। इस प्रकारका स्वरूपासिद्धिज्ञान अकिञ्चित्कर है। क्योंकि व्यभिचारज्ञान और स्वरूपासिद्धि अनुमितिका साक्षात् बाधक नहीं है किन्तु परामर्शका बाधक बनके ही अनुमितिके बाधक बनता हैं। फिर परामर्श होनेके बाद व्यभिचार ज्ञान अनुमिति न रोक सकेगा। इसलिए यहाँ अनुमिति रोकनेके लिए बाधज्ञानको ही प्रतिबन्धक मानना पड़ेगा। इसी प्रकार 'उत्पत्तिकालावच्छिन्नो घटो गन्धवान् पृथिवीत्वात्' अर्थात् उत्पत्तिकालिक घट गन्धवाला है क्योंकि पृथिवी है। इस स्थलमें घटरूप पक्षमें पृथिवीत्व रूप हेतुके रहनेके कारण स्वरूपासिद्धि और प्रतियोगिव्यधिकरण साध्याभाववद्वृत्तित्वरूप व्यभिचार न

त्वाद्बाधस्यानुमितिप्रतिबन्धकत्वं वाच्यम्। एवं यत्रोत्पत्तिक्षणावच्छिन्ने घटादौ गन्धव्याप्यपृथिवीत्ववत्ताज्ञानं तत्र बाधस्यैव प्रतिबन्धकत्वं वाच्यम्।

न च पक्षे घटे गन्धसत्त्वात्कथं बाध इति वाच्यम्, पक्षतावच्छेदकदेशकालावच्छेदेनानुमितेरनुभवसिद्धत्वादिति।

बाधतद्व्याप्यभिन्ना ये हेत्वाभासास्तद्व्याप्या अपि तन्मध्य एवान्तर्भवन्ति। अन्यथा हेत्वाभासाधिक्यप्रसङ्गात्। बाधव्याप्यसत्प्रतिपक्षो भिन्न एव, स्वतन्त्रेच्छेन मुनिना पृथगुपदेशात्। सत्प्रतिपक्षव्याप्यस्तु न प्रतिबन्धक इति प्रघट्टकार्थः॥ ७१॥

सिद्धत्वस्य, प्रतियोगिव्यधिकरणसाध्याभाववद्वृत्तित्वरूपस्य व्यभिचारस्य, चाभावादिति भाव.।

बाधतद्व्याप्येति। बाधः साध्याभाववत्पक्षः तद्व्याप्यस्सत्प्रतिपक्षः तद्भिन्नाः व्यभिचारविरुद्धासिद्धाः। तद्व्याप्याः—व्यभिचारादिव्याप्याः, तत्रैव—व्यभिचारादिष्वेव अन्तर्भवन्ति इत्यर्थः, व्यभिचारादयो यथा व्याप्तिग्रहप्रतिबन्धकज्ञानविषयत्वेन हेत्वाभासास्तथा व्यभिचारादिव्याप्या अपीति तेषां पञ्चविधहेत्वाभासानन्तर्गतत्वे तेषामतिरिक्तहेत्वाभासत्वं स्यादिति भावः।

सत्प्रतिपक्षव्याप्यस्त्विति। 'साध्याभावव्याप्यवान् पर्वत' इति बुद्धेः साध्यवत्ताज्ञानविरोधित्वेऽपि साध्याभावव्याप्यव्याप्यवानिति बुद्धेः साध्यवत्ताज्ञानविरोधित्वे मानाभावादिति भावः॥ ७१॥

होनेके कारण केवल 'गन्धाभाववत् उत्पत्तिकालावच्छिन्नघट' इस प्रकारके बाधज्ञानको ही प्रतिबन्धक मानना पड़ेगा।

यदि (पक्षघटमें तो गन्ध रहता ही है फिर बाध क्यों माना जाय) यह कहा जाय तो ठीक नहीं क्योंकि जब पक्षताका अवच्छेदक देश और काल भी होता है और वहाँ अनुमिति भी होती है तब उत्पत्तिकालावच्छिन्नघट (जहाँ गन्ध नहीं है) अनुमितिको रोकनेके लिए बाध ज्ञान मानना ही पड़ेगा।

बाध (साध्याभाव) और बाधव्याप्य (सत्प्रतिपक्ष) से भिन्न जो (व्यभिचार, विरुद्ध और असिद्ध) हेत्वाभास हैं उनके व्याप्य (व्यभिचार) व्याप्य आदि भी उन्हीं व्यभिचार आदिमें अन्तर्भूत होते हैं। नहीं तो अधिक हेत्वाभास मानना पड़ेगा। बाधका व्याप्य जो सत्प्रतिपक्ष है वह अलग हेत्वाभास माना गया है। क्योंकि मुनिकी इच्छा ही स्वतन्त्र थी। सत्प्रतिपक्षका व्याप्यज्ञान प्रतिबन्धक नहीं होता अर्थात् 'साध्याभावव्याप्यवान् पर्वतः। यह

आद्यः साधारणस्तु स्यादसाधारणकोऽपरः ।
तथैवानुपसंहारी त्रिधाऽनैकान्तिको भवेत् ॥ ७२ ॥
यः सपक्षे विपक्षे च भवेत्साधारणस्तु सः ।

यः सपक्ष इति । सपक्षविपक्षवृत्तिः साधारण इत्यर्थः । सपक्षः—निश्चितसाध्यवान् । विपक्षः—साध्यवद्भिन्नः । विरुद्धवारणाय सपक्षवृत्तित्वमुक्तम् ।

वस्तुतो विपक्षवृत्तित्वमेव वाच्यम्, विरुद्धस्य साधारणत्वेऽपि दूषकताबीजस्य भिन्नतया तस्य पार्थक्यात् ।

यस्तूभयस्माद् व्यावृत्तः स चासाधारणो मतः ॥ ७३ ॥

यस्तूभयस्मादिति । सपक्षविपक्षव्यावृत्त इत्यर्थः । सपक्षः—साध्यवत्त्वा निश्चितः । विपक्षः—साध्यशून्यतया निश्चितः । शब्दोऽनित्यः शब्दत्वादित्यादौ यदा शब्देऽनित्यत्वस्य सन्देहस्तदा सपक्षत्वं विपक्षत्वं च घटादीनामेव तद्व्यावृत्तं च शब्दत्वमिति तदा तदसाधारणम् । यदा तु शब्देऽनित्यत्वनिश्चयस्तदा नासाधारण्यम् । इदं प्राचां मतम् । नवीनमतं तु पूर्वमुक्तम् ॥ ७२ ॥ ७३ ॥

तथैवानुपसंहारी केवलान्वयिपक्षकः ।
(पर्वतो वह्निमान् सत्त्वादिति तत्रादिमो भवेत् ॥
पृथ्वी नित्या गन्धवत्त्वादिति स्यादपरस्तथा ।
सर्वं तुच्छं प्रमेयत्वादिति तत्रान्तिमो भवेत् ।)

तथैवेति । सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वादित्यादौ सर्वस्यैव पक्षत्वात्सामानाधिकरण्यग्रहस्थलान्तराभावान्नानुमितिः । इदं तु न सम्यक्—पक्षैकदेशे

वस्तुत इति । **ननु 'विपक्षवृत्तिः साधारण' स्वीकारे साध्यासामानाधिकरणो हेतु** विरुद्ध इति लक्षणलक्षिते 'अयं गौः अश्वत्वात्' इतिविरुद्धेऽश्वत्वे साधारणत्वापत्ति-

---

ज्ञान साध्यवत्ता ज्ञानका विरोधी है फिर भी 'साध्याभावव्याप्यव्याप्यवान्' यह ज्ञान साध्यवत्ता ज्ञानका विरोधी होनेमें कोई प्रमाण नहीं है । **यह ही पूरे पकरण का अर्थ है** ॥७१॥

हेत्वाभासोंमें प्रथम अनैकान्तिक (व्यभिचार) नामका हेत्वाभास तीन प्रकारका है जैसे साधारण, असाधारग और अनुपसंहारी ॥ ७२ ॥

जो हेतु सपक्ष और विपक्ष दोनोंमें रहे उसे साधारण नामका व्यभिचार कहते हैं ।

सपक्ष और विपक्षमें रहनेवाला हेतु व्यभिचारी है । जिसमें साध्यका निश्चय हो उसे **सपक्ष** कहते हैं । जो निश्चित साध्यके अधिकरणसे भिन्न हो (अर्थात् साध्याभावका निश्चय हो) उसे **विपक्ष** कहते हैं । साधारणके लक्षगमें जो सपक्षमें भी हेतु रहनेकी बात कही गई है वह विरुद्धमें अतिव्याप्ति वारनेके लिए कही गई है ।

वस्तुतस्तु जो विपक्षमें वर्तमान हेतु हो वह साधारण व्यभिचार है यह ही कहना चाहिए । यद्यपि ऐसा कहने से 'अय गौः अश्वत्वात्' इस विरुद्धमें भी साधारणका लक्षण जायगा फिर भी कोई दोष नहीं क्योंकि दूषकताबीजके भिन्न होनेसे वह अलग ही माना जायगा । विरुद्धज्ञान सामानाधिकरण्यग्रहका प्रतिबन्धक है । व्यभिचारज्ञान अव्यभिचारज्ञानका प्रतिबन्धक है और स्वरूपासिद्धि परामर्शप्रतिबन्धक है ।

जो हेतु सपक्ष और विपक्ष दोनोंमें न रहे किन्तु पक्षमात्रमें रहे वह असाधारण व्यभिचार कहा जाता है ॥ ७३ ॥

साध्यके अधिकरणके रूपमें जो निश्चितरूपसे जाना गया है वह **सपक्ष** है । जो साध्यसे शून्य (रहित) रूपमें निश्चितरूपसे जाना गया है वह **विपक्ष** है 'शब्दः अनित्यः शब्दत्वात्' इस स्थलमें जब शब्दमें अनित्यत्वका सन्देह रहे तब सपक्ष घट आदि और विपक्ष आकाश आदि होंगे और दोनों से अलग (व्यावृत्त) शब्दरूप पक्षमात्रमें वर्तमान शब्दत्व रूप हेतु ही असाधारण होगा । जब शब्द में अनित्यत्वका निश्चय होगा तब असाधारण नहीं होगा । यह **प्राचीनोंका** मत है । **नवीनोंका** मत तो पहिले ही कहा गया है ॥ ७३ ॥

इसी प्रकार अनुपसंहारी उस हेतुको कहते हैं जिसका पक्ष केवलान्वयी हो । (जिनमें आदि 'पर्वतो वह्निमान् सत्त्वात्' (साधारण) है असाधारण है 'पृथ्वी नित्या गन्धवत्त्वात्' और अन्तिम (अनुपसंहारी) है 'सर्वं तुच्छं प्रमेयत्वात्' । ये तीनोंके उदाहरण हैं ।)

'सर्वं अभिधेयं प्रमेयत्वात्' इस स्थलमें सब वस्तु तो पक्ष ही है । सामानाधिकरण्य ज्ञानका दूसरा स्थान है नहीं जिससे व्याप्तिज्ञान नहीं हो पाता और अनुमिति भी नहीं हो पाती है । किन्तु यह भी प्राचीनोंका मत ठीक नहीं । क्योंकि पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन = सर्वत्वावच्छेदेन साध्य संशय रहने पर भी पक्षके एक देशमें (घट आदिमें) सहचार निश्चय होनेके लिए व्याप्तिज्ञान द्वारा परामर्श और अनुमिति होनेमें कोई बाधा नहीं है । यद्यपि सर्वत्वावच्छेदेन साध्यसंशय रहने पर किसी भी पदार्थसे सहचारग्रह नहीं होता यह

सहचारग्रहेऽपि क्षतेरभावात् । अस्तु वा सहचाराग्रहस्तावताप्यज्ञान-रूपासिद्धिरेव, न तु हेत्वाभासत्वं तस्य, तथापि केवलान्वयिसाध्यकत्वं तत्त्वमित्युक्तम् ।

यः साध्यवति नैवास्ति स विरुद्ध उदाहृतः ॥ ७४ ॥

(गोत्वादिसाध्ये हेतुर्हि यत्राश्वत्वादिको भवेत् ॥)

यः साध्यवतीति । एवकारेण साध्यवत्त्वावच्छेदेन हेत्वभावो बोधितः । तथा च साध्यव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वं तदर्थः ॥ ७४ ॥

असिद्धिं विभजते—

आश्रयासिद्धिराद्या स्यात्स्वरूपासिद्धिरप्यथ ।

व्याप्यत्वासिद्धिरपरा स्यादसिद्धिरतस्त्रिधा ॥ ७५ ॥

आश्रयासिद्धिरित्यादि ॥ ७५ ॥

रिति चेन्न; इष्टापत्तेः । नन्वेवं तयोः पार्थक्य किं निबन्धनमिति चेदुच्यते साध्या-भाववद्वृत्तित्वरूपसाधारणस्य साध्याभाववदवृत्तित्वरूपव्याप्तिज्ञाने, विरुद्धस्य च साध्यसामानाधिकरण्यरूपव्याप्तिग्रहे प्रतिबन्धकत्वेन तयोर्दूषकताबीजस्य पार्थक्येन तयोरपि पार्थक्यमिति भावः ॥ ७२–७३ ॥

कहा जाय तब भी उसे अज्ञानरूप असिद्धि मानकर अनुमिति आदिका प्रतिबन्धक होना चाहिए हेत्वाभास मानना उपयुक्त न होगा । तथापि केवलान्वयि साध्यकत्वं अनुपसंहारित्वं मानना चाहिए । जैसाकि पहले कहा जा चुका है ।

जो हेतु साध्यके अधिकरणमें न रहे वह विरुद्ध हेतु कहा गया है ॥ ७४ ॥

जैसे गोत्वको साध्यमानकर अश्वत्वको हेतु मानने पर होता है ।

'**नैवास्ति**' वाक्यमें '**एव**' पद के द्वारा साध्यवत्त्वावच्छेदेन अर्थात् साध्यके अधिकरणमात्रमें हेतुका अभाव बताया गया है । जिससे साध्यका व्यापक जो अभाव उसका प्रतियोगी हेतु **विरुद्ध** कहा जाता है । जैसे 'अयं गौः अश्वत्वात्' इस स्थलमें गोत्वरूप साध्यका व्यापक अभाव अश्वत्वत्वाभाव उसका प्रतियोगी अश्वत्व रूप हेतु विरुद्ध है ॥७४॥

असिद्धिका विभाग करते हैं ।

असिद्धि तीन प्रकारकी होती है । प्रथम आश्रयासिद्धि, दूसरी स्वरूपासिद्धि और तीसरी व्याप्यत्वासिद्धि ॥ ७५ ॥

आश्रयासिद्धिका और स्वरूपासिद्धिका उदाहरण—

पक्षासिद्धिर्यत्र पक्षो भवेन्मणिमयो गिरिः ।

ह्रदो द्रव्यं धूमवत्त्वादत्रासिद्धिरथापरा ॥ ७६ ॥

पक्षासिद्धिरिति । आश्रयासिद्धिरित्यर्थः । अपरेति । स्वरूपासिद्धिरित्यर्थः ॥ ७६ ॥

व्याप्यत्वासिद्धिरपरा नीलधूमादिके भवेत् ।

नीलधूमादिक इति । नीलधूमत्वादिकं गुरुतया न हेतुतावच्छेदकं स्वसमानाधिकरण-व्याप्यतावच्छेदक-धर्मान्तराघटितस्यैव व्याप्यतावच्छेदकत्वात् । धूमप्रागभावत्वसंग्रहाय स्वसमानाधिकरणेति ॥

स्वसमानाधिकरणेति । स्वं नीलधूमत्वं तत्समानाधिकरणं प्रकृतसाध्यव्याप्यतावच्छेदकं धर्मान्तरं धूमत्वं तद्घटितत्वं नीलधूमत्वस्येति न तस्य व्याप्यतावच्छेद-

---

जहाँ मणिमयपर्वतको पक्ष बनाया जाय वहाँ आश्रयासिद्धि होती है । और 'ह्रदो द्रव्यं धूमवत्त्वात्' इस स्थलमें दूसरी असिद्धि स्वरूपासिद्धि होती है ॥ ७६ ॥

अर्थात् 'मणिमयः पर्वतः वह्निमान् धूमात्' इस स्थलमें हेतुधूमके आश्रय 'मणिमयपर्वत' के असिद्ध होनेसे आश्रयासिद्धि है । और 'ह्रदो द्रव्यं धूमवत्त्वात्' इस स्थलमें ह्रदरूप पक्षमें धूमके अभाव होनेसे स्वरूपासिद्धि है ॥ ७६ ॥

व्याप्यत्वासिद्धिका उदाहरण—

तीसरी व्याप्यत्वासिद्धि तो नीलधूमको हेतु मानने पर होगी ।

'पर्वतो वह्निमान् नीलधूमात्' इस स्थलमें नीलधूमत्व गुरु होनेके नाते हेतुतावच्छेदक नहीं है । क्योंकि नीलधूमत्वके अधिकरणमें रहनेवाला और हेतुतावच्छेदक धूमत्व आदि धर्मोंसे अघटित (अयुक्त) ही व्याप्यतावच्छेदक (हेतुतावच्छेदक) होता है । यहाँ नीलधूमत्वसमानाधिकरण साध्यवह्निव्याप्यतावच्छेदक धर्मान्तर धूमत्व उससे घटित ही नीलधूमत्व है अघटित नहीं है । धूमप्रागभावत्वके संग्रहके लिए 'स्वसमानाधिकरण' पद दिया गया । अन्यथा 'इयं शाला भाविवह्निमती धूमप्रागभावात्' इस सहेतुस्थलमें व्याप्यतावच्छेदकीभूत धूमप्रागभावत्व धर्मको धूमत्वरूप व्याप्यतावच्छेदक धर्मान्तरसे घटित होनेके कारण धूमप्रागभावत्वको हेतुतावच्छेदकत्व नहीं होता । उक्त निवेश करनेसे तो धूमत्व और धूमप्रागभावत्व ये दोनों धर्म व्यधिकरणधर्म हैं समानाधिकरण नहीं ।

विरुद्धयोः परामर्शे हेत्वोः सत्प्रतिपक्षता ॥ ७७ ॥
(श्रावणत्वादितो नित्योऽनित्यो जन्यत्वहेतुभिः ॥)

विरुद्धयोरिति। कपिसंयोगतदभावव्याप्यवत्तापरामर्शेऽपि न सत्प्रतिपक्षितत्वमत उक्तं–विरुद्धयोरिति। तथा च[1] स्वसाध्यविरुद्धसाध्याभावव्याप्यवत्तापरामर्शकालीनसाध्यव्याप्यवत्तापरामर्शविषय इत्यर्थः ॥ ७७ ॥

साध्यशून्यो यत्र पक्षस्त्वसौ बाध उदाहृतः।
उत्पत्तिकालीनघटे गन्धादिर्यत्र साध्यते ॥ ७८ ॥

साध्यशून्य इति। पक्षः—पक्षतावच्छेदकविशिष्ट इत्यर्थः। तेन घटे

कत्वमिति भावः। धूमत्वे धूमप्रागभावत्वसमानाधिकरण्याभावात् प्रकृतसाध्यव्या-

(सत्प्रतिपक्षका लक्षण और उदाहरण कहते हैं)

परस्पर विरुद्ध हेतुओंके परामर्श होने पर सत्प्रतिपक्षित हेतु कहा जाता है। जैसे शब्दको श्रावणत्व हेतुसे नित्य और जन्यत्व हेतुसे अनित्य कहा जाता है ॥

सत्प्रतिपक्षका लक्षण है—स्वसाध्यविरुद्धसाध्याभावव्याप्यवत्तापरामर्शकालीनसाध्यव्याप्यवत्तापरामर्शविषय। स्व = सत्प्रतिपक्ष हेतु (श्रावणत्व) उसके साध्यसे विरुद्ध जो साध्याभाव (अनित्यत्व) उसका जो 'साध्याभावव्याप्यवान्' यह परामर्श उस समयमें 'साध्यव्याप्यवान्' इस परामर्शका विषय जो हेतु श्रावणत्व वह सत् प्रतिपक्ष कहा जाता है। यदि इस लक्षणमें विरुद्ध पद न दिया जाय तो कपिसंयोगव्याप्यवत्ता और कपिसंयोगाभावव्याप्यवत्ता परामर्शमें भी सत्प्रतिपक्ष दोष हो जाता। अतः विरुद्ध पद दिया ॥ ७७ ॥

(बाधका लक्षण और उदाहरण—)

जिस स्थलमें साध्यसे रहित पक्षतावच्छेदक विशिष्टपक्ष हो वहाँ हेतु बाधित कहा जाता है। जैसे जिस उत्पत्तिकालीन घटमें गन्ध नहीं है वहाँ गन्ध साधना बाधका उदाहरण है।

'उत्पत्तिकालावच्छिन्नघट गन्धवाला है पृथ्वी होनेके कारण' इस स्थलमें गन्धसे रहित और पक्षतावच्छेदक उत्पत्तिकाल-विशिष्ट-घटरूप पक्षमें पृथ्वीत्व रूप हेतु बाधित है।

१. स्वं सत्प्रतिपक्षत्वेनाभिमतो हेतुः, तत्साध्यविरुद्धो यः साध्याभावस्तद्व्याप्यवानिति परामर्शकाले साध्यव्याप्यवानितिपरामर्शविषयो हेतुः सत्प्रतिपक्षितः।

इति न्यायव्याकरणसाहित्याचार्यश्रीरामगोविन्दशुक्लविरचितानुमानखण्डटिप्पणी समाप्ता।

गन्धसत्त्वेऽपि न क्षतिः। एवं मूलावच्छिन्नो वृक्षः कपिसंयोगीत्यत्रापि बोध्यम् ॥ ७८ ॥

इति श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यविरचितायां
सिद्धान्तमुक्तावल्यामनुमानखण्डम् ॥

प्यतावच्छेदकधूमत्वघटितत्वेऽपि न व्याप्यतावच्छेदकत्वहानिर्धूमप्रागभावत्वस्येति बोध्यम् ॥ ७८ ॥

इति न्याय-व्याकरणाचार्यश्रीसूर्यनारायणशुक्लविरचिते मुक्तावलीमयूखे
अनुमानखण्डः सम्पूर्णः।

इसलिए घटमें गन्ध रहने पर भी कोई दोष नहीं हुआ। इसी प्रकार 'मूलावच्छिन्नो वृक्षः कपिसंयोगी' इस स्थलमें भी पक्षरूपी वृक्षके मूलमें साध्याभावरूप कपिसंयोगाभाव रहनेके कारण हेतु बाधित कहा जाता है।

न्याय-व्याकरण-साहित्याचार्य श्रीरामगोविन्द शुक्ल विरचित प्रकाश
नामकी टीकामें अनुमानखण्ड समाप्त।

उपमानखण्डम्

उपमितिं व्युत्पादयति–

ग्रामीणस्य प्रथमतः पश्यतो गवयादिकम् ।
सादृश्यधीर्गवादीनां या स्यात् सा करणं मतम् ॥ ७९ ॥
वाक्यर्थस्यातिदेशस्य स्मृतिर्व्यापार उच्यते ।
गवयादिपदानां तु शक्तिधीरुपमाफलम् ॥ ८० ॥

ग्रामीणस्येति । यत्रारण्यकेन केनचिद् ग्रामीणं प्रत्युक्तं 'गोसदृशो गवयपदवाच्य' इति । पश्चाच्च ग्रामीणेन क्वचिदरण्यादौ गवयो दृष्टस्तत्र गोसादृश्यदर्शनं यज्जातं तदुपमितिकरणम् । तदनन्तरं 'गोसदृशो गवयपदवाच्य' इत्यतिदेशवाक्यार्थस्मरणं यज्जायते तदेव व्यापारः । तदनन्तरं

अवसरसङ्गत्या उपमानं निरूपयितुमाह—उपमितिमिति । प्रतिबन्धकीभूतशिष्यजिज्ञासानिवृत्त्याऽनन्तरवक्तव्यत्वमवसरः । प्रत्यक्षोपजीवकत्वं हि प्रत्यक्षनिरूपणानन्तरमनुमानोपमानयोर्निरूपणे सङ्गतिः । तत्र प्रत्यक्षनिरूपणानन्तरमनुमानमुपमानं वा निरूपणीयमिति सन्देहे अनुमानं बहुवादिसम्मतमतो निरसनीयाल्पवादिविप्रतिपत्तिकमतः सुगममिति अनुमान प्राङ्निरूपणीयमिति शिष्यजिज्ञासा जायते सा च अनुमानात प्रागुपमाननिरूपणे प्रतिबन्धिका, अनुमाननिरूपणे च कृते उपमाननिरूपणप्रतिबन्धिका पूर्वोक्ता शिष्यजिज्ञासा निवृत्ता इति उपमानमवश्यं निरूपणीयमिति अवसरसङ्गतिः ।

गोसादृश्यदर्शनमिति । ननु यदि सादृश्यज्ञानमुपमितिकरणं तदा उपमानस्य प्रत्यक्षोपजीवकत्वं न सम्भवतीति चेन्न, सादृश्यदर्शनपदस्य सादृश्यप्रत्यक्षपरत्वेन उपमानस्य प्रत्यक्षोपजीवकत्वात् ।

तदुपमितिकरणमिति । इदमुपलक्षणं वैधर्म्यविशिष्टपिण्डदर्शनं करणं 'जलादिविधर्मगुणवती पृथिवी' इत्यतिदेशवाक्यार्थस्मरणं व्यापारः पृथिवीत्वावच्छेदेन पृथिवीपदवाच्यत्वप्रकारकज्ञानमुपमितिफलमित्यपि बोध्यम् ।

यज्जायते इति । सादृश्यविशिष्टपिण्डदर्शनं 'गोसदृशो गवयपदवाच्य' इत्यतिदेशवाक्यार्थस्मरणे उद्बोधकमिति भावः ।

व्यापार इति । अतिदेशवाक्यार्थस्मरणं हि सादृश्यविशिष्टपिण्डप्रत्यक्षजन्यं तादृशप्रत्यक्षजन्योपमितिजनकं चेति भवत्यतिदेशवाक्यार्थस्मरणस्य व्यापारत्वम् ।

तदुपमितिरिति । 'गवयो गवयपदवाच्य' इति शक्तिग्रह एवोपमितिरिति भावः ।

[1]यत्तु 'गोसदृशो गवयपदवाच्य' इत्यारण्यकवाक्याज्जायमानः शाब्दबोध एवोपमितिर्न तु प्रमित्यन्तरमिति उपमानं नाम प्रमाणान्तरं नाङ्गीकर्तुमलमिति तन्न—

अवसर पाकर अब उपमिति का निरूपण करते हैं—सर्व प्रथम गवय को देखते समय ग्रामीण के मन में जो गौ के साथ सादृश्यज्ञान होता है वही उपमिति में कारण है। 'गौ के सदृश गवय होता है' (आरण्यक के द्वारा उपदिष्ट) इस अतिदेश वाक्यार्थ की स्मृति को व्यापार माना गया है और 'गवय' पद की गो सदृश जङ्गली पशु में 'यह गवय है' इस प्रकार की शक्ति का ज्ञान ही उपमान का फल है ॥ ७९–८० ॥

गवय को न जानने वाले ग्रामीण से किसी जङ्गल में बसने वाले व्यक्ति ने कहा कि— 'गवय गौ के सदृश होता है' इस वाक्य को ध्यान में रखकर उसी ग्रामीण ने किसी एक वन में जाकर 'गवय' देखा उस समय जो उस ग्रामीण को गो सादृश्य ज्ञान हुआ वह ज्ञान उपमिति का कारण है। उपदेश वाक्यार्थ का स्मरण व्यापार है। इसके बाद 'गवय गवय पद का वाच्य है' यह ज्ञान ही उपमिति है। 'यह गवयपद वाच्य है' यह ज्ञान उपमिति नहीं है क्योंकि 'इदम्' पद से बोध्य पिण्ड में ही गवय की उपमिति होने से अन्य गवय में गवय पद का शक्तिग्रह नहीं हो सकेगा किन्तु सब 'गवय गवय पद का वाच्य है' इस प्रकार की उपमिति मानते हैं तब तो गवय मात्र में गवय पद वाच्यत्वज्ञान हो जाता है। तात्पर्य यह है कि गवय पद वाच्यत्व ग्रह केवल एक व्यक्ति में नहीं किन्तु गो सदृश गवय

१—सांख्यशास्त्र के विद्वान् उपमान को प्रमाण नहीं मानते। उनका मत है कि 'गोसदृशो गवय पदवाच्यः' आरण्यक पुरुष के इस वाक्य से जो शाब्दबोध होता है उसे ही उपमिति कहते हैं।' किन्तु उनका यह मत ठीक नहीं; क्योंकि 'गोसदृश गवय पदवाच्य है' इस वाक्य के अर्थ में जो 'गवय' पद है उसके सुनाई पड़ने पर भी गवयत्व जाति के अप्रत्यक्ष होने के कारण गवयत्वविशिष्ट में शक्तिग्रह नहीं हो सकता। गवय पद से गवयत्वाच्छिन्न की उपस्थिति होगी नहीं तब तो गवयत्वावच्छिन्न धर्मिक गवय पदवाच्यत्व प्रकारक शाब्दबोध भी नहीं हो सकेगा। जिसके लिए उपमान प्रमाण मानना ही पड़ेगा।

कुछ लोग कहते हैं कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों में अन्तर्भूत होने के कारण उपमान प्रमाण नहीं है। किन्तु इनका भी कहना ठीक नहीं, क्योंकि चक्षुः व्यापार के बीतने पर उपमिति पैदा होती है अतः यह ज्ञान चाक्षुष तो नहीं कहा जा सकता। मानस प्रत्यक्ष के बाद 'उपमिनोमि' यह प्रतीति होती है अतः मानस ज्ञान भी नहीं कहा जा सकता। व्याप्तिज्ञान के बिना भी यह प्रतीत होती है अतः अनुमिति भी नहीं कहा जा सकता। पदज्ञान से जन्य न होने के कारण शाब्दज्ञान भी नहीं कहा जा सकता। अननुभूत पदार्थ का स्मरण नहीं होता अतः स्मृति भी नहीं कहा जा सकता। अतः इन सब से बिलक्षण उपमान नाम का प्रमाण माना जाता है।

'गवयो गवयपद्वाच्य' इति ज्ञानं यज्जायते तदुपमितिः (न तु 'अयं

उक्तवाक्यार्थघटकगवयपदश्रवणेऽपि तदानीं गवयत्वजातेरप्रत्यक्षतया गवयत्व-विशिष्टे शक्तिग्राहकप्रमाणाभावेन गवयपदजन्यगवयत्वावच्छिन्नोपस्थितेरभावेन गवयत्वावच्छिन्नधर्मिकगोपदवाच्यत्वप्रकारकशाब्दबोधासम्भवेन तादृशोपमितेः प्रमित्यन्तरत्वस्यावश्यकत्वेनोपमानस्यापि प्रमाणान्तरत्वावश्यकत्वात् ।

न च तव मतेपि गवयत्वस्य गोसादृश्यस्य च प्रत्यक्षेणोपस्थितौ कथं गवयत्वा-वच्छेदेनैव गवयपदवाच्यत्वोपमितिर्न गोसादृश्यावच्छेदेनेति वाच्यम् । उपमिते-स्तौल्येऽपि गवयत्वजात्यपेक्षया गोसादृश्ये गौरवज्ञानेन तदवच्छेदेन गवयपदवा-च्यत्वप्रकारकोपमितेरनुदयादित्यलमप्रस्तुतानल्पजल्पनेनेति ।

ननु नोपमानं प्रमाणान्तरं प्रत्यक्षादिप्रमितिजातीयप्रमितिकरणत्वाभावात् उप-मितेः प्रत्यक्षादिविजातीयत्वे मानाभावादिति चेन्न—

चक्षुरादिव्यापारविगमेऽप्युपमितेरुपादेयता तस्याश्चाक्षुषत्वासम्भवः मानसोत्तरम-नुत्पद्यमानाया उपमिनोमीति प्रतीतेर्विषयत्वान्न मानसत्वम् । अत एव उपमित्यन-न्तरं साक्षात्करोमीति अनुव्यवसायाभावः उपमिनोमीति अनुव्यवसायश्च एतेना-प्युपमितेः प्रत्यक्षत्वायोगः । व्याप्तिज्ञानमन्तराप्युदयान्नानुमितित्वम् । 'नापि शब्दत्वं पदज्ञानाजन्यत्वात् । नापि स्मृतित्वमननुभूतार्थस्य स्मरणायोगादिति

मात्र में गवय पद वाच्यत्वग्रह हुआ । अन्यथा एक व्यक्ति में ही 'अयं [1]गवयः' यह ज्ञान होता अन्य गवय में शक्तिग्रह न होने से ज्ञान नहीं बन सकता था । इस प्रकार उपमिति

१. यह एक उदाहरण मात्र है । वस्तुतः उपमान तीन प्रकार का होता है । **(१) सादृश्यविशिष्टपिण्ड दर्शन, (२) असाधारणधर्मविशिष्टपिण्ड दर्शन, (३) वैधर्म्यविशिष्टपिण्ड दर्शन ।** जैसे १—'गवय गवय पदवाच्य है' यह मूलोक्त उदाहरण । २—किसी ने पूछा कि भालू कैसा होता है ? उत्तर में बताया गया कि 'भालू के चार पैर होते हैं, चारों पैरों में पाँच-पाँच अंगुलियाँ होती हैं, मुख पर लम्बी सी नाक शोभा देती है, बहुत ऊँचा भी नहीं होता और बहुत नीचा भी नहीं होता, मध्यमश्रेणी के काले-काले बाल देह भर में होते हैं, देह भरा हुआ होता है' । जब कभी जङ्गल में भालू देखने में आया तब 'भल्लूकः भल्लूकपदवाच्यः' इस प्रकार भी उपमिति होती है । यहाँ भालू के सदृश किसी ग्रामीण पशु के न मिलने से 'गोसदृशो गवयः' की भाँति कोई अतिदेश वाक्य नहीं मिला अतः भालू का परिचय उसके असाधारण धर्म के द्वारा बताया गया और यह असाधारणधर्म विशिष्टपिण्ड दर्शन कहा गया है । ३—किसी ने पूछा कि सिंह का क्या स्वरूप है । इसके उत्तर में बताया कि 'सिंह को सींग, पक्ष (पंख) और खुर नहीं

गवयपदवाच्य' इत्युपमितिः गवयान्तरे शक्तिग्रहाभावप्रसङ्गात् ॥७९–८०॥

इति श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यविरचितायां
सिद्धान्तमुक्तावल्यामुपमानखण्डम् ॥

उपमितेः प्रमित्यन्तरत्वेन तत्करणतयोपमानस्य प्रमाणान्तरत्वसम्भवादिति शिवम् ॥ ७९–८० ॥

इति न्यायव्याकरणाचार्य श्रीसूर्यनारायणशुक्लविरचिते
मुक्तावलीमयूखे उपमानखण्डः सम्पूर्णः ।

में पहिले गवय दर्शन, तब अति देशवाक्य (गवय गौ के सदृश होता है) का स्मरण तब 'गवय गवय पद का वाच्य है' इस प्रकार की उपमिति होती है ।

न्याय-व्याकरण-साहित्याचार्य श्रीरामगोविन्दशुक्ल रचित सिद्धान्तमुक्तावली
की प्रकाश टीका में उपमानखण्ड समाप्त ।

होते, कटि पतली, छाती बड़ी, न बहुत ऊंचा, न बहुत नीचा सिंह होता है' जब कभी वन में इस प्रकार का पशु दिखाई पड़ा तब 'सिंहः सिंहपदवाच्यः' यह उपमिति भी होती है ।

शब्दखण्डम्

शाब्दबोधप्रकारं दर्शयति—

पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्रपदार्थधीः ।
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी ॥ ८१ ॥

पदज्ञानं त्विति । न तु ज्ञायमानं पदं करणं, पदाभावेऽपि मौनिश्लोकादौ शाब्दबोधात् ।

पदार्थधीरिति । पदजन्यपदार्थस्मरणं व्यापारः । अन्यथा पदज्ञान-

ज्ञायमानं पदमिति । **ननु शब्दबोधस्यात्मनिष्ठत्वात्पदस्याकाशनिष्ठत्वात्कथं कार्यकारणभाव इति चेन्न स्वविषयकश्रावणप्रत्यक्षसमवायित्वसंबन्धेन पदस्याप्यात्मनिष्ठत्वेनादोषात् ।**

मौनिश्लोकेति । **मौनिपुरुषेण यत्र लिप्यादिना श्लोकादिर्लिखितस्तत्र लिप्या पदज्ञानेन शाब्दबोधो जायते तव तु न स्यात् पदाभावात् । एतेन उच्चरित एव शब्दः प्रत्यायक इति वैयाकरणोक्तं नादरणीयमिति भावः । आदिपदेन विजातीयहस्तचेष्टादेः संग्रहः ।**

व्यापार इति । **पदार्थस्मरणं हि पदज्ञानजन्यं पदज्ञानजन्यशाब्दबोधजनकं चेति भवति तस्य व्यापारत्वमिति भावः ।**

अब शाब्दबोधका प्रकार बतलाते हैं—

(शाब्दबोध के प्रति) पदज्ञान करण (कारण) है, पदार्थज्ञान द्वार (व्यापार) है शाब्दबोध फल है और शक्तिज्ञान सहायक है । तात्पर्य यह है कि शक्तिज्ञानसे जन्य पदार्थकी उपस्थिति के द्वारा शाब्दबोधरूपी फल उत्पन्न होता है । (उपमान शक्तिका ग्राहक है अतः शाब्दबोधमें उपजीव्य हुआ ।)

शाब्दबोधमें पदज्ञान ही करण है (आसाधारण कारण को करण कहते हैं) ज्ञायमान पद ही करण नहीं है क्योंकि मौनी द्वारा पढ़े गए श्लोकोंमें श्रूयमाण पद तो रहता नहीं इसलिए शाब्दबोध हो नहीं सकता था । ज्ञायमान पदमें शानच् प्रत्यय वर्तमानकालका बोधक है मौनीके श्लोकमें वर्तमान कालमें श्रूयमाण पद नहीं है अतः पदज्ञानको करण माना गया है पदज्ञान तो मौनीको भी है और दूसरों को भी रहता है ।

इसी प्रकार पदजन्यपदार्थस्मरण अर्थात् पदज्ञानजन्य पदार्थोप

वतः प्रत्यक्षादिना पदार्थोपस्थितावपि शाब्दबोधापत्तेः ।

तत्रापि वृत्त्या पदजन्यत्वं बोध्यम् । अन्यथा घटादिपदात्समवायसम्बन्धेनाऽऽकाशस्मरणे जाते आकाशस्यापि शाब्दबोधापत्तेः ।

वृत्तिश्च शक्तिलक्षणान्यतरः सम्बन्धः । अत्रैव शक्तिज्ञानस्योपयोगः ।

प्रत्यक्षादिनेति । **ननु पदज्ञानवतः प्रत्यक्षादिना घटादिपदार्थोपस्थितौ जायमानायां पदज्ञानजन्यत्वाभावाद् द्वारत्वासंभव इति चेन्न घटपदबोध्योऽयं घट इत्यस्यापि ज्ञानलक्षणया पदज्ञानजन्यत्वसम्भवेन द्वारत्वसम्भवात् ।**

आकाशस्मरणे इति । **एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकमिति रीत्येत्यादिः ।**

अत्रैव । **पदजन्यपदार्थोपस्थितावेवेत्यर्थः ।**

अर्थात् व्यापार है । तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम् व्यापारत्वम्' अर्थात् जो किसीसे जन्य हो और उससे उत्पन्न होनेवालेका (जनक) हो उसे व्यापार कहते है। जैसे पदार्थस्मरण पदज्ञानसे जन्य है और पदज्ञानसे जन्य शाब्दबोधका जनक भी है । इसलिए पदज्ञानके बाद जो शाब्दबोध होगा उसमें पदार्थस्मरण अवान्तर व्यापार है यह अवश्य मानना चाहिए नहीं तो यदि किसी को पदज्ञान हो गया है और प्रत्यक्ष आदि द्वारा पदार्थकी उपस्थिति हो गई है वहाँ पर भी 'पदार्थ का प्रत्यक्ष हो रहा है' इस प्रकार का ज्ञान न होकर 'पदार्थ का शाब्दबोध हो रहा है' पदज्ञान होने लगेगा जो अनिष्ट है ।

केवल 'पदजन्यपदार्थोपस्थितिः कारणम्' इतने से कार्य नहीं चलेगा । अतः 'वृत्त्या पदजन्यपदार्थोपस्थितिः शाब्दबोधे कारणम्' कहना चाहिए । शक्ति और लक्षणा को वृत्ति कहते हैं । यदि वृत्ति पद न जोड़ा जाय तो 'एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकं भवति' (अर्थात् एक सम्बद्ध वस्तु के ज्ञान होने पर उसके साथी दूसरे वस्तु का भी स्मरण हो जाता है) इस नियमके आधार पर 'घट' पद सुनने के बाद घट पदके समवाय सम्बन्धसे आश्रय आकाश का भी स्मरण हो सकता है क्योंकि 'घट पद' शब्द होने के कारण गुण है और आकाशमें समवाय सम्बन्ध से रहता है । अतः घट पद से आकाश की उपस्थिति होना स्वाभाविक है फिर तो घट पदसे आकाशका भी शाब्दबोध होने लगेगा । आकाश भी घट पदसे उपस्थित है । पद जन्य पदार्थोपस्थिति ही शाब्दबोधमें कारण है । यदि कारण कोटिमें वृत्तिपद जोड देते हैं तब तो घट की आकाशमें वृत्ति (शक्ति या लक्षणा) न रहने से शाब्दबोधका कारण नहीं मिला जिससे घट पद से आकाश विषयक शाब्दबोध नहीं हो सका ।

शब्द और अर्थमें जो अर्थस्मरणके अनुकूल परस्पर सम्बन्धविशेष उसका नाम वृत्ति है । जो शक्ति और लक्षणा के नामसे दो प्रकार की होती है । शक्तिज्ञानका उपयोग तो पदज्ञानजन्यपदार्थोपस्थितिमें ही है । क्योंकि पदज्ञानके रहने पर भी अर्थमें

शक्तिग्रहाभावे पदज्ञानेऽपि तत्सम्बन्धेन स्मरणानुपपत्तः। पदज्ञानस्य हि एकसम्बन्धिज्ञानविधयार्थस्मारकत्वम्।

शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः। स चास्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छारूपः।

आधुनिके नाम्नि शक्तिरस्त्येव–'एकादशेऽहनि पिता नाम कुर्यात्' इतीश्वरेच्छायाः सत्त्वात्। आधुनिकसङ्केतिते तु न शक्तिरिति सम्प्रदायः।

अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इति। **इदंपदोत्तरपञ्चम्या अभेदोर्थः, शब्दपदोत्तरपञ्चम्या जन्यत्वमर्थः, बुधधात्वर्थो ज्ञानम्, तव्यप्रत्ययार्थः विषयताश्रयः। तत्र इदंपदार्थस्य पञ्चम्यर्थभेदे प्रतियोगित्वसंबन्धेन, तस्य च पञ्चम्यर्थाभावे प्रतियोगित्वसंबन्धेन, अभावस्य च स्वरूपसंबन्धेन शब्दपदार्थे, तस्य च पञ्चम्यर्थजन्यत्वसम्बन्धेन बोधे, तस्य निरूपितत्वसम्बन्धेन विषयतायाम्, तस्याश्च स्वरूपेण आश्रये, तस्याभेदेन अर्थे, अन्वयः। एवं च एतदभिन्नशब्दनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यतावद्बोधविषयीभूताभिन्नः एतदभिन्नोऽर्थ इति बोध इति पदप्रकारिका अर्थविशेष्यिका इयमिच्छा।**

नन्वीश्वरेच्छाया नित्यत्वादेकत्वाच्च 'घटपदाद्धटो बोद्धव्यः' 'पटपदात्पटो बोद्धव्य' इति समूहालम्बनात्मकेश्वरेच्छाविषयतायाः पटेऽपि सत्त्वेन पटस्य घटपदवाच्यत्वापत्तिः, एवं गङ्गापदजन्यबोधविषयत्वप्रकारकेश्वरेच्छायास्तीरेऽपि सत्त्वाच्छक्त्यैव तीरबोधे लक्षणाया उच्छेदापत्तिश्चेति चेन्न—

तत्पदजन्यबोधविषयतात्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेन ईश्वरेच्छैव तत्पदशक्तिरिति स्वीकारेण 'तीरं बोधविषयो भवतु' 'बोधश्च गङ्गापदजन्यो भवतु' इति विश्रृङ्खलेश्वरेच्छाया लक्षणास्थले स्वीकारेण तीरनिष्ठविशेष्यताया बोधविषयतात्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितत्वेऽपि गङ्गापदजन्यबोधविषयतात्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितत्वाभावान्न तादृशसम्बन्धेनेश्वरेच्छावत्त्वं तीरस्येति न लक्षणोच्छेदः। 'घटो घटपदाद्बोद्धव्यः' 'पटः पटपदाद्बोद्धव्य' ईदृश्या ईश्वरेच्छायाः शक्तिस्थले स्वीकारेण घटपदजन्यबोधविषयतात्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासम्बन्धेनेश्वरेच्छाया घटे एव सत्त्वेन पटे न घटपदवाच्यत्वव्यवहार इत्याशयात्।

ननु आधुनिकपाणिन्यादिसङ्केतितनदीवृद्ध्यादिपदाद्बोधो न स्यादीश्वरेच्छारूपशक्तेरभावादित्यस्वरसादाह नव्यास्त्विति।

अपभ्रंशगगर्यादिपदाद्बोधस्तु उभयमतेऽपि शक्तिभ्रमादेवेति मन्तव्यम्।

शक्तिग्रह के न रहने से शक्तिरूप सम्बन्ध या लक्षणारूप सम्बन्धके द्वारा स्मरण नहीं हो सकता। शक्यसम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं। पदज्ञान तो 'एक सम्बन्धीके ज्ञानसे दूसरे सम्बन्धी का स्मारक है' जैसे हाथी का ज्ञान होने से हाथीवान का अथवा हाथीवानके ज्ञानसे हाथी का स्मरण हो जाता है। वैसे पद और अर्थमें शक्तिरूपसम्बन्धका ज्ञान जिसे होगा उसे तो पदात्मक एक सम्बन्धीके ज्ञानसे अर्थात्मक दूसरे सम्बन्धी का स्मरण होता है। किन्तु जिन्हें शक्ति ग्रह नहीं है उन्हें शाब्दबोध नहीं होता।

पदके साथ पदार्थके सम्बन्धविशेष का नाम शक्ति है। वह 'इस पदसे यह अर्थ जानना चाहिए' इस ईश्वरेच्छाके रूपमें है। आधुनिकों (आजकल के लोग जो नाम रच रहे हैं) के द्वारा रचे हुए नामोंमें भी शक्ति है ही क्योंकि 'पिता इग्यारहवें दिन पुत्र का नामकरण संस्कार करें' इस प्रकार की ईश्वरकी इच्छा हम लोगोंके नामके रखनेमें है ही। हाँ, वैयाकरणों द्वारा रची हुई नदी, वृद्धि आदि संज्ञाओंमें ईश्वरेच्छा न होनेसे शक्ति नहीं है। जो शाब्दबोध होता है वह शाब्दबोध भी भ्रमात्मक है। यह सिद्धान्त नैयायिकोंके सम्प्रदाय (परम्परा) से मान्य है।

नव्यास्तु ईश्वरेच्छा न शक्तिः किन्त्विच्छैव तेनाधुनिकसङ्केतितेऽपि शक्तिरस्त्येवेत्याहुः।

शक्तिग्रहस्तु व्याकरणादितः। तथाहि—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

धातुप्रकृतिप्रत्ययादीनां शक्तिग्रहो व्याकरणाद्भवति। क्वचित्सति बाधके त्यज्यते।

धात्विति। **प्रकृतिः प्रातिपदिकम्। धातोः प्रकृतित्वेऽपि ब्राह्मणवशिष्ठन्यायेन पृथगुक्तिः।**

नवीन नैयायिकोंने तो ईश्वरेच्छा को शक्ति न मानकर केवल इच्छा को ही शक्ति माना है। जिससे आधुनिकों द्वारा रचे हुए संकेतशब्दों में शक्ति है हो और शाब्दबोध भी प्रमात्मक होता है।

शक्तिका ज्ञान तो व्याकरण आदि आठ उपायोंसे होता है। जैसे व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवरण और प्रसिद्ध पदके सन्निधान, यह वृद्ध विद्वानों का मत है।

धातु, प्रकृति (प्रातिपदिक), प्रत्ययका शक्तिग्रह व्याकरणसे होता है। जैसे भू धातुका सत्ता अर्थ है, ति प्रत्यय का कर्ता अर्थ है, पच धातुका पाक अर्थ है और पाचक पदमें 'वु' प्रत्यय के कर्ता अर्थ का प्रतिपादन व्याकरणसे होता है। अतः व्याकरण शक्तिग्राहक सिद्ध होता है। किन्तु इस प्रकार का शक्तिग्रह कहीं-कहीं बाधक होनेसे त्याग दिया जाता है।

यथा वैयाकरणैराख्यातस्य कर्तरि शक्तिरुच्यते। चैत्रः पचतीत्यादौ कर्त्रा सह चैत्रस्याभेदान्वयः। तच्च गौरवात्त्यज्यते। किन्तु कृतौ शक्तिग्रहे लाघवात्। कृतिश्चैत्रादौ प्रकारीभूय भासते।

व्याकरणादिति। **भूसत्तायां 'वर्तमाने लडित्यादिव्याकरणादित्यर्थः।**

वैयाकरणैरिति। **फलव्यापारौ धात्वर्थः। कर्तृप्रत्यये कर्ता, कर्मप्रत्यये कर्म प्रत्ययार्थः। कालसंख्ये चोभयत्र प्रत्ययार्थः। तत्र देवदत्तादेरभेदेन एकत्वस्य च स्वरूपसम्बन्धेन प्रत्ययार्थे आश्रयेऽन्वयः तस्य कालस्य च वृत्तित्वसम्बन्धेन व्यापारे कर्मणश्च वृत्तित्वसम्बन्धेन फलेऽन्वयः। फलस्य च अनुकूलत्वसंम्बन्धेन व्यापारेऽन्वयः।**

एवं च देवदत्तस्तुण्डुलं पचतीत्यत्र देवदत्ताभिन्नैकत्वावच्छिन्नाश्रयवृत्तिः तण्डुलनिष्ठविक्लित्यनुकूलो वर्तमानकालिको व्यापार इति बोधः, देवदत्तेन तण्डुलः पच्यते इत्यत्र देवदत्ताभिन्नकर्तृवृत्तिवर्तमानकालिकव्यापारजन्यतण्डुलाभिन्नैकत्वावच्छिन्नाश्रयवृत्तिविक्लित्तिरिति बोध इति वैयाकरणाः।

कर्तरि कर्मणि च लस्य शक्तिस्वीकारे कर्तृत्वं कृतिमत्त्वं तच्च कृतिः, कर्मत्वं फलवत्त्वं तच्च फलमेव शक्यतावच्छेदकं, कृतौ फले च शक्तिस्वीकारे शक्यतावच्छेदकलाघवमतो नैयायिकैः कृतौ फले च शक्तिरुपेयते इति। एतन्मते च देवदत्तस्तण्डुलं पचतीत्यत्र तण्डुलवृत्तिविक्लत्यनुकूलव्यापारानुकूलवर्तमानकालिककृतिमानेकत्वावच्छिन्नो देवदत्त इति बोधः, देवदत्तेन तण्डुलः पच्यते इत्यत्र च देवदत्तवृत्तिकृतिजन्यव्यापारजन्यविक्लित्त्याश्रय एकत्वावच्छिन्नस्तण्डुल इति बोधः।

जैसे वैयाकरण लोग तिङ् की शक्ति कर्तामें मानते हैं। 'चैत्रः पचति' वाक्यमें तिबर्थ (प्रत्ययार्थ) कर्ताके साथ चैत्रका अभेद सम्बन्धसे अन्वय होता है। कर्ताका वृत्तित्व सम्बन्धसे धात्वर्थ व्यापारमें, तिबर्थ (प्रत्ययार्थ) कालका भी वृत्तित्व सम्बन्धसे उसी व्यापारमें अन्वय होता है। प्रत्ययार्थ संख्याका अन्वय प्रत्ययार्थ कर्तामें होता है। जिससे 'चैत्राभिन्नैकत्वावच्छिन्नकर्तृवृत्तिर्वर्तमानकालिको विक्लित्यनुकूलो व्यापारः' यह 'चैत्रः पचति' वाक्यके वैयाकरणोंके मतमें शाब्दबोध होता है। तात्पर्य यह हैं कि चैत्रः पचति में दो पद हैं। 'चैत्रः' का 'सु' प्रत्यय प्रातिपदिकार्थमात्रमें होनेसे कोई अलग अर्थ नहीं रखता। 'पचति' में दो अंश हैं। एक 'पच' और दूसरा 'ति' प्रथमपुरुषका एकवचन है, कर्तामें उत्पन्न हुआ है अतः कर्ता अर्थ है, 'वर्तमाने लट्' से लट् के स्थानमें हुआ है अतः वर्तमान काल भी अर्थ है। 'पच' धातुका विक्लित्यनुकूल व्यापार अर्थ है। वाक्यके कर्ता चैत्र का प्रत्ययार्थकर्तामें अभेदसम्बन्धसे अन्वय हुआ और प्रत्ययार्थकर्तामें प्रत्ययार्थ संख्या का अन्वय हुआ इसी प्रकार कर्ताका वृत्तित्वसम्बन्धसे और प्रत्ययार्थ कालका भी वृत्तित्व सम्बन्धसे व्यापारमें

न च कर्तुरनभिधानाच्चैत्रादिपदानन्तरं तृतीया स्यादिति वाच्यम्, कर्तृसंख्यानभिधानस्य तत्र तन्त्रत्वात्।

तत्र–**तृतीयायाम्।**

तन्त्रत्वादिति। **प्रयोजकत्वादित्यर्थः। अयं भावः** अनभिहिते **इत्यस्य** कर्तृकरणोस्तृतीये **त्येतदेकवाक्यतापन्न** द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने **इति संख्यावाक्येनान्वयात् कर्तृगतैकत्वेऽनभिहिते तृतीयैकवचनम्। एवं कर्मगतैकत्वेऽनभिहिते द्वितीयैकवचनमित्यर्थः, न तु अनभिहिते कर्मणि कर्तरि वेत्यर्थः। एवं च कर्तृसङ्ख्यानभिधानस्यैव तृतीयाप्रयोजकत्वमिति।**

अन्वय होता है। इसे ही व्यापार मुख्य विशेष्यकशाब्दबोध कहते हैं। क्योंकि शाब्दबोध वाक्य में व्यापार पद ही मुख्यरूपसे विशेष्य है अन्य सब विशेषण हो गए हैं।

इसी प्रकार 'चैत्रेण पच्यते' यहां पर फल और व्यापार धात्वर्थ है। कर्ममें प्रत्यय होने से प्रत्ययार्थ कर्म है। काल संख्या भी प्रत्ययार्थ है। आश्रय भी तिङ् का अर्थ है। इस प्रकार चैत्राभिन्नकर्तृवृत्तिवर्तमानकालिकव्यापारजन्यतण्डुलाभिन्नैकत्वावच्छिन्नाश्रयवृत्तिर्विक्लित्तिः' यह शाब्दबोध होता है।

परन्तु नैयायिकों का कहना है कि 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' सूत्रके आधार पर लकार की कर्ता और कर्म में शक्ति मानना ठीक नहीं। क्योंकि कर्तृत्व ही कृतिमत्व है और वह कृति रूप होगा इसी प्रकार कर्मत्व फलवत्व है वह फलस्वरूप होगा। वैयाकरणोंके यहां कर्ता कर्ममें शक्ति माननेसे शक्यतावच्छेदक कृतिमत्व (कृति) और फलत्व (फल) अनेक होता है यह गौरव है। अतः कृति और फलमें लकारकी शक्ति मानना चाहिए। इनके मतमें कृतित्व और फलत्व शक्यतावच्छेदक होगा जिसमें लाघव है। कृति इनके मतमें 'चैत्र आदिमें प्रकाररूप तण्डुल से प्रतीत होगी। चैत्रः तण्डुलं पचति' इस वाक्यका 'तण्डुलवृत्तिविक्लत्यनुकूल व्यापारानुकूलवर्तमानकालिककृतिमानेकत्वावच्छिन्नः चैत्रः' यह शाब्दबोध होगा। 'चैत्रेण तण्डुलः पच्यते' इस वाक्यका 'चैत्रवृत्ति कृतिजन्यव्यापारजन्यविक्लित्याश्रय एकत्वावच्छिन्नस्तण्डुलः' यह शाब्दबोध होगा। इसे प्रथमान्तर्थ मुख्य विशेष्यकशब्दबोध कहते हैं। क्योंकि 'चैत्रः तण्डुलं पचति' इस वाक्यमें चैत्र प्रथमान्त पद था। शाब्दबोध वाक्यमें वही चैत्र पद विशेष्य है। 'चैत्रेण तण्डुलः पच्यते' इस वाक्यमें तण्डुल प्रथमान्त पद है अतः तण्डुल विशेष्य है।

यहां यह शङ्का उठ सकती है कि नैयायिक तो कृतिमें तिङ् की शक्ति मानते हैं फिर 'चैत्रः पचति' इति वाक्यमें तिङ्का अर्थ कर्ता न होकर कृति होगा और 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इस सूत्रसे अनुक्तकर्तामें तृतीया होनी चाहिए जो व्याकरण शास्त्रसे नहीं बन सकती है। किन्तु यह आशङ्का उचित नहीं। क्योंकि कर्तृकरणयोस्तृतीया, द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने, अन-

संख्याभिधानयोग्यश्च कर्मत्वाद्यनवरुद्धः प्रथमान्तपदोपस्थाप्यः।

कर्मत्वाद्यनवरुद्ध इति । 'चैत्रः पचति तण्डुल' इत्यत्र कर्मत्वादिलाक्षणिकप्रथमान्तपदोपस्थाप्ये तण्डुलादौ संख्यान्वयवारणाय कर्तृत्वाद्यनवरुद्ध इति दलम् ।

ननु चैत्र इव मैत्रो गच्छतीत्यत्र चैत्रस्य इवार्थसादृश्ये प्रतियोगितासम्बन्धेन सादृश्यस्य च अनुयोगितासम्बन्धेन मैत्रेऽन्वयात 'संयोगानुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान् चैत्रसदृशो मैत्र' इति बोधस्तत्र तिबर्थैकत्वस्य चैत्रेऽन्वयः चैत्रस्य कर्मत्वानवरुद्धत्वात्प्रथमान्तपदोपस्थाप्यत्वाच्च । किं च पक्वमन्नं भुज्यते इत्यत्र पाककर्मत्वस्याऽन्नेऽन्वयेन प्रथमान्तपदोपस्थाप्यत्वेऽपि कर्मत्वावरुद्धत्वात् अन्ने संख्यानन्वयापत्तिरतः

भिहिते इन तीनों सूत्रों की एकवाक्यता होने से 'कर्तृगतैकत्वेऽनभिहिते तृतीयैकवचनम्' कर्तृगत एकत्वके अनुक्त होने पर तृतीया का एक वचन और 'कर्मगतैकत्वेऽनभिहिते द्वितीयैकवचनम्' कर्मगत एकत्वके अनुक्त होने पर द्वितीया का एकवचन होता है यही अर्थ माना जाना चाहिए। इस अर्थसे कर्तृगत संख्याके अनुक्त होने पर ही तृतीया प्राप्त होगी। क्योंकि तृतीया के प्रयोजक कर्ता का अनुक्तत्व नहीं अपितु 'कर्तृगतसंख्या का अनुक्तत्व ही तृतीया का प्रयोजक है' 'चैत्रः पचति' इस वाक्यमें कर्तृगतसंख्या उक्त है अतः तृतीया होनेकी आशङ्का नहीं होनी चाहिए।

अब यह प्रश्न उठता है कि कर्तृगत संख्या कहाँ उक्त होती है और कहाँ अनुक्त होती है इसके लिए क्या नियामक होगा ? हाँ, जो कर्मत्वसे अनवरुद्ध तथा प्रथमान्तपदोपस्थाप्य होगा उसी की संख्या तिङ्से उक्त होने के योग्य होगी। 'कर्मत्वाद्यनवरुद्ध' पदका पारिभाषिक अर्थ है 'इतर विशेषणत्वेन तात्पर्याविषय' अर्थात् किसी अन्यमें विशेषण होकर तात्पर्य का विषय न हो। इसी लिए 'चैत्र इव मैत्रो गच्छति' इस वाक्यमें गम धातु के अनन्तर तिप् प्रत्ययसे चैत्रकी संख्या उक्त न होगी किन्तु मैत्र ही की संख्या उक्त होगी क्योंकि चैत्रका इव के अर्थ सादृश्य में प्रतियोगित्व सम्बन्धसे अन्वय है अतः चैत्र इतर=इव के साथ विशेषण बनकर तात्पर्यका विषय बना है जो नियम विरुद्ध होनेसे संख्यासे अन्वित नहीं होगा। 'पक्वमन्नं भुञ्जते' इस स्थलमें अन्य किसी इतरसे विशेषण होकर तात्पर्यका विशेषण नहीं है अतः संख्याका अन्वय होता है। तब 'चैत्र इव मैत्रो ग्रामं गच्छति' इस स्थल में 'ग्रामवृत्तिसंयोगानुकूलव्यापारानुकूलकृतिमानैकत्वावच्छिन्नश्चैत्रप्रतियोगिकसादृश्यानुयोगी मैत्रः' यह शाब्दबोध हुआ।

किन्तु 'कर्मत्वाद्यनवरुद्ध' पदका इतरविषेणत्वेन तात्पर्याविषयत्व अर्थ करने से 'चैत्र एव पचति' इस स्थल में 'चैत्रेतरावृत्तिपाककृतिमान् चैत्रः' इस प्रकारका शाब्दबोध होता जो नहीं बन सकता। क्योंकि चैत्र पदार्थ अन्ययोगव्यवच्छेदरूप एवकारार्थमें जो भेद है उसमें विशेषण है। अतः चैत्रमें इतरविशेषणत्वेन तात्पर्यविषयत्व होने से संख्याका अन्वय

कर्मत्वादीत्यस्येतरविशेषणत्वतात्पर्याविषयत्वमर्थः। तेन चैत्र इव मैत्रो गच्छतीत्यादौ न चैत्रे संख्यान्वयः। यत्र कर्मादौ न विशेषणत्वे तात्पर्यं तद्वारणाय प्रथमान्तेति।

यद्वा धात्वर्थातिरिक्ताविशेषणत्वं प्रथमदलार्थः। तेन चैत्र इव मैत्रो गच्छतीत्यत्र चैत्रादेर्वारणम्।

कर्मत्वाद्यनवरुद्ध इत्यस्यार्थमाह–इतरविशेषणत्वतात्पर्याविषयत्वमिति। चैत्र इव मैत्रो गच्छतीत्यत्र चैत्रस्य इवार्थविशेषणत्वेन तात्पर्यविषयत्वान्न तत्र संख्यान्वयः। पक्वमन्नं भुज्यते इत्यत्र अन्नस्य इतरविशेषणत्वेन तात्पर्यविषयत्वाभावात्संख्यान्वय इति भावः। विशेषणत्वतात्पर्याविषयत्वमित्येव सिद्धे इतरपदं व्यर्थमिति ध्येयम्।

ननु चैत्र एव पचतीत्यत्र 'चैत्रेतरावृत्तिपाककृतिमान् चैत्रः' इति बोधात् चैत्रस्य विशेषणत्वेन तात्पर्यविषयत्वात् सख्यानन्वयापत्तिः। किं च चैत्रश्चैत्रं पश्यतीत्यत्र चैत्रे संख्यानन्वयापत्तिः। 'चैत्रवृत्तिचक्षुःसंयोगजन्यज्ञानाश्रयश्चैत्र' इति बोधे चैत्रस्य विशेषणत्वेन तात्पर्यविषयत्वादिति चेन्न—

इतरविशेषणत्वमात्रेण तात्पर्याविषयत्वमित्यर्थात्। एवं च प्रकृते चैत्रे विशेष्यत्वस्यापि सत्त्वेन विशेषणत्वमुख्यविशेष्यत्वाभ्यां तात्पर्यविषयत्वात् 'विशेषणत्वमात्रेण तात्पर्याविषयत्वात्संख्यान्वये बाधकाभावात्। एवं च तण्डुलं पचतीत्यादौ यत्र विशेषणत्वमुख्यविशेष्यत्वाभ्यां ताण्डुलस्यैवान्वयो विवक्षितः तत्र तण्डुले संख्यान्वयवारणाय प्रथमान्तेति दलम्। किं च चैत्रेण सुप्यत इत्यत्र धात्वर्थस्वापे संख्यान्वयवारणाय प्रथमान्तेति दलम्।

नहीं होगा। इसी प्रकार 'चैत्रश्चैत्रं पश्यति' इस स्थलमें भी संख्याका अन्वय नहीं होगा क्योंकि 'चैत्रवृत्तिचक्षुःसंयोगजन्यज्ञानाश्रयश्चैत्रः' इस शाब्दबोधमें चैत्र विशेषणत्वेन तात्पर्यका विषय ही है। ठीक,

इसीलिए तो 'इतरविशेषणत्वमात्रेण तात्पर्याविषयत्व' अर्थ किया जाता है। फिर तो चैत्रमें विशेष्यत्व के भी रहने से संख्याके उक्त होनेमें कोई बाधा नहीं है।

यदि 'प्रथमान्तपदोपस्थाप्य' पदका निवेश न करें तो 'तण्डुलं पचति' इस स्थलमें विशेषणत्व तथा मुख्यविशेष्यत्वसे तण्डुलका ही अन्वयविवक्षित है। अतः तण्डुलमें संख्यान्वय होकर तृतीया न हो इसलिए 'प्रथमान्तपदोपस्थाप्य' दल का निवेश किया। इसी प्रकार 'चैत्रेण सुप्यते' इस स्थलमें धात्वर्थस्वापमें संख्यान्वय रोकने के लिए भी प्रथमान्तपदोपस्थाप्य पदका निवेश किया गया है।

अब 'कर्मत्वाद्यनवरुद्ध' पदकी दूसरी व्याख्या के लिए कहते हैं 'यद्वा' यदि कर्मत्वाद्यनवरुद्ध पदका 'धात्वर्थातिरिक्ताविशेषण' अर्थात् 'धात्वर्थसे अतिरिक्त में विशेषण न हो।

स्तोकं पचतीत्यादौ स्तोकादेर्वारणाय च द्वितीयदलम्। तस्य द्वितीयान्तपदोपस्थाप्यत्वाद्वारणमिति।

एवं व्यापारेऽपि न शक्तिर्गौरवात्। रथो गच्छतीत्यादौ तु व्यापारे आश्रयत्वे वा लक्षणा। जानातीत्यादौ आश्रयत्वे नश्यतीत्यादौ प्रतियोगित्वे निरूढलक्षणा।

द्वितीयदलस्य प्रकारान्तरेण प्रयोजनं वक्तुमन्यथा प्रथमदलार्थमाह यद्वेति।

फलं धात्वर्थो व्यापारः प्रत्ययार्थ इति मीमांसकैकदेशिमण्डनमतं खण्डयितुमाह—एवं व्यापारेपीति।

गौरवादिति। व्यापारसमूहरूपक्रियाया वाच्यत्वे गौरवं कृतित्वापेक्षयेतिभावः जन्यत्वघटितस्य व्यापारत्वस्य कृतित्वजात्यपेक्षया गुरुत्वमित्यन्ये।

नन्वाख्यातस्य यत्नार्थकत्व न सम्भवति रथो गच्छतीत्यत्र व्यभिचारादत आह— रथो गच्छति इत्यत्र व्यापारे लक्षणाङ्गीकारपक्षे 'संयोगानुकूलव्यापारानुकूलव्यापारवान् एकत्वावच्छिन्नो रथः' इति बोधः। यदि तु रथो गच्छतीत्यत्र गमनानुकूलव्यापारस्य न बोधः किन्तु गमनाश्रयत्वस्यैवेति नवीनमतमाश्रित्य आश्रयत्वे लक्षणा तदा 'संयोगानुकूलव्यापाराश्रयतावान् इति बोधः। कृतेः रथेऽन्वयानुपपत्तिरिह लक्षणा बीजम्।

यह अर्थ करें तो कहीं भी दोष न होगा। क्योंकि 'चैत्र इव मैत्रो गच्छति' इस स्थलमें चैत्र धात्वर्थसे अतिरिक्त इवार्थ सादृश्यमें प्रतियोगिता सम्बन्धसे विशेषण है अतः चैत्रमें संख्यान्वय नहीं हुआ। मैत्र किसी में विशेषण नहीं है अतः मैत्रमें संख्यान्वय हुआ।

इस अर्थ में 'स्तोकं पचति' इस स्थलमें स्तोक पदार्थ धात्वर्थ विक्लित्तिमें अभेद सम्बन्धसे यद्यपि विशेषण है परन्तु धात्वर्थसे अतिरिक्तमें विशेषण नहीं है। अतः संख्यान्वय न हो इस लिए 'प्रथमान्तपदोपस्थाप्य' पदका निवेश किया। जिससे 'क्रियाविशेषणानां कर्मत्वम्' इस नियमके आधार पर स्तोक पद द्वितीयान्तपदोपस्थाप्य है। अतः संख्यान्वय नहीं हुआ।

इसी प्रकार **मीमांसकों का** कहना है कि फल धात्वर्थ है, व्यापार लकारार्थ है और करोति व्यापारार्थक है। किन्तु यह मत भी ठीक नहीं क्योंकि लकार की कृतित्वमें शक्ति न मानकर फूत्कारचुल्युपरिधारणादि व्यापारसमूहरूपक्रिया में शक्ति मानने से गौरव होगा। अथवा 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वरूप' व्यापार जन्यत्वसे घटित हैं जो कृतित्व जातिकी अपेक्षा गुरु है। अतः लकारकी व्यापारमें शक्ति नहीं मानी जाती।

यहाँ यह शङ्का उठना स्वाभाविक है कि जब **नैयायिक** लकारकी शक्ति कृतिमें मानते हैं तब 'रथो गच्छति' यह वाक्य अप्रामाणिक होगा क्योंकि गमनानुकूलकृति रथमें नहीं है। वह तो अश्वके चलनेसे चलता है। हां, यह शङ्का ठीक है,

किन्तु 'रथो गच्छति' इस स्थलमें लकारकी व्यापार अथवा आश्रयत्वमें लक्षणा है। जिससे संयोगानुकूलव्यापारानुकूल व्यापारवान् रथः। अथवा संयोगानुकूलव्यापाराश्रयत्ववान् रथः' यह शाब्दबोध होगा। रथमें कृति का अन्वय न होनेसे अन्वयानुपपत्ति ही यहाँ लक्षणाका बीज (कारण) है।

'देवदत्तो जानाति' इस वाक्यका 'ज्ञानाश्रयो देवदत्तः' इस बोधके अनुरोधसे आश्रयत्व में लकार की लक्षणा माननी चाहिए। इसी प्रकार 'घटो नश्यति' यहाँ पर 'नाशप्रतियोगी घटः' यह बोध होता है। अतः लकार की प्रतियोगित्वमें निरूढा लक्षणा अर्थात् अनादि तात्पर्यवती लक्षणा मानी जाती है।

उपमानाद्यथा शक्तिग्रहस्तथोक्तम्।

एवं कोशादपि शक्तिग्रहः। सति बाधके क्वचित्त्यज्यते। यथा नीलादिपदानां नीलरूपादौ नीलादिविशिष्टे च शक्तिः कोशेन व्युत्पादिता तथापि लाघवान्नीलादावेव शक्तिः नीलादिविशिष्टे तु लक्षणेति।

एवमाप्तवाक्यादपि। यथा 'कोकिलः पिकपदवाच्यः' इत्यादिशब्दात् पिकादिपदानां कोकिले शक्तिग्रहः।

कोशेनेति। गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणि लिङ्गास्तु तद्वतीति कोशेनोभयत्र शक्तिबोधनादिति भावः

नीलादावेव शक्तिरिति। नीले शक्तौ नीलत्वं शक्यतावच्छेदकमिति लाघवम्, नीलविशिष्टे शक्तौ नीलः शक्यतावच्छेदकमिति गौरवमिति भावः।

उपमान से शक्तिग्रह की बात हम पूर्व प्रकरण में कर चुके हैं।

कोशसे भी पदकी शक्तिका ज्ञान होता है। किन्तु बाधा आने पर उसका परित्याग किया जाता है। जैसे नील आदि पदों की नीलरूपमें अथवा नील आदि से विशिष्ट घट में **'गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणि लिङ्गास्तु तद्वति'** इस कोशसे शक्ति-गृहीत होने पर भी लाघव के वश नीलमें शक्ति मानते हैं और नीलविशिष्ट में लक्षणा। क्योंकि नीलमें शक्ति मानने से नीलत्वरूपजाति शक्यतावच्छेदक होगी जो एक है और नीलविशिष्टमें शक्ति मानने से नीलगुणशक्यतावच्छेदक होगा जो अनेक है। अतः गौरव सुनिश्चित है। लक्षणा मानने से कोई दोष नहीं रहता।

आप्तवाक्यसे भी पदकी शक्ति का ज्ञान होता है। आप्त यथार्थवक्ता पुरुषको कहते हैं।

एवं व्यवहारादपि। यथा प्रयोजकवृद्धेन घटमानयेत्युक्तम्, तच्छ्रुत्वा प्रयोज्यवृद्धेन घट आनीतस्तदवधार्य पार्श्वस्थो बालो घटानयनरूपं कार्यं घटमानयेति शब्दप्रयोज्यमित्यवधारयति। ततश्च घटं नय, गामानयेत्यादिवाक्यादावापोद्वापाभ्यां घटादिपदानां कार्यान्वितघटादौ शक्तिं गृह्णाति

आवापोद्वापाभ्यामिति। आवापः कस्यचित्पदस्य प्रक्षेपः। उद्वापः कस्यचित्पदस्य निस्सारणम्।

गृह्णातीति : घटानयनं प्रवृत्तिजन्यं चेष्टात्वात् मदीयस्तनपानादिचेष्टावदित्यनुमानेन घटानयनगोचरप्रवृत्तिमनुमाय सा प्रवृत्तिः कार्यताज्ञानजन्या घटानयनादिधर्मिकप्रवृत्तित्वात्, मदीयप्रवृत्तिवदित्यनुमानेनानुमितघटानयनादिधर्मिकार्यताज्ञाने, कार्यताज्ञानं पदज्ञानजन्यं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वादित्यनुमानेन किंचित्पदज्ञानजन्यतामनुमाय तद्दृष्टान्तेन पदत्वावच्छेदेन कार्यताज्ञानजनकत्वं निश्चिनोति बाल इति भावः। केचित्-प्रभाकराः।

जैसे 'पिक शब्द कोकिल अर्थका वाचक है।' इस वाक्य से पिक पद का अर्थ न जानने वाले को शक्ति ग्रह होता है।

व्यवहारसे भी शक्तिका ज्ञान होता है। जैसे प्रयोजक (प्रेरक) वृद्धने 'घट लाओ' कहा, इसे सुनकर प्रयोज्यवृद्ध घट लेकर आया। पासमें बैठे हुए बालकने प्रयोजक वृद्धके वाक्य तथा प्रयोज्यवृद्धके कार्यको देखकर 'घट लाओ' इस वाक्यका 'घट लाना' अर्थ है यह निश्चय करता है। इसके बाद 'घट ले जाओ' 'गौ लाओ' इत्यादि वाक्यों को सुनकर एक पद के साथ किसी दूसरे पदको जोड़कर या किसी अन्य पदको हटाकर घटादि पदोंका कार्यान्वितघटमें शक्ति ग्रहण करता है। 'आवाप' का अर्थ है किसी पदको रखना। उद्वापका अर्थ है किसी पद को हटाना। जैसे 'घटं आनय' और 'घटं नय' में आनय हटाकर नयको रखना। 'कार्यान्वित' पदका अर्थ है कि एक पद दूसरे पदके साथ क्रियान्वित होकर ही पहले सुना जाता है बादमें आवापोद्वापके कारण अर्थ-भेद होने पर उन उन पदों का अलग-अलग अर्थ समझा जाता है।

प्रभाकरका मत है कि मध्यमवृद्धकी चेष्टाको देखकर बालकने 'घटानयनं, प्रवृत्तिजन्यं, चेष्टात्वात्, मदीयस्तनपानादिचेष्टावत्' इस अनुमानसे घटानयनमें प्रवृत्तिजन्यत्वका अनुमान किया। फिर 'सा प्रवृत्तिः, कार्यताज्ञानजन्या, घटानयनादिधर्मिकप्रवृत्तित्वात् मदीयप्रवृत्तिवत्, इस अनुमानसे घटानयनप्रवृत्तिमें कार्यताज्ञानकी अनुमिति हुई। फिर 'कार्यताज्ञानं, पदज्ञानजन्यं, तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्' इस अनुमानसे पदज्ञानजन्यत्वकी अनुमितिको और उसीको दृष्टान्त मानकर प्रत्येक पदमें कार्यताज्ञानजनकताका निश्चय किया।

इत्थं च भूतले नीलो घट इत्यादिवाक्यान्न शाब्दबोधः। घटादिपदानां कार्यान्वितघटादिबोधे सामर्थ्यावधारणात् कार्यताबोधं प्रति च लिङादीनां सामर्थ्यात्तदभावान्न शाब्दबोध इति केचित्—

तन्न; प्रथमतः कार्यान्वितघटादौ शक्त्यवधारणेऽपि लाघवेन पश्चात्तस्य परित्यागौचित्यात्।

अत एव—चैत्र पुत्रस्ते जातः; कन्या ते गर्भिणी जाता—इत्यादौ मुखप्रसादमुखमालिन्याभ्यां सुखदुःखे अनुमाय तत्कारणत्वेन परिशेष-

सामर्थ्यावधारणादिति। प्रभाकरमते शक्तिर्द्विधा उपस्थापिका आनुभविकी च। तत्र घटादिपदानां घटत्वादावुपस्थापिका कार्यत्वान्वितघटादावानुभविकी। एवं च कार्यत्वान्वितघटशाब्दत्वावच्छिन्नं प्रति घटपदज्ञानं कारणम्। लाघवेनेति। कार्यत्वान्वितघटशाब्दत्वापेक्षया घटशाब्दत्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वे लाघवमिति भावः।

सुखःदुखे इति। देवदत्तः सुखी मुखप्रसादवत्वात्, देवदत्तो दुःखी मुखमालिन्यवत्वात्, इत्यनुमानम्।

शाब्दबोधमिति। देवदत्तवृत्ति दुःखं सुखं वा शाब्दबोधजन्यं शाब्दबोधेतरकारणाजन्यत्वे सति कारणजन्यत्वादिति अनुमानाकारः।

इस प्रकार 'भूतले नीलो घटः' इस पदसमूहसे शाब्दबोध नहीं होता क्योंकि घटादि पदोंका कार्यान्वित घटादि पदों में ही शक्ति निश्चित हुई है। कार्यता बोधके प्रति तो लिङादिज्ञानमें सामर्थ्य है। यहाँ पर लिङादिक शब्द हैं नहीं अतः शाब्दबोधभी नहीं होता।

किन्तु प्रभाकरके मतमें यद्यपि पहले पहल बालकको घटादि पदोंका शक्तिग्रह आवाप और उद्वापके द्वारा कार्यान्वित घट आदि में ही होता है तथापि घटपदका कार्यतावच्छेदक कार्यान्वित घटविषयकशाब्दबुद्धित्व गुरु है अतः केवल घटविषयकशाब्दबुद्धित्वको ही कार्यतावच्छेदक मानने में लाघवके कारण कार्यान्वित घटमें शक्ति निश्चय होने पर भी शाब्दबोधकालमें उसका परित्याग ही उचित प्रतीत होता है। अत एव कार्यत्वाविषयकशाब्दबोधके प्रति पदोंकी कारणता मानते हैं।

इसी लिए 'चैत्र पुत्रस्ते जातः, कान्या ते गर्भिणी जाता', अर्थात् 'चैत्र तुम्हारे घर पुत्र उत्पन्न हुआ है, और तुम्हारे कन्या (अविवाहिता पुत्री) के गर्भ रह गया है' इस वाक्य के उच्चारण करने पर चैत्र के समीपवर्त्ती पुरुष प्रथम समाचारसे चैत्रकी प्रसन्नता और दूसरे वाक्यसे चैत्रकी चिन्ता, दुःख आदिका अनुमान करता है और चैत्र के सुख अथवा दुःख का 'मैत्र' के वाक्यजन्यबोध को ही कारण मानता है। इस प्रकार 'घटादिपदानां कार्यान्वितघटादिबोधे एव सामर्थ्यम्' घटादि पदोंकी कार्यान्वित घट आदिके

च्छाब्दबोधं निर्णीय तद्धेतुतया तं शब्दमवधारयति । तथा च व्यभिचारात्कार्यान्विते न शक्तिः ।

न च तत्र तं पश्येत्यादि शब्दान्तरमाध्याहार्यं, मानाभावात् । चैत्र पुत्रस्ते जातो मृतश्चेत्यादौ तदभावाच्च ।

इत्थञ्च लाघवादन्वितघटेऽपि शक्तिं त्यक्त्वा घटपदस्य घटमात्रे शक्तिमवधारयति ।

तद्धेतुतयेति । दुःखकारणीभूतः शाब्दबोधः प्रकृतवाक्यजन्यः अन्यथासिद्धचनिरूपकत्वे सति प्रकृतवाक्यानन्तरभावित्वादिति ।

मीमांसकैकदेश्यन्विताभिधानवादिमतं दूषयति इत्थं चेति । इदं हि तेषामाकूतम्—घटादिपदानां जातौ शक्तिर्व्यक्तिबोधश्चाक्षेपात् अन्वयस्याशक्यत्वादाक्षेपासंभवाच्चाशक्यस्यालक्ष्यस्य च शाब्दबोधे भानोपगमेऽतिप्रसङ्गः स्यादिति अन्वयेऽपि शक्तिरङ्गीकार्येति ।

लाघवादिति । अन्वितघटशाब्दत्वस्य पदज्ञानजन्यतावच्छेदकत्वापेक्षया घटशाब्दत्वस्य जन्यतावच्छेदकत्वे लाघवमिति भावः । अन्वयबोधस्तु आकाङ्क्षया तार्किकमते, लक्षणया च भाट्टमते इति ध्येयम् । यत्तु दिनकरेण भट्टमतं प्रतिक्षिपन्स्वमतमुपसंहरति-इत्थं चेत्युक्तं, तत्तु भट्टमतानवबोधविजृम्भितम् । न हि भट्टोऽन्विताभिधानवादी शास्त्रदीपिकादौ भट्टमतानुयायिभिरन्विताभिधानवादस्य निराकृतत्वादित्यलं परगृहकुदृष्टिपातेन ।

बोधमें ही शक्ति है । इस नियमका 'चैत्र तुम्हारे घरमें पुत्र हुआ है' इस स्थलमे व्यभिचार होनेसे घटादिपदों की कार्यान्वित घटादिपदों में शक्ति मानना उचित नहीं है ।

यद्यपि 'चैत्र तुम्हारे घरमें पुत्र हुआ है', इस वाक्यमें 'तं पश्य' उसे देखो, इस वाक्यांशका अध्याहार करलें तब तो व्यभिचार नही होगा यह कहा जा सकता है तथापि यह ठीक नहीं क्योंकि उक्त वाक्यांशके अध्याहारमें कोई प्रमाण नहीं है । 'चैत्र पुत्रस्ते जातः मृतश्च' इस स्थल में 'पश्य' का अभ्याहार होना असम्भव भी है ।

इन्हीं कारणोंसे अन्वितघटमें भी शक्तिका त्यागकर लाघवात् केवल 'घटमें ही घटपदका शक्तिग्रह करना' यही निश्चय बालकको होता है ।

इसी प्रकार वाक्यशेषसे भी शक्तिका ग्रहण होता है । जैसे 'यवमयश्चरुर्भवति' इस वाक्यमें पठित 'यव' पदकी दीर्घसूकवाले यव (जव) विशेषमें आर्यलोग शक्ति मानते हैं । और म्लेच्छलोग इस पदकी कङ्गु (काकुनि) में शक्ति मानते हैं । इससे यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि 'यवमयश्चरुर्भवति' इस वाक्यमें पठित 'यव' पदका क्या अर्थ माना जाय । इस शङ्काके निराकरणके लिए प्रकरणके अन्तमें 'यदान्या ओषधयः म्लायन्तेऽथैते

एवं वाक्यशेषादपि शक्तिग्रहः । यवमयश्चरुर्भवतीत्यत्र यवपदस्य दीर्घशूकविशेषे आर्याणां प्रयोगः, कङ्गौ च म्लेच्छानाम् । तत्र हि—'यदान्या ओषधयो म्लायन्तेऽथैते मोदमानास्तिष्ठन्ति' ।

वसन्ते सर्वसस्यानां जायते पत्रशातनम् ।
मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः ॥

इति वाक्यशेषाद्दीर्घशूके शक्तिर्निर्णीयते, कङ्गौ तु शक्तिभ्रमात्प्रयोगो नानाशक्तिकल्पने गौरवात् । हर्यादिपदे तु विनिगमकाभावान्नानाशक्तिकल्पनम् ।

एवं विवरणादपि शक्तिग्रहः । विवरणं तु तत्समानार्थकपदान्तरेण तदर्थकथनम् । यथा घटोऽस्तीत्यस्य कलशोऽस्तीत्यनेन विवरणाद्घटपदस्य कलशे शक्तिग्रहः । एवं पचतीत्यस्य पाकं करोतीत्यनेन विवरणादाख्यातस्य यत्नार्थकत्वं कल्प्यते ।

यवमय इति । तदुक्तं न्यायमालाविस्तरे—

यवादिशब्दाः किं द्व्यर्था, नो वार्यम्लेच्छसाम्यतः ।
दीर्घशूकप्रियंग्वाद्या, द्वयेप्यर्था विकल्पिताः ॥

मोदमानास्तिष्ठन्ति' जब दूसरी ओषधियोंमें पतझड़ हो जाते है तब भी ये मुदित रूपमें दिखाई देते हैं ।

'वसन्तमें सब सस्यों के पत्र गिर जाते हैं किन्तु कणिश और शाली (दीर्घसूकवाले) यव मुदित अवस्थामें रहते हैं । इन वाक्योंमें 'यव' शब्दकी परिभाषासे यह निर्णय किया जाता है कि 'यवमयश्चरुर्भवति' वाक्यमें 'यव' पदकी दीर्घसूकमें शक्ति है । म्लेच्छोंका प्रयोग भ्रममूलक है । यदि हरि पदकी भाँति 'यव' पदकी दीर्घसूक तथा कङ्गु (काकुनि) दोनों में शक्ति मानलें तो भी ठीक नहीं । क्योंकि अनेक शक्ति कल्पना करनेमें गौरव होगा । अतः मीमांसकोंने 'म्लेच्छप्रसिद्धेः आर्यप्रसिद्धिर्बलीयसी' इस न्यायके आधार पर 'यव' पदकी दीर्घसूक मात्रमें शक्ति मानी है ।

'हरि' पदमें तो अनेक शक्ति माननी ही पड़ती है । क्योंकि किसी एक अर्थमें हरि पदकी शक्तिका नियामक कोई वचन है ही नहीं ।

इसी प्रकार विवरणसे भी शक्तिग्रह होता है । विवरण पदका अर्थ है कि उसीके समान अर्थवाले दूसरे पदसे उसके अर्थको कहना' जैसे 'घट है' इसका अर्थ 'कलश है' इस वाक्य द्वारा करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि 'घट' पद और 'कलश' पदका एक ही

एवं प्रसिद्धपदस्य सानिध्यादपि शक्तिग्रहः। यथा इह सहकारतरौ मधुरं पिको रौतीत्यादौ पिकपदस्य कोकिले शक्तिग्रह इति।

तत्र जातावेव शक्तिर्न तु व्यक्तौ—व्यभिचारादानन्त्याच्च। व्यक्तिं

यत्रान्या इति शास्त्रस्था, प्रसिद्धिस्तु बलीयसी।
शास्त्रीयधर्मे तेनात्र, प्रियंग्वादि न गृह्यते॥

मीमांसकमतमाह—तत्र जाताविति। जातिविशिष्टव्यक्तौ शक्तिस्वीकारे 'नागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशेष्यमधिगच्छति' इति न्यायाज्जातौ शक्तिग्रहस्यावश्यकतया जातावेव शक्तिर्लाघवात् न तु जातिविशिष्टव्यक्तौ। तदुक्तं 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्क्षीणशक्तिर्विशेषणे' इति तेषामभिप्रायः।

ननु व्यक्तावेव शक्तिरस्तु न जाताविल्यत आह—न तु व्यक्ताविति। अयं भावः व्यक्तिशक्तिपक्षे एकस्यां व्यक्तौ शक्तिरस्ति सर्वासु वा। नाद्यः अगृहीतशक्तिकव्यक्तावपि विषयतासम्बन्धेन शाब्दबोधरूपकार्यस्य सत्त्वेन शक्तिग्रहरूपकारणस्याभावेन व्यतिरेकव्यभिचारात्। न द्वितीयः व्यक्तिभेदेन शक्तिभेदात् शक्यानन्त्यप्रसङ्गादिति। जातिशक्तिपक्षे तु न व्यभिचारो न वा शक्त्यानन्त्यमिति।

अर्थ है। इसी प्रकार पचति पदका पाकं करोति विवरण कर देनेसे आख्यातका यत्न अर्थ माना जाता है।

प्रसिद्धार्थक पदके सन्निधानसे भी पदकी शक्तिका ज्ञान होता है। जैसे किसीने कहा कि 'इस आमके पेड़पर पिक (कोयल) मधुर बोल रही है' इस वाक्य में पिक पदको छोड़कर अन्यपदों का अर्थ जाननेवाला व्यक्ति आमके पेड़ पर बैठकर बोलनेवाले पक्षिमें पिक पदकी शक्तिका ग्रहण (ज्ञान) प्राप्त करता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जिन पदोंका जिन अर्थोंमें शक्तिग्रह होता है क्या वह जातिमें शक्तिग्रह होता है या व्यक्तिमें। जैसे 'घट' पदकी घटत्वजातिमें शक्ति है या कम्बुग्रीवादिमद्व्यक्ति में?।

इस पर **मीमांसकों** का मत है कि घट पदकी घटत्व जातिमें शक्ति माननी चाहिए व्यक्तिमें नहीं। क्योंकि व्यक्तिमें शक्ति मानने पर किसी एक व्यक्तिमें शक्तिग्रह होने पर भी व्यक्त्यन्तरमें शक्तिग्रह न होनेसे शाब्दबोध नहीं होना चाहिए। किन्तु शाब्दबोध होता है। अतः 'कारणाभावे कार्योत्पादः' कारणके विना भी कार्यका होना व्यतिरेक व्यभिचार हो जाता है। यदि समस्त व्यक्तियोंमें शक्ति मानें तो अनन्तशक्ति माननी पड़ती है। क्योंकि व्यक्ति अनन्त हैं। इसलिए व्यक्तिमें शक्ति न मानकर जातिमें शक्ति मानते हैं। जातिसे सकल व्यक्तियोंका ग्रहण होनेसे व्यभिचारदोष नहीं होता, और जातिके एक होनेसे अनन्तशक्ति कल्पना भी नहीं करनी पडती है। हाँ; विना व्यक्तिके जातिकी

विना जातिभानस्यासम्भवाद्व्यक्तेरपि भानमिति केचित्।

तन्न; शक्तिं विना व्यक्तिभानानुपपत्तेः।

न च व्यक्तौ लक्षणा, अनुपपत्तिप्रतिसन्धानं विनापि व्यक्तिबोधात्।

न च व्यक्तिशक्तावानन्त्यम्, सकलव्यक्तावेकस्या एव शक्तेः स्वीकारात्।

न चाननुगमः गोत्वादेरेवानुगमकत्वात्।

जातिभानस्यासम्भवादिति। जातिभासकसामग्र्या एव व्यक्तिभासकत्वादिति भावः। इदमेव कथमिति चेदुच्यते व्यक्तिविशेष्यकजातिप्रकारकशाब्दबोधे जातिविषयकशक्तिज्ञानस्य हेतुतया व्यक्तिं विना जातिभानासम्भव इति।

तथाच जातिविशेष्यकशक्तिज्ञानं बोधे जातिभासकं व्यक्तिभासकं चेति भावः।

व्यक्तिभानानुपपत्तेरिति। वृत्त्या पदजन्यपदार्थोपस्थितेः शाब्दबोधे हेतुतया व्यक्तौ शक्तिं विना व्यक्तेर्भानं न स्यादिति भावः। लक्षणेति तावतैव वृत्तिप्रयोज्यपदार्थोपस्थितेः सत्त्वेन व्यक्तिबोधसम्भवादिति भावः।

अनुपपत्तिप्रतिसंधानमिति। गामानयेत्यादौ गोत्वे आनयनान्वयानुपपत्त्या गोपदस्य गोव्यक्तौ लक्षणासम्भवेऽपि गौरस्तीत्यत्र गोत्वेऽस्तित्वान्वयेऽनुपपत्त्यभावेन अन्वयानुपपत्तिरूपलक्षणाबीजस्यासत्त्वेन च न लक्षणासम्भव इति भावः। मीमांसका हि अन्वयानुपपत्तिमेव लक्षणाबीजं वदन्ति न तात्पर्यानुपपत्तिं तन्मते वेदस्यापौरुषेयतया इच्छारूपतात्पर्यस्याभावेन 'आदित्यो यूप' इत्यत्र तात्पर्यानुपपत्त्यभावेन लक्षणाभावप्रसङ्गात्।

तीति हो नहीं सकती, अतः जातिभासक सामग्री से ही व्यक्तिका भान हो जायगा। इस प्रकार व्यक्तिमें शक्ति माननेकी कोई आवश्यकता भी नहीं है।

इसी प्रकार जातिविशिष्ट व्यक्तिमें भी शक्ति मानना ठीक नहीं, क्योंकि 'नागृहीतविशेषणाबुद्धिर्विशेष्यमधिगच्छति' विशेषणज्ञानके बिना विशेष्यज्ञान हो ही नहीं सकता' इस न्याय के अनुसार घटत्वविशिष्ट घटमें शक्ति माननेके पूर्व घटत्वमें शक्ति मानना पड़ता है। क्योंकि घटत्व विशेषण है विशेषणमें शक्तिग्रह हुए बिना विशेष्यज्ञान होगा ही नहीं। अतः लाघवके कारण जातिमें शक्ति माननी चाहिए। जातिमें शक्ति मानकर भी जातिविशिष्ट व्यक्तिमें शक्ति नहीं मानी जा सकती। क्योंकि 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे' विशेषणमें ही जिसकी शक्ति क्षीण हो गई है वह अभिधा विशेष्यमें नहीं जा सकती' इस न्यायके आधार पर अभिधाका सामर्थ्य क्षीण हो गया है।

किन्तु मीमांसकों का यह कहना ठीक नहीं क्योंकि 'शाब्दबोधमें वृत्या पदजन्यपदार्थोपस्थितिः' कारण है'। यदि व्यक्तिमें शक्ति नहीं है तो व्यक्तिका भान शाब्दबोधमें नहीं

किञ्च गौः शक्येति शक्तिग्रहो यदि तदा व्यक्तौ शक्तिः। यदि तु गोत्वं शक्यमिति शक्तिग्रहस्तदा गोत्वप्रकारकपदार्थस्मरणं शाब्दबोधश्च न स्यात्। समानप्रकारकत्वेन शक्तिज्ञानस्य पदार्थस्मरणं शब्दबोधं प्रति

ननु शक्तिं विनापि व्यक्तिभानं भविष्यति सर्वत्र पदजन्यपदार्थोपस्थितेः हेतुत्वे-मानाभावात्। कथमन्यथा शाब्दबोधे संसर्गभानम्। नचैवं पदानुपस्थितघटादेरपि शाब्दबोधे भानापत्तिरिति वाच्यम्। गोविशेष्यकगोत्वप्रकारकशब्दबोधं प्रति गोत्व-शक्तिज्ञानत्वेन हेतुत्वस्याङ्गीकारेणादोषादित्यपरितोषादाह किञ्चेति।

व्यक्तौ शक्तिरिति। गौः शक्येति विशिष्टज्ञानं प्रमात्मकमेव तव [प्रभाकरस्य] मतेऽन्यथाख्यात्यभावात्, प्रमायाश्च वस्तुसाधकत्वादिति भावः।

समानप्रकारकत्वेनेति। गोत्वप्रकारकपदार्थस्मरणं, गोत्वप्रकारकशाब्दबोधं, च प्रति गोत्वप्रकारकशक्तिज्ञानस्य हेतुत्वादिति भावः।

अत एवापूर्ववादेऽपूर्वस्य पूर्वमनुपस्थितत्वात् कथं तत्र शक्तिग्रह इत्याशङ्क्य कार्यत्वेन घटादिषु शक्तिग्रहात् कार्यतया शाब्दबोधेऽपूर्वभानमित्युक्तम्।

होगा। अतः व्यक्तिमें शक्ति माननी चाहिए। यहाँ 'जातिमें शक्ति हैं व्यक्तिकी उपस्थिति लक्षणावृत्तिके द्वारा हो जायगी' यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि लक्षणामें अन्वयानुपपत्ति या तात्पर्यानुपपत्ति कारण है। दोनों प्रकारोंमें से किसी भी अनुपपत्तिके बिना भी 'गौरस्ति' इत्यादि वाक्योंमें व्यक्तिका बोध होता है। अतः व्यक्तिकी उपस्थिति लक्षणावृत्तिसे नहीं कही जा सकती।

व्यक्तिमें शक्तिमाननेसे अनन्तशक्तिकी कल्पना भी नहीं करनी पड़ेगी। क्योंकि सकल घटव्यक्तियोंमें एक ही शक्ति मानेगें फिर अनन्तशक्ति माननेका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। घटादि व्यक्तियोंके अनुगत होनेसे विषयतासम्बन्धेन शक्तिज्ञानकारणतामें अननुगम भी नहीं होगा। क्योंकि घटत्व अथवा गोत्व आदि धर्मोंसे अनुगम हो सकता है। तात्पर्य यह है कि गोविषयक शब्दबोधके प्रति गोत्वविशिष्टविषयकशक्तिज्ञानत्वेन कारणताके माननेसे अननुगमरूपी दोष नहीं होगा।

शाब्दबोधमें संसर्गभानको देखते हुए सर्वत्र 'पदजन्य पदार्थोपस्थिति' ही शाब्दबोधमें कारण है यह मानना अनुचित होगा। क्योंकि संसर्गकी तरह व्यक्तिका भी भान शक्तिके बिना ही सर्वत्र होने लगेगा। गो पदसे अनुपस्थित घट पदका शाब्दबोधमें भान तो हो नहीं सकता क्योंकि गोविशेष्यकगोत्वप्रकारक शाब्दबोधं प्रति गोत्वशक्तिज्ञानत्वेन हेतुता ही मानी जायगी। अतः शक्तिके बिना व्यक्तिका शाब्दबोधमें भान नहीं होगा यह नैयायिकों का कहना उचित नहीं है। हाँ, ठीक है।

किन्तु यदि 'गौः गोपदशक्या' यह शक्तिज्ञान हुआ। तब तो व्यक्तिमें ही शक्ति है यह अनुभवसिद्ध होगा। प्रभाकरके मतमें तो विशिष्टज्ञान प्रमात्मक ही होता है क्योंकि

हेतुत्वात्। किञ्च गोत्वे यदि शक्तिस्तदा गोत्वत्वं शक्यतावच्छेदकं वाच्यम्, गोत्वत्वं तु गवेतरासमवेतत्वे सति सकलगोसमवेतत्वम्, तथाच गोव्यक्तीनां शक्यतावच्छेदकेऽनुप्रवेशात्तवैव गौरवम्।

ननु कार्यत्वाद्युपाधिप्रकारकशाब्दबोधस्थले समानप्रकारकशक्तिज्ञानस्य हेतुत्वेऽपि जातिप्रकारकशाब्दबोधस्थले समानप्रकारकशक्तिज्ञानस्य न हेतुतेति नायं दोष इत्यरुचेराह किं चेति।

तच्छब्दस्य वक्तृबुद्धिविषयतावच्छेदकीभूतघटत्वाद्यवच्छिन्ने शक्तिः।

ननु तत्पदे घटत्वादीनां शक्यतावच्छेदकत्वे शक्यतावच्छेदकभेदाच्छक्तिभेदापत्तिः। न च शक्यतावच्छेदकानां भिन्नत्वेऽपि शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकस्य बुद्धिविषयतावच्छेदकत्वस्यैक्यान्न शक्तिभेद इति वाच्यम्, तस्य शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकत्वे शाब्दबोधे तद्भानापत्तेरिति चेन्न—बुद्धिविषयतावच्छेदकत्वस्योपलक्षणतया शक्यतावच्छेदकतावच्छेदकत्वात्। उपलक्षणस्य शाब्दबोधे भानानङ्गीकारात्।

विशेषणत्वं च—तत्पदजन्यबोधविषयत्वेन शक्तिविषयत्वम्।
उपलक्षणत्वं च—तत्पदजन्यबोधविषयत्वेन शक्यविषयत्वमिति॥
इदमः प्रत्यक्षगतं समीपतरवर्ति चैतदोरूपम्।
अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानीयात्॥

मीमांसकोंके यहाँ अन्यथाख्याति स्वीकृत नहीं की गई है। यदि 'गोत्वं गोपदशक्यम्' इस प्रकारका शक्तिज्ञान हुआ तब तो गोपदसे गोत्वप्रकारक गोव्यक्तिका स्मरण तथा गोत्वप्रकारकगोविशेष्यक बोधका उदय नहीं होना चाहिए। क्योंकि नियम है कि 'यत्प्रकारक यद्विशेष्यक शक्तिग्रहण हो वह शब्दशक्तिग्रहण तत्प्रकारक तद्विशेष्यकस्मरण तथा तत्प्रकारक तद्विशेष्यक शाब्दबोधके प्रति कारण होता है।

यदि कार्यत्वाद्युपाधिप्रकारकशाब्दबोधस्थलमें समानप्रकारक शक्तिज्ञानको हेतु मान भी लिया जाय तब भी जातिप्रकारक शाब्दबोधस्थलमें समानप्रकारक शक्तिज्ञानमें हेतुता नहीं माननी चाहिए। हाँ, ठीक। किन्तु यदि गो पदकी 'गोत्व' जातिमें शक्ति मान ली जाय तो शक्यतावच्छेदकधर्म गोत्वत्व होगा। यह गोत्वत्व 'गवेतरासमवेतत्वे सति सकल-गोसमवेतत्वरूप' अर्थात् गोव्यक्तिसे इतर व्यक्तियोंमें असमवेत होकर सकल गोव्यक्तिमें समवेत होना है। इस प्रकार अनन्त गोव्यक्तियोंका शक्यतावच्छेदक कोटिमें तथा शाब्द-बोधकी कारणतावच्छेदक कोटिमें प्रवेश होनेसे मीमांसकोंको ही गौरव होगा। यहाँ शक्यका अर्थ है 'शक्तिका आश्रय' गोपदमें शक्तिका आश्रय है गोत्व, क्योंकि जातिमें शक्ति मानी गई है। शक्यता गोत्वमें और शक्यताका अवच्छेदकधर्म है गोत्वत्व। अतएव यहाँ गोत्वत्वको शक्यतावच्छेदक बताया गया है।

तस्मात्तत्तज्जात्याकृतिविशिष्टतत्तद्व्यक्तिबोधानुपपत्त्या कल्प्यमाना शक्तिर्जात्याकृतिविशिष्टव्यक्तौ विश्राम्यतीति ।

शक्तं पदम्, तच्चतुर्विधम्—क्वचिद्यौगिकं, क्वचिद्रूढं, क्वचिद्योगरूढं, क्वचिद्यौगिकरूढम् । तथाहि—

यत्रावयवार्थ एव बुध्यते तद्यौगिकम् । यथा पाचकादिपदम् ।

यत्रावयवशक्तिनैरपेक्ष्येण समुदायशक्तिमात्रेण बुध्यते तद्रूढम् । यथा गोमण्डलादिपदम् ।

इत्यभियुक्तोक्तेः—

इदमः प्रत्यक्षबुद्धिविषये शक्तिः । एतदः समीपतरप्रत्यक्षबुद्धिविषये शक्तिः ॥
अदसः विप्रकृष्टप्रत्यक्षविषये शक्तिः । तदः परोक्षबुद्धिविषये शक्तिः ॥
किं पदस्य जिज्ञासाविषयत्वविशिष्टे शक्तिः ।

सर्वपदस्य व्यापकत्वविशिष्टे शक्तिः । 'सर्वे घटा रूपवन्तः' इत्यत्र घटत्वव्यापकं रूपवत्त्वमिति बोधात् ।

क्वचिदिति । **किंचिदित्यर्थः एवमग्रेऽपि ।**

अतः मीमांसकोंके पक्षमें गौरव होनेके कारण तथा केवल जाति, या आकृति (अवयवसंस्थान), या व्यक्तिमात्रमें शक्ति माननेसे उन-उन गोत्वादि जातियों, अथवा शृङ्गसास्नादि अवयव संस्थान विशिष्टों अथवा गो आदि व्यक्तियोंके बोधकी अनुपपत्ति होनेसे बुद्धिपूर्वक शक्तिकी कल्पना करने पर वह शक्ति जात्याकृतिविशिष्ट व्यक्तिमें ही विश्राम पाती है । **यह नैय्यायिकोंका मत है ।**

शक्तिसे जो विशिष्ट होता है वह **पद** कहा जाता है । पद चार प्रकारके होते हैं । (१) कहीं **यौगिक,** (२) कहीं **रूढ,** (३) कहीं **योगरूढ,** (४) और कहीं **यौगिकरूढ** ।

(१) **जो पद अपने अवयवोंसे स्वार्थका बोधक हो वह यौगिक पद है ।** जैसे **पाचक** आदि पद । यहाँ पचति इति पाचकः, इस विग्रहमें 'पच्' धातु है, कर्तामें 'ण्वुल्' प्रत्यय आया है । अतः पाकक्रिया करनेवालेका नाम पाचक यह अर्थ शब्दके अवयवोंसे ही समझमें आ जाता है । इसी प्रकार पाठक आदि पद हैं ।

जो पद अवयवशक्तिके विना समुदायशक्तिसे स्वार्थका बोधक हो वह रूढपद है । जैसे गो और मण्डल पद रूढ हैं । गो पद समुदाय-शक्तिके द्वारा गो व्यक्तिमें ह । मण्डल पद समुदाय-शक्तिके द्वारा सूर्यके चारों ओर घेरनेवाले कुण्डलाकारमें है । यहाँ समुदायशक्ति ही बोधमें हेतु है अवयवशक्ति नहीं यह मानना चाहिए । अन्यथा 'मण्डं लाति' आदत्ते इति मण्डलम्' इस अवयवशक्तिसे माड़ लाने वाला अर्थ होगा जो 'सूर्यमण्डलं भाति' यहाँ असङ्गत और अनपेक्षित है ।

यत्र तु अवयवशक्तिविषये समुदायशक्तिरप्यस्ति तद्योगरूढम्, यथा-पङ्कजादिपदम् । तथाहि—पङ्कजपदमवयवशक्त्या पङ्कजनिकर्तृरूपमर्थं बोधयति, समुदायशक्त्या च पद्मत्वेन रूपेण पद्मं बोधयति ।

न च केवलयाऽवयवशक्त्या कुमुदे प्रयोगः स्यादिति वाच्यम्, रूढिज्ञानस्य केवलयौगिकार्थज्ञाने प्रतिबन्धकत्वादिति प्राञ्चः ।

वस्तुतस्तु समुदायशक्त्युपस्थितपद्मेऽवयवार्थपङ्कजनिकर्तुरन्वयो भवति-सान्निध्यात् ।

यत्र तु रूढ्यर्थस्य बाधः प्रतिसन्धीयते तत्र लक्षणया कुमुदादेर्बोधः ।

पद्मं बोधयतीति । **पङ्कजनिकर्त्रभिन्नं पद्ममिति बोधः ।**

प्रतिबन्धकत्वादिति । **न च रूढिज्ञानस्य यौगिकार्थबुद्धिं प्रति प्रतिबन्धकत्वे पङ्कजशब्दात्पद्ममित्येव बोधः स्यान्न तु पङ्कजनिकर्त्रभिन्नं पद्ममिति वाच्यम् । पद्मत्वावच्छिन्नविशेष्यत्वानिरूपितपङ्कजनिकर्तृत्वावच्छिन्नविषयताकशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति रूढिज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वेन पद्मविशेष्यकयौगिकार्थबुद्धेः प्रतिबध्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वेनादोषात् तदेतदाह—**केवलयौगिकार्थज्ञाने इति । **एवं प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावस्वीकारे विरोधिविषयकज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वं जनकज्ञानविघटकत्वेनैवेति नियमभङ्गरूपोऽस्वरसः प्राञ्च इत्यनेन सूचितः ।**

मणिकारमतमाह वस्तुतस्त्विति ।

जो पद अवयव तथा समुदाय दोनों शक्तियों द्वारा स्वार्थका बोधक हो वह योगरूढ है । जैसे—पङ्कज आदि पद । 'पङ्काज्जायते' इस व्युत्पत्तिसे बना पङ्कजपद अवयवशक्ति द्वारा पङ्कसे उत्पन्न होनेवाले वस्तुका तथा समुदाय शक्तिसे पद्मत्वेन रूपेण केवल कमलका बोधक है ।

यहाँ केवल अवयव शक्तिसे ही पङ्कज पदका कुमुद आदिमें भी प्रयोग हो तो क्या हानि हो सकती है यह कहना नितान्त अशक्य है । क्योंकि **प्राचीन नैयायिकोंने** केवल यौगिकार्थज्ञानका प्रतिबन्धक रूढिज्ञानको माना है । यहाँ केवल यौगिकार्थ ज्ञान नहीं अपितु अवयवार्थ ज्ञान भी है । अतः कुमुदके लिए पङ्कजपदका प्रयोग अनुचित होता है ।

वस्तुतः समुदायशक्तिसे उपस्थित पद्ममें अवयवार्थ 'पङ्कजनिकर्ता पद्मका' सान्निध्यसे अन्वय होता है । तात्पर्य यह है कि अवयवशक्ति की अपेक्षा पहले समुदायशक्तिके द्वारा उपस्थित वस्तुका लाभ होता है । किन्तु जिस स्थलमें समुदायशक्ति (रूढशक्ति) के अर्थका बाध होता है वहाँ लक्षणावृत्तिके द्वारा पद्म पदका कुमुद आदि अर्थ भी मान लिया जाता

यत्र तु कुमुदत्वेन रूपेण बोधे न तात्पर्यज्ञानं पद्मत्वस्य च बाधस्तत्राव-यवशक्तिमात्रेण निर्वाह इत्यप्याहुः।

यत्र तु स्थलपद्मादाववयवार्थबाधस्तत्र समुदायशक्त्या पद्मत्वेन रूपेण बोधः। यदि तु स्थलपङ्कजं विजातीयमेव तदा लक्षणयैवेति।

यत्र तु यौगिकार्थरूढ्यर्थयोः स्वातन्त्र्येण बोधस्तद्यौगिकरूढम् यथोद्भिदादिपदम्। तत्र हि उद्भेदनकर्ता तरुगुल्मादिरपि बुध्यते यागविशेषोऽपीति ॥ ८१ ॥

स्वातन्त्र्येणेति। विशेष्यविशेषणभावानवगाहित्वेनेत्यर्थः।

लक्षणयैवेति। रूढ्यर्थतावच्छेदकपद्मत्वजातेस्तत्राभानेन रूढ्या तद्बोधनासम्भवादिति भावः। शक्तिमात्रेणेति। मात्रपदेन लक्षणानादरः सूचितः।

यागविशेषोऽपीति। 'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इत्यत्र उद्भिच्छब्दो यागविशेषनामधेयम्। तथा च न्यायमाला—

गुणोऽयं नामधेयं वा, खनित्रेऽस्य निरुक्तितः।
ज्योतिष्टोमं समाश्रित्य, पश्वर्थं गुणचोदना॥
फलोद्भेदात्समानैषा, निरुक्तिर्यागनाम्न्यपि।
नामत्वमुचितं याग, समानाधिकरण्यतः॥ इति॥

तात्पर्यानुपपत्तिर्वेति। ननु गङ्गापदाच्छक्त्यैव तीरबोधो किमिति लक्षणाङ्गीकरणीयेति चेन्न—तथा सति तीरे गङ्गापदस्य स्वारसिकप्रयोगापत्तेः। गङ्गात्वापेक्षया गङ्गातीरत्वस्य गुरुतया शक्यतावच्छेदकत्वकल्पनस्यानौचित्याच्च। न च नानार्थस्थलेऽपि एकत्र शक्तिरन्यत्रलक्षणास्त्विति वाच्यम्, विनिगमकाभावेन सर्वत्र शक्तिसिद्धेः।

है। जहाँ वक्ताका तात्पर्य कुमुदत्वेन कुमुदबोधमें नहीं है तथा पद्मत्वेन रूपेण पद्मका बाधप्रतीत हो रहा हो वहाँ केवल अवयवशक्तिसे ही निर्वाह चलाया जाता है।

जहाँ स्थल पद्मके अर्थ में पङ्कज शब्दका प्रयोग होता है और पङ्कज शब्दके अवयवार्थका बाध होता है वहाँ समुदायशक्तिके द्वारा पद्मत्वेन रूपेण बोध माना जाता है। कुछ लोगोंका मत है कि स्थलपङ्कज पद्मसे भिन्न विलक्षण ही है। इनके मतमें तो यहाँ लक्षणा ही माननी पड़ेगी।

जहाँ योगार्थ और रूढ्यर्थ स्वतन्त्ररूपसे बोधक हों अर्थात् वस्तुविशेषका अवयवशक्तिसे तथा वस्तुविशेषका समुदायशक्तिसे बोध होता हो वह **योगरूढ** शब्द कहा जाता है। जैसे 'उद्भिद्' शब्द। यहाँ 'ऊर्ध्वं भिनत्ति इति उद्भिद्' इस व्युत्पत्ति से उद्भिद् शब्द यौगिकशक्तिसे वृक्ष और लता आदि का बोधक है। तथा समुदायशक्तिके द्वारा एक यागकी संज्ञाके रूपमें रूढ भी है। अतएव उद्भिद् शब्द योगरूढ कहा गया है ॥ ८१ ॥

लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः।

लक्षणेति। गङ्गायां घोष इत्यादौ गङ्गापदस्य शक्यार्थे प्रवाहरूपे घोषस्यान्वयानुपपत्तिस्तात्पर्यानुपपत्तिर्वा यत्र प्रतिसन्धीयते तत्र लक्षणया तीरस्य बोध इति।

सा च शक्यसम्बन्धरूपा। तथाहि—प्रवाहरूपशक्यार्थसम्बन्धस्य तीरे गृहीतत्वात्तीरस्य स्मरणम्। ततः शाब्दबोधः।

परन्तु यद्यन्वयानुपपत्तिर्लक्षणाबीजं स्यात्तदा यष्टीः प्रवेशयेत्यत्र लक्षणा न स्यात्—यष्टिषु प्रवेशान्वयस्यानुपपत्तेरभावात्। तेन यष्टिप्रवेशे भोजनतात्पर्यानुपपत्त्या यष्टिधरेषु लक्षणा।

यत्र तु लाघवादिकं विनिगमकं तत्र न नानाशक्तिकल्पनम् यथानीलादिपदे इति ध्येयम्।

प्रतिसन्धीयते इति। प्रतिसंधानं—स्मरणम्।

शक्यके सम्बन्ध विशेषका नाम लक्षणा है। तात्पर्याऽनुपपत्ति ही लक्षणा का बीज है।

इस प्रकार शक्यसम्बन्धो लक्षणाका लक्षण और तात्पर्यानुपपत्ति लक्षणाका बीज निर्धारित किया गया। जैसे 'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य में गङ्गापदका शक्यार्थ प्रवाह है तथा घोषपदका शक्यार्थ आभीरगृह है। गङ्गाके प्रवाहमें घोषका बना रहना सम्भव नहीं है यतः अन्वय ठीक न बैठनेसे 'गंगायां घोषः' वाक्य का शाब्दबोध नहीं हो सकता। अतः गङ्गापद अपने वाक्यार्थ प्रवाहके समीपवर्ती तीरमें लाक्षणिक है। परम्परा सम्बन्धसे स्वार्थबोध करनेवाला पद लाक्षणिक होता है। इसीलिए 'गङ्गायां घोषः' वाक्यमें गङ्गापदके अर्थ प्रवाहसे संयोग सम्बन्धसे सम्बन्धित तीरका बोध होता है। इसे ही जहत्स्वार्था लक्षणा भी कहते हैं। क्योंकि गङ्गापदने वाक्यमें अन्वयकी सिद्धिके लिए अपने अर्थ (प्रवाह)का त्यागकर दिया तथा तीरका बोधक बना है।

वह लक्षणा शक्यसम्बन्धरूपा है। जैसे—गङ्गापदका प्रवाहरूप शक्यार्थसे सम्बद्ध तीर है अतः यहाँ गङ्गापदसे तीरका ही स्मरण होता है तथा तदनन्तर 'गङ्गातीरे घोषः' शब्दबोध होता है। यहाँ गङ्गापदार्थका घोषपदार्थके साथ अन्वय न बननेके कारण ही' गङ्गापदका गङ्गासम्बन्धी तीर अर्थ होता है। अतः यहाँ अन्वयानुपपत्तिके कारण लक्षणा हुई है।

किन्तु सर्वत्र अन्वयानुपपत्ति ही लक्षणाका कारण नहीं है। कहीं-कहीं तात्पर्यानुपपत्ति भी लक्षणाका कारण बनती है। जैसे—'यष्टीः प्रवेशय' में यष्टी का प्रवेश बन सकता है। अन्वयबोध होनेमें कोई बाधा भी नहीं है। फिर भी यहाँ यष्टी पदकी यष्टिधरमें लक्षणा

एवं काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यादौ काकपदस्य दध्युपघातके लक्षणा—सर्वतो दधिरक्षायास्तात्पर्यविषयत्वात् ।

एवं छत्रिणो यान्तीत्यादौ छत्रिपदस्यैकसार्थवाहित्वे लक्षणा। इयमेवाजहत्स्वार्था लक्षणेत्युच्यते । एकसार्थवाहित्वेन रूपेण छत्रितदन्ययोर्बोधात् ।

छत्रिपदस्येति । इदं वाक्यलक्षणावादिमताभिप्रायेण । न्यायमते तु छत्रपदस्यैकसार्थवाहित्वे लक्षणा । प्रत्ययार्थश्च सम्बन्धी एकसार्थवन्तो गच्छन्तीत्यन्वयः। एकसार्थवाहित्वमेकसार्थ एव नत्वेकसार्थगन्तृत्वं निराकाङ्क्षतया यान्तीत्यस्यानन्वयापत्तेः ।

एकसार्थवाहित्वे—एकसार्थवाहित्वविशिष्टे ।

होती है । यदि अन्वयानुपपत्ति ही लक्षणाका बीज हो तो उक्त वाक्यमें लक्षणा न हो क्योंकि यष्टीका प्रवेशनक्रियामें अन्वय होनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है । किन्तु वक्ताका तात्पर्य है भोजन करनेवालोंके प्रवेशमें । यदि केवल यष्टी ही प्रवेश करेंगी तो भोजनका तात्पर्य सिद्ध नहीं होगा । इसी तात्पर्यकी सिद्धिके लिए यष्टिपदकी यष्टिधरमें लक्षणा करनी पड़ती है । इस प्रकार तात्पर्यानुपपत्ति भी लक्षणाका बीज मानी गई है ।

इसी प्रकार 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' वाक्यमें भी अन्वयानुपपत्ति नहीं है । क्योंकि दधिको नष्ट करनेवाले काकसे दधिकी रक्षा करना इष्ट ही है । हाँ, वक्ता का तात्पर्य सर्वतः दधि रक्षामें ही है केवल काकसे दधि रक्षामें नहीं । ऐसी स्थितिमें काकसे दधि बचाने पर भी कुक्कुरसे दधि बचाने की कोई आवश्यकता नहीं होती । अतएव दधिरक्षामें वक्ताका तात्पर्य होने पर ही काक पदकी दधिका उपघात (नष्ट) करनेवाले समस्त जीवोंमें लक्षणा करनी पड़ती है । अतः उक्त वाक्यमें काकपदकी काकाकाकसमुदायमें लक्षणा होती है । यहाँ भी तात्पर्यानुपपत्ति ही लक्षणाका बीज स्वीकृत है ।

इसी प्रकार 'छत्रिणो यान्ति' वाक्यमें भी गमन क्रियामें छत्रधर पुरुषोंका अन्वय हो जाने पर भी छातावाले और बिना छातावालोंके समुदायमें लक्षणा होती है । क्योंकि समुदायमें कुछ लोग बिना छातावाले भी है । अतः छत्रिपदका एकसाथ चलनेवालोंमें (एकसार्थवाहित्वे) लक्षणा मानी गई है । अतः यहाँ पर भी तात्पर्यानुपपत्ति ही लक्षणाका बीज मानी गई है । इसे ही अजहत्स्वार्था लक्षणा कहते हैं ।

दोनोंमें भेद यह है कि 'गङ्गायां घोषः' इस वाक्यमें गङ्गापद अपना स्वार्थ त्यागकर तीर अर्थ को कहने लगता है । किन्तु 'यष्टीः प्रवेशय', काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्, छत्रिणो यान्ति' स्थलोंमें प्रवेश आदि क्रियाओंमें यष्टी आदिका भी सम्बन्ध रहता है । इसीलिए प्रथमको जहत्स्वार्था और दूसरे प्रकारको अजहत्स्वार्था कहा गया है ।

यदि चान्वयानुपपत्तिर्लक्षणाबीजं स्यात्, तदा क्वचिद्गङ्गापदस्य तीरे, क्वचिद्घोषपदस्य मत्स्यादौ लक्षणेति नियमो न स्यात् ।

इदन्तु बोध्यम् । शक्यार्थसम्बन्धो यदि तीरत्वेन रूपेण गृहीतस्तदा तीरत्वेन तीरबोधः । यदि तु गङ्गातीरत्वेन रूपेण गृहीतस्तदा तेनैव रूपेण स्मरणम् । अत एव लक्ष्यतावच्छेदके न लक्षणा—तत्प्रकारकबोधस्य तत्र लक्षणां विनाप्युपपत्तेः । परन्तु एवं क्रमेण शक्यतावच्छेदकेऽपि शक्तिर्न

शक्तिर्न स्यादिति । लक्ष्यतावच्छेदके लक्षणाया अनङ्गीकारेण तीरं गङ्गातीरं वा प्रवाहसंयोगवदिति लक्षणाग्रहे कदाचित्तीरत्वेन कदाचिद् गङ्गातीरत्वेन बोधो भवति, तद्वच्छक्यतावच्छेदके शक्तेरनङ्गीकारे पृथिवीपदात्कदाचिदष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यत्वेन कदाचिद्गन्धवत्त्वेन कदाचित्पृथिवीत्वेन पृथिव्या बोधापत्तिः । पृथिवीं पृथिवीपदशक्येतिवदष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यं पृथिवीपदशक्यमित्यादेरपि शक्तिग्रहस्य। संभवात् तथा च यथा लक्षणाया यत्किंचिदेकधर्मावच्छिन्नविषयक एव शाब्दबोध इति न नियमस्तथा शक्त्याबोधेऽप्यनियमः स्यादिति शक्यतावच्छेदके शक्तिस्वीकार आवश्यकः शक्यतावच्छेदकः शक्यतान्यूनानतिरिक्तवृत्तिर्लघुधर्म एवेति पृथिवीत्वादेरेव शक्यतावच्छेदकत्वं नत्वष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यत्वादेर्गौरवादिति ध्येयम् ।

लक्षणाके बीजके विषयमें दो मत हैं । एक अन्वयानुपपत्ति और दूसरी तात्पर्यानुपपत्ति । यदि केवल अन्वयानुपपत्तिको ही लक्षणाका बीज माना जाय तो 'गङ्गायां घोषः' इस वाक्यमें कभी गङ्गापदकी तीरमें तथा कभी घोषपदकी मत्स्यमें लक्षणा होने लगती । नियमतः तीरमें ही लक्षणा न होती, इससे यह मानना चाहिए कि जिस स्थलमें जो पद वक्ताने जिस अर्थ बोधक तात्पर्यसे प्रयुक्त किया है वह पद उसी अर्थमें अवश्य लाक्षणिक है । अतः 'गङ्गायां घोषः' में वक्ताके तात्पर्य को ध्यानमें रखकर घोषपदकी मत्स्यमें लक्षणा नहीं होती है । अतः तात्पर्यानुपपत्ति ही लक्षणाका बीज सिद्ध होता है ।

यहाँ जानने योग्य यह है कि यदि गङ्गापदके शक्यार्थ प्रवाहका सम्बन्ध तीरत्वेन रूपेण तीर के साथ होगा तो तीरत्वेन रूपेण तीरका ही शाब्दबोध भी होगा । और यदि गङ्गातीरत्वेन रूपेण तीरका सम्बन्ध गृहीत होगा तो गङ्गातीरत्वेन रूपेण गङ्गातीरका ही शाब्दबोध होगा । अतएव लक्ष्यतावच्छेदकमें लक्षणा नहीं है । क्योंकि 'तद्धर्मविशिष्टमें लक्षणाके प्रति तद्रूपेण पदार्थोपस्थितिको शाब्दबोधके प्रति कारण मान लेनेसे तीरत्वादिधर्मप्रकारक तार विशेष्यक शाब्दबोध लक्षणाके बिना भी बन जाता है ।

किन्तु इस प्रकार तो शक्यतावच्छेदकमें भी शक्ति नहीं सिद्ध होगी । क्योंकि 'शक्यतावच्छेदकप्रकारक शक्यार्थोपस्थितिके प्रति तत्पदका सामर्थ्य है' यह भी नियम बनेगा जिससे घटत्वप्रकारक घटरूप अर्थकी उपस्थितिके प्रति घटका सामर्थ्य होनेसे शक्यताव-

स्यात्, तत्प्रकारकशक्यार्थस्मरणं प्रति तत्पदस्य सामर्थ्यमित्यस्य सुवचत्वादेति विभावनीयम् ।

यत्र तु शक्यार्थस्य परम्परासम्बन्धरूपा लक्षणा सा लक्षितलक्षणे-

---

विभावनीयमिति । तद्धर्मावच्छिन्ने शक्तिज्ञानं तद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यकशाब्दबोधे हेतुरन्यथागवादिपदाद्गोत्वादेः शाब्दबोधे प्रकारत्वं न स्यात् । एवञ्च शक्यतावच्छेदके शक्त्यभावेऽपि पृथिवीपदशक्तिप्रमया पृथिवीत्वप्रकारक एव शाब्दबोधः । शक्तिभ्रमे तु गन्धवत्त्वादिना बोधो भवत्येवेति चिन्ताबीजम् ।

परम्परासम्बन्धरूपा—स्ववाच्यरेफद्वयघटितपदवाच्यत्वरूपा ।

च्छेदकमें शक्ति नहीं मानना चाहिए । किन्तु आचार्योंने शक्यतावच्छेदकमें शक्ति माना है और लक्ष्यतावच्छेदकमें लक्षणा नहीं यह वैषम्य अवश्य विचारणीय है ।

[प्राचीन आचार्योंका मत है कि यदि लक्ष्यतावच्छेदकमें लक्षणा न मानें तो जैसे तीर अथवा गङ्गातीर प्रवाहका संयोगी है इस प्रकार लक्षणाग्रहण होने पर कदाचित् तीर प्रवाह सम्बन्धी, कदाचित् गङ्गातीर प्रवाह सम्बन्धी इस प्रकार अनेक प्रकारका शाब्दबोध होता है । वैसे शक्यतावच्छेदकमें शक्ति न मानने पर पृथिवी पदसे कदाचित् अष्टद्रव्यातिरिक्त द्रव्यरूपमें, कदाचित् गन्धवत्वरूपमें, कदाचित्—पृथिवीत्वरूपमें पृथिवीका बोध होगा । क्योंकि जैसे 'पृथिवी पृथिवीपद शक्या' इस प्रकार शक्तिगृह होता है वैसे अष्टद्रव्यातिरिक्तं पृथिवीपद शक्यम् इस प्रकारका शक्तिग्रह भी बन सकेगा । तब जैसे लक्षणामें यह नियम नहीं है कि 'जिस किसी एकधर्मसे युक्तके साथ ही शाब्दबोध हो' वैसे शक्तिके सम्बन्धमें भी अनियम होगा । इस अनियमको दूर करनेके लिए शक्यतावच्छेदकमें भी शक्ति मान लेना चाहिए । शक्यतावच्छेदक वह धर्म है जो शक्यताका अन्यून और अनतिरिक्त लघु धर्म है । वह धर्म पृथिवीत्व होगा । अष्टद्रव्यातिरिक्तत्व नहीं । क्योंकि यह गुरुधर्म है । किन्तु यह **प्राचीन आचार्यों** का मत चिन्तनीय है, क्योंकि 'तद्धर्मविशिष्टमें शक्तिज्ञान तद्धर्मविशिष्ट विशेष्यक शाब्दबोधमें कारण है' यह कार्यकारण भाव मानना पड़ेगा । नहीं तो शाब्दबोधमें गोपदसे गोत्वकी प्रकारता नहीं बनेगी । तब तो शक्यतावच्छेदकमें शक्तिके न मानने पर भी पृथिवीपदकी शक्तिके आधार पर पृथिवीत्व प्रकारक ही शाब्दबोध होगा गन्धवत्वादिप्रकारक नहीं क्योंकि उनमें शक्तिग्रह ही नहीं है । यदि कहा जाय कि शक्तिभ्रम होने पर गन्धवत्वप्रकारक बोध तो होता है तो कोई आपत्ति नहीं क्योंकि भ्रमात्मक बोधका नियमन करना दुष्कर है । अतः यह सिद्ध हुआ कि लक्ष्यतावच्छेदकमें लक्षणा तथा शक्यतावच्छेदमें शक्ति नहीं होती ।]

शक्यर्थकी परम्परा सम्बन्धसे लक्षणाको लक्षितलक्षणा कहते हैं । जैसे द्विरेफपदका अर्थ है 'दो रेफ' । वह साक्षत सम्बन्धसे भ्रमर पदमें है । भ्रमर पदसे भ्रमर अर्थका बोध

त्युच्यते । यथा द्विरेफादिपदात् रेफद्वयसम्बन्धो भ्रमरपदे ज्ञायते भ्रमरपदस्य च सम्बन्धो भ्रमरे ज्ञायते इति तत्र लक्षितलक्षणा ।

किन्तु लाक्षणिकं पदं नानुभावकम् । लाक्षणिकार्थस्य शाब्दबोधे तु पदान्तरं कारणम्—शक्तिलक्षणान्यतरसम्बन्धेनेतरपदार्थान्वितस्वशक्यार्थशाब्दबोधं प्रति पदानां सामर्थ्यावधारणात् ।

वाक्ये तु शक्तेरभावाच्छक्यसम्बन्धरूपा लक्षणापि नास्ति । यत्र

ननु तच्छाब्दबोधे तच्छक्तज्ञानत्वेन हेतुत्वाल्लाक्षणिकाच्छाब्दबोधः कथमित्याह—

किन्त्विति । पदान्तरं—समभिव्याहृतं शक्तं पदमित्यर्थः ।

सामर्थ्यावधारणादिति । 'कुमतिः पशुः' इत्यादौ सर्वलाक्षणिकस्थले शाब्दबोधस्यानुभवसिद्धतया लाक्षणिकार्थस्याप्यानुभावकत्वम् । अत्र हि मतिशब्दस्य कुत्सितमतिमति लक्षणा, कुपदं तात्पर्यग्राहकम् । पशुशब्दस्य च पशुसदृशे लक्षणेति सर्वलाक्षणिकत्वं बोध्यमिति नवीनाः ।

नास्तीति । ननु 'गभीरायां नद्यां घोष' इत्यत्र नदीपदस्य नदीतीरे लक्षणायां

होता है । यहाँ द्विरेफ पदसे साक्षात् भ्रमररूप अर्थका बोध नहीं होता किन्तु 'स्ववाच्यरेफद्वयघटितपदवाच्यत्व' रूप परम्परा सम्बन्धसे भ्रमर अर्थका बोध होता है । [स्व=द्विरेफपद, तद्वाच्य = रेफद्वय, तद्घटितपद = भ्रमर पद तद्वाच्यत्व भ्रमर अर्थमें है ।] इस प्रकार यह लक्षित-लक्षणा है ।

अब यह सन्देह होता है कि किसी शब्दजन्य बोधमें उस शब्दकी शक्तिके ज्ञानको जब कारण माना जाता है तब लाक्षणिक शब्दसे शाब्दबोध कैसे हो सकता है, ठीक है, क्योंकि प्राचीनोंके मतसे लाक्षणिक पद अनुभावक (शाब्दबोधमें कारण) नहीं होते । लाक्षणिक शब्द तो अर्थ स्मारक होते हैं । उससे शाब्दबोधमें घोष आदि पदान्तर कारण होते हैं । क्योंकि शक्ति सम्बन्ध अथवा लक्षणा सम्बन्ध द्वारा उपस्थित जो इतर पदार्थ (तीर आदि) उसके साथ अन्वित जो स्व (घोषादिपद) का शक्यार्थ (अभीरपल्ली) तद्विषयक शाब्दबोधके प्रति घोष आदि पदोंका ज्ञान कारण है यह माना गया है ।

किन्तु यह प्राचीनोंका मत उचित नहीं, क्योंकि कुमतिः पशुः इत्यादि स्थलोंमें मति शब्दकी कुत्सितमतिमान् में लक्षणा होती है तथा कु पद तात्पर्यग्राहक है । इसी प्रकार पशुपदकी पशुसदृशमें लक्षणा होती है । अतः दोनों पदोंमें लक्षणा होनेके कारण लाक्षणिक का भी शाब्दबोध होता है ऐसा मानना चाहिए **यह नवीनोंका मत है ।**

मीमांसकोंका मत है कि 'गभीरायां नद्यां घोषः' इत्यादि स्थलोंमें नदीपदकी नदी तीरमें लक्षणा करने पर गभीर पदार्थका नदीतीरमें अन्वय हो नहीं सकता । अतः एकदेशान्वय मानना पड़ेगा । फिर तो नित्यो घटः इस प्रयोगमें नित्यपदका घटपदार्थैकदेश घटत्वके साथ

गभीरायां नद्यां घोष इत्युक्तं तत्र नदीपदस्य नदीतीरे लक्षणा। गभीरापदार्थस्य नद्या सहाभेदेनान्वयः—क्वचिदेकदेशान्वयस्यापि स्वीकृतत्वात्।

यदि तत्रैकदेशान्वयो न स्वीक्रियते तदा नदीपदस्य गभीरनदीतीरे लक्षणा गभीरपदं तात्पर्यग्राहकम्।

गभीरपदार्थस्यैकदेशान्वयापत्तिरतो वाक्यलक्षणाङ्गीकर्तव्येति शङ्कां समाधत्ते—यत्र गभीरायामिति।

क्वचिदिति। चैत्रस्य गुरुरित्यादौ षष्ठ्यर्थनिरूपितत्वस्य स्वरूपेण गुरुत्वेऽन्वयेन चैत्रनिरूपितं यद् गुरुत्वं तदाश्रयस्य कुलमित्यर्थेनैकदेशान्वयस्य दर्शनादिति।

तात्पर्यग्राहकमिति। अत्र मीमांसकाः, वाक्यलक्षणयैव कार्यनिर्वाहे गभीरपदस्य तात्पर्यग्राहकत्वकल्पनमयुक्तम्। न च वाक्ये शक्तेरभावात् शक्यसम्बन्धरूपलक्षणा न सम्भवतीति वाच्यम्। स्वबोध्यसम्बन्धस्यैव लक्षणापदार्थत्वेनादोषात। एवं च गभीरायां नद्यामिति वाक्यबोध्या गभीराभिन्ना नदी तत्सम्बन्धस्तीरे इति तीरबोधोपपत्तिरित्याहुः।

तन्न स्वबोध्यसम्बन्धो लक्षणेत्यत्र स्वबोध्यत्वं यदि स्वजन्यशाब्दबोधविषयत्वं तदा गङ्गायां घोष इत्यत्र लक्षणानुपपत्तिः। तत्र गङ्गापदेन प्रवाहविषयकशाब्दबोधजननेन प्रवाहस्य गङ्गापदबोध्यत्वाभावात्, किन्तु शक्त्या स्वजन्यज्ञानविषयत्वं वाच्यम् एवं च वाक्ये न लक्षणासम्भवः शक्त्यभावात्।

न च स्वजन्यज्ञानविषयत्वमात्रं स्वबोध्यत्वमस्तु शक्त्येति व्यर्थं ततश्च न दोष इति वाच्यं, समवायेन घटपदस्मारितस्यापि स्वबोध्यत्वापत्तौ तत्सम्बन्धज्ञानेन घटपदेन पटादेर्बोधप्रसङ्गादित्यलम्।

अन्वय मानने पर सार्थकता बननेसे **'नित्यो घटः'** यह प्रयोग आ पड़ता है। उसके वारणके लिए 'पदार्थः पदार्थेनान्वेति नतु पदार्थैकदेशेन' यह व्युत्पत्ति मानी गई है। उसके विपरीत होनेके कारण एकदेशान्वय अनुचित है। अतएव वाक्यमें लक्षणा माननी चाहिए। इनके मतमें 'गभीर नदी' वाक्यकी गभीर नदी तीरमें लक्षणा है इससे एक देशान्वय नहीं आ पड़ता। किन्तु यह मत ठीक नहीं। क्यों कि वाक्य में जब शक्ति ही नहीं है तो शक्य सम्बन्धरूपा लक्षणा हो ही नहीं सकती। जहाँ 'गभीरायानद्यां घोषः' वाक्य में लक्षणा की बात है वह ठीक नहीं क्योंकि ऐसे स्थलों में भी नदी पद की तीर में लक्षणा होगी उसके अर्थ का नदी के साथ गभीराभिन्ननदी ती इस रूपमें अभेदान्वय होगा। क्योंकि परिस्थितवश कहीं कहीं एकदेशान्वय भी माना गया है। जैसे 'चैत्रस्य गुरुकुलम्' यहाँ पर चैत्रपदोत्तर षष्ठी के अर्थ निरूपितत्व का स्वरूप सम्बन्ध से गुरुत्व में अन्वय है और गुरुत्व का आश्रयत्व सम्बन्ध से कुल में अन्वय होता है। इस प्रकार 'चैत्रनिरूपित जो गुरुत्व उसका आश्रय कुल' यह बोध होता है। यहाँ चैत्रपद का गुरुकुल के साथ नहीं किन्तु गुरुकुल पदार्थ के एक देश गुरु में अन्वय देखा गया है। वैसे यहां गभीरायां नद्यां घोषः में भी पूर्वोक्त रीति से एकदेशान्वय मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

फिर भी यदि यहाँ एकदेशान्वय नहीं मानते तो नदी पदकी गभीरनदीतीर में लक्षणा तथा गभीरापद को तात्पर्य ग्रहक मान लेने से वाक्य में लक्षणा नहीं माननी पड़ेगी और एकदेशान्वय भी नहीं होगा।

बहुव्रीहावप्येवम्। तत्र हि चित्रगुपदादौ यदैकदेशान्वयः स्वीक्रियते तदा गोपदस्य गोस्वामिनि लक्षणा गवि चित्राभेदान्वयः। यदि तत्रैकदेशान्वयो न स्वीक्रियते, तदा गोपदस्य चित्रगोस्वामिनि लक्षणा, चित्रपदं तात्पर्यग्राहकम्।

एवमारूढवानरो वृक्ष इत्यत्र वानरपदस्य वानरारोहणकर्मणि लक्षणा, आरूढपदं तात्पर्यग्राहकम्। एवमन्यत्रापि बोध्यम्।

तत्पुरुषे तु पूर्वपदे लक्षणा। तथाहि—राजपुरुष इत्यादौ राजपदार्थेन पुरुषपदार्थस्य साक्षान्नान्वयो—निपातारिक्तनामार्थयोर्भेदेनान्वयबोधस्या-

---

यह प्रक्रिया चित्रा गावो यस्य इस प्रकार के बहुब्रीहि समास में भी इसी रूप में होगी। वह भी 'चित्रगु' इत्यादि स्थलों में यदि **एकदेशान्वय पक्ष** मानते हैं तो गो पदकी गोस्वामी में लक्षणा होगी और गो पद के अर्थ गोस्वामी के एकदेश गो के साथ चित्रा का अभेदान्वय होने पर चित्राभिन्न गोस्वामी इस रूप में शाब्दबोध होगा। यदि **एकदेशान्वय पक्ष नहीं** मानते तो गो पद का चित्रगोस्वामी में लक्षणा होगी और चित्रपद तात्पर्य ग्राहक होगा।

इसी प्रकार 'आरूढो बानरो यमसौ आरूढबानरो वृक्षः' इस स्थल में भी वानर पद की वानरकर्तृकारोहकर्म में लक्षणा होगी और आरूढ पद तात्पर्य ग्राहक होगा। इसी प्रकार अन्यत्र 'प्राप्तोदको ग्रामः' आदि स्थलों में भी उत्तर पद उदक की 'उदक कर्तृक प्राप्तिकर्म में' लक्षणा होगी और पूर्वपद "प्राप्त' आदि तात्पर्य ग्राहक होंगे। यह एकदेशानन्वय पक्ष में कहा गया है।

जैसे वाक्य के उत्तर पद में लक्षणा होती है वैसे बहुब्रीहि समास के भी उत्तर पद में लक्षणा होती है। किन्तु तत्पुरुष समास के पूर्व पद में लक्षणा होती है। जैसे राजपुरुष पद में राजपदार्थ के साथ पुरुष पदार्थ का साक्षात (स्वत्वसम्बन्ध से) अन्वय नहीं हो सकता। क्योंकि 'निपातातिरिक्तनामार्थका निपातातिरिक्तनामार्थ के साथ साक्षात भेद सम्बन्ध से अन्वय अव्युत्पन्न है' इस नियम के अनुसार भेदसम्बन्ध (स्वत्वसम्वन्ध) से राजपुरुषः का अन्वय बोध नहीं होगा। अभेदसम्बन्ध से भिन्न सम्बन्ध को भेदसम्बन्ध कहते हैं। यदि

व्युत्पन्नत्वात्, अन्यथा राजा पुरुष इत्यत्रापि तथान्वयबोधः स्यात्। घटः पटो न इत्यादौ घटपटाभ्यां नञः साक्षादेवान्वयान्निपातातिरिक्तेति। नीलो घट इत्यादौ नामार्थयोरभेदसम्बन्धेनान्वयाद् भेदेनेति।

न च राजपुरुष इत्यादौ लुप्तविभक्तेः स्मरणं कल्प्यमिति वाच्यम्, अस्मृतविभक्तेरपि ततो बोधोदयात्। तस्माद्राजपदादौ राजसम्बन्धिनि लक्षणा, तस्य च पुरुषेण सहाभेदान्वयः।

पुरुषेण सहाभेदान्वय इति। अन्ये तु राजपुरुष इति तत्पुरुषे न लक्षणा किन्तु राज्ञ एव स्वत्वसम्बन्धेन पुरुषेऽन्वयो व्युत्पत्तिवैचित्र्यात्। अत एव 'यस्यैते राजमातङ्गास्तस्यैवामी तुरङ्गमाः' इत्यत्र तच्छब्देन राज्ञः परामर्शः राजसम्बन्धिनि राजपदस्य लक्षणायां तु राज्ञः पदार्थैकदेशत्वात्तदा परामर्शो न स्यादिति वदन्ति।

आकाशघटगतद्वित्वस्याकाशेऽपि सत्त्वादाकाशावित्यस्य प्रामाण्यापत्तिरतः उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यसंख्याबोधकत्वं सुपामिति स्वीक्रियते। यदि धवत्वं खदिरत्वं च प्रत्येकमुद्देश्यतावच्छेदकं स्यात् तदा धवद्वयस्य खदिरद्वयस्य च बोधापत्तिरिति धवखदिरपदस्य धवखदिरसाहित्याश्रये लक्षणा स्वीक्रियते, एवं च उद्देश्यतावच्छेदकीभूतसाहित्यव्याप्यत्वं न धवगतद्वित्वस्य नापि खदिरगतद्वित्वस्य किन्तु धवखदिरगतद्वित्वस्यैवेति न धवद्वयादेर्बोध इति मीमांसकाः। तन्मतेनाशङ्कते—न च

उक्तनियम न माना जाय तो राजा पुरुषः यहां पर राजाभिन्नः पुरुषः शाब्दबोध न होकर स्वत्वसम्बन्धेन राजविशिष्टः पुरुषः शाब्दबोध होने लगेगा जो अनुचित है। अतः उक्तनियम स्वीकार किया गया है। यदि नामार्थयोरन्वय बोधोऽव्युत्पन्नः इतना ही नियम स्वरूप माना जाय तो 'घटः पटो न' इत्यादि स्थलों में जहाँ 'घटपट' और' न' तीन नाम (प्रातिपदिक) हैं वहाँ घट पदार्थ का नञ् पदार्थ भेद के साथ प्रतियोगिता सम्बन्ध से अन्वय और नञर्थभेद का स्वरूपसम्बन्ध से पटपदार्थ के साथ साक्षात् भेदसम्बन्ध से अन्वय नहीं बनेगा। क्योंकि तीनों नामार्थों का अन्वय उक्त नियम के अनुसार नहीं होना चाहिए। अतः नियम में 'निपातातिरिक्त' पद का निवेश किया गया। 'नञ्' निपात संज्ञक नाम (प्रातिपदिक) है। अतः घटप्रतियोगिक भेदवान् पटः' यह शाब्दबोध होता है। इसी प्रकार 'नीलो घटः' स्थल में नीलपदार्थ का अभेदसम्बन्ध से घटपदार्थ में अन्वय होता है और नीलाभिन्नो घट; यह शाब्दबोध भी होता है। किन्तु निपातिरिक्तनामार्थयोरन्वयोऽव्युत्पन्नः, नियम माननेसे नील और घट का अन्वय नहीं बनेगा। अतः 'भेदेन' पद का निवेश किया। नीलो घटः में तो' अभेदेन' अन्वय होता है। अतः निपातातिरिक्तनामार्थयोर्भेदेनान्वयोऽव्युत्पन्नः यह नियम का आकार माना गया है। इस नियम के मान लेने पर तत्पुरुष समास में राजपुरुष में दो नामार्थों का भेदसम्बन्ध स अन्वय नहीं बनेगा। यदि

द्वन्द्वे तु धवखदिरौ छिन्धीत्यादौ धवः खदिरश्च विभक्त्यर्थद्वित्वप्रकारेण बुध्यते, तत्र न लक्षणा।

न च साहित्ये लक्षणेति वाच्यम्, साहित्यशून्ययोरपि द्वन्द्वदर्शनात्।

न चैकक्रियान्वयित्वरूपं साहित्यमस्तीति वाच्यम् क्रियाभेदेऽपि धवखदिरौ पश्य छिन्धीत्यादिदर्शनात्, साहित्यस्याननुभवाच्च।

साहित्ये इति। साहित्याश्रये इत्यर्थः। सहवृत्तित्वरूपमेकक्रियान्वयित्वरूपं साहित्यं वा लक्ष्यमिति विकल्प्याद्यं दूषयति साहित्यशून्येति। सहवृत्तित्वशून्ययोर्घटत्वयोरित्यर्थः। द्वितीयं दूषयति नचैकेति। अननुभवाच्चेति। वस्तुगत्या एकक्रियान्वयित्वरूपस्य साहित्यस्य धवखदिरयोः सत्त्वेऽप्येकक्रियान्वयित्वस्य शाब्दबोधे भानाभावादित्यर्थः।

राज्ञः पुरुषः इस विग्रह वाक्यमें समास होने पर विभक्तिका लोप होता है तथा 'राजपुरुषः' प्रयोग बनता है। यहाँ राजपदोत्तरवर्ति लुप्त हुई षष्ठी विभक्तिके स्मरणकी कल्पना की जाग तथा विभक्तिके अर्थ स्वत्वमें राजपदार्थका निरूपितत्व सम्बन्धसे, और स्वत्वका स्वरूप सम्बन्धसे पुरुष पदार्थमें अन्वय करनेसे राजनिरूपित स्वत्ववान् पुरुषः यह बोध जैसे राज्ञः पुरुषमें होता है वैसे मान लें तो कोई नियम विरोध नहीं होगा। किन्तु वैयाकरणोंका यह मत ठीक नहीं, क्योंकि—जिस पुरुषको विभक्तिका स्मरण नहीं होता उसे शाब्दबोध नहीं होना चाहिए किन्तु होता है। अतः पूर्वपद राजपदकी राजसम्बन्धीमें लक्षणा करते हैं और उसका पुरुषमें अभेद सम्बन्धसे अन्वय कर लेते हैं तथा 'राजसम्बन्ध्यभिन्नः पुरुषः' यह बोध होता है। इसीलिये कहा गया कि तत्पुरुष समासस्थलके पूर्वपदमें लक्षणा होती है।

द्वन्द्वसमासमें ('धवखदिरौ छिन्धि' में) जहाँ इतरेतरयोग द्वन्द्व है वहाँ द्वितीया विभक्तिके द्विवचनार्थ द्वित्वप्रकारसे धव और खदिर दोनोंका द्वित्वकप्रारक धवखदिरोभयविशेष्यक शाब्दबोध होता है इसलिए द्वन्द्वमें लक्षणाकी कोई आवश्यकता नहीं है।

मीमांसकोंका मत है कि आकाशघटगतद्वित्वके आकाशमें भी रहनेसे आकाशौ यह प्रयोग आपडेगा। अतः 'उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यसंख्याबोधकत्व ही सुप्में होता है यह नियम मानते हैं। जिससे आकाशघटगतद्वित्वके आकाशमें रहने पर भी उद्देश्यतावच्छेदक आकाशत्वव्याप्यसंख्या आकाशमें रहेगी घटमें नहीं। अतः आकाशौ प्रयोग प्रामाणिक नहीं माना जायग। किन्तु ऐसा मान लेने पर यदि धवत्व और खदिरत्व दोनों उद्देश्यतावच्छेदक होंगे तब दो धव और दो खदिरका बोध धवखदिरौसे होने लगेगा। अतः धवखदिरपदकी धवखदिर साहित्यमें लक्षणा मानते हैं। जिससे उद्देश्यतावच्छेदकीभूतसाहित्य व्याप्यत्व न तो धवगतद्वित्वमें है न तो खदिरगतद्वित्वमें है किन्तु धवखदिरगतद्वित्वमें ही है। अतः दो धव या दो खदिर का बोध नहीं हो । किन्तु द्वन्द्वस्थलमें यह लक्षणाका मार्ग प्रशस्त नहीं

अत एव राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेयाताम्' इत्यत्र लक्षणाभावाद् द्वन्द्व आश्रीयते। तस्मात्साहित्यं नार्थः।

किन्तु वास्तवो भेदो यत्र तत्र द्वन्द्वः। न च नीलघटयोरभेद इत्यादौ

यजेयातामिति। तथा च न्यायमालायाम्—

सायुज्यकामौ यजतोऽनेन राजपुरोहितौ।
राज्ञः पुरोहितौ राज्ञोस्तौ वा राजात्मकावुभौ॥
द्वयोर्द्वन्द्वसमासो वा तुल्यत्वायाग्रिमो द्वयोः।
सिद्धयै द्वितीयो राजोक्तिसार्थत्वाय तृतीयकः॥
अव्याहत्यै चतुर्थः स्याद्वचनाच्छिन्नकल्पता।
तनूनपान्नराशंसौ विकल्प्येते समत्वतः॥ इति।

ननु यदि द्वन्द्वे न लक्षणा तर्हि कर्मधारयाद् द्वन्द्वस्य भेदो न स्यादत आह किन्त्विति। चार्थे द्वन्द्व इति हि पाणिनीयं सूत्रम् तत्र चार्थाः समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहारभेदाच्चत्वारः। तत्र इतरेतरयोग इत्यस्य इतरस्येतरस्मिन् योगः सम्बन्धः इतरेतरयोगः इति भेदे द्वन्द्व इति लभ्यते तत्र, पदभेदे, पदार्थभेदे, पदार्थतावच्छेदकभेदे वा द्वन्द्वः। नाद्यतृतीयौ नीलोत्पलमित्यत्र पदभेदस्य पदार्थतावच्छेदकभेदस्य च सत्त्वेन द्वन्द्वप्रसङ्गात्। परिशेषात् पदार्थभेदे द्वन्द्व इति लभ्यते।

है क्योंकि जिनमें साहित्य नहीं है जैसे हिम और विन्ध्यमें उनमें भी 'हिमविन्ध्यौ' प्रयोग होता है। अतः यह मानना पड़ता है कि साहित्यशून्यमें भी द्वन्द्व होता है। यदि यह कहा जाय कि सहवृत्तित्व रूपसाहित्य न होने पर भी एक क्रियान्वयित्वरूप साहित्य तो है फिर तो हिमविन्ध्यौ पश्य' में एक क्रियान्वयित्वरूप साहित्य होनेसे कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु यह भी कहना ठीक नहीं है। क्योंकि धवखदिरौ पश्य छिन्धि' यहाँ पर क्रियाका भेद होने पर भी द्वन्द्व हुआ है। इस प्रकार एक क्रियान्वयित्वरूप साहित्य मानना भी ठीक नहीं दूसरी बात यह है कि यदि एकक्रियान्वयित्वरूप साहित्य है भी तो वह शाब्दबोधमें प्रतीत नहीं होता। अतः साहित्यमें लक्षणा मानना मीमांसकोंका भ्रम है।

इसीलिए 'सायुज्य कामनावाले राजा और पुरोहित दोनों यज्ञ करें।' इस स्थलमें मीमासकों ने साहित्यमें लक्षणा नहीं की है किन्तु द्वन्द्व समास ही माना है। इससे यह सिद्ध है कि साहित्य अर्थ नहीं है।

अब यह प्रश्न उठता है कि यदि द्वन्द्व और कर्मधारय दोनों में लक्षणा नहीं होगी तब तो दोनों एक रूप हो जायगें। किन्तु यह कहना ठीक नहीं क्योंकि जहाँ समस्यमान दो पदार्थोंमें वास्तविक भेद होता है वहाँ ही द्वन्द्व होता है। जहाँ भेद नहीं रहता वहाँ कर्मधारय होता है। इस पर यह शङ्का होती है कि नीलघटयोरभेदः' इस स्थलमें 'नीलघटयोः' में

कथमिति वाच्यम्, तत्र नीलपदस्य नीलत्वे घटपदस्य घटत्वे लक्षणा। अभेद इत्यस्य चाश्रयाभेद इत्यर्थात्।

समाहारद्वन्द्वे तु यदि समाहारोऽप्यनुभूयत इत्युच्यते, तदाऽहिनकु-

---

नन्वेवं नीलघटयोरभेद इति व्यवहारासंगतिः पदार्थभेदाभावादत आह तत्रेति—तथा च नीलत्वघटत्वयोराश्रयाभेद इत्यर्थ इति न दोषः।

वस्तुतस्तु पदार्थतावच्छेदकभेद एव द्वन्द्वः नीलोत्पलमित्यत्र तु सहविवक्षाभावात् कर्मधारयेण बाधाद्वा न द्वन्द्वः। कर्मधारयेण द्वन्द्वस्य बाधसिद्ध्यर्थमेवाकडारादेका संज्ञेति सूत्रे आचार्थादेका संज्ञेति न्यासो भाष्यकृता कृतः। स्पष्टं चेदं लघुमञ्जूषायां प्रथमाकारके इति। एवं च नीलघटयोरभेद इति स्वरसत उपपद्यते। न चैवं घटा इत्यत्र द्वन्द्वाप्राप्त्या 'उत्सर्गसमानदेशा अपवादा' इतिन्यायेन द्वन्द्वापवाद एकशेषो न स्यादिति वाच्यम्। सरूपसूत्रस्य हरी इत्यत्र चारितार्थ्येन घटा इत्यत्रैकशेषाभावेऽपि क्षत्यभावात घटपदेनैव अर्थतन्त्रमाश्रित्य नानाघटोपस्थितिसम्भवात्। न च सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदर्थं गमयतीति व्युत्पत्तिविरोध इति वाच्यम्। अर्थः वृत्तिजन्योपस्थितिविषयः। तत्र वृत्तौ सकृदित्यस्यान्वयेन सकृदुच्चरितः शब्दः एकवृत्तिजन्योपस्थितिविषयं बोधयतीत्यर्थात् एकशक्त्या नानाघटोपस्थितौ बाधकाभावादिति ध्येयम्।

वास्तविक भेद न होनेसे द्वन्द्व समास नहीं होना चाहिए। ठीक है। इसीलिए यहाँ पर नीलपदकी नीलत्वमें तथा घटपदकी घटत्वमें लक्षणा है और अभेदपदकी आश्रयाभेदमें लक्षणा है तब नीलत्व और घटत्वके जो आश्रय नील और घट उनका अभेद यह नीलघटयोरभेदः का शाब्दबोध हुआ। इससे यह सिद्ध हुआ कि वास्तविक भेद जिन वस्तुओं में होता है उन्हींमें द्वन्द्व समास होता है। इसमें प्रमाण यह है कि द्वन्द्व चार प्रकारका होता है। समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग और समाहार। इनमें इतरेतरयोगका अर्थ है कि इतरका इतरसे योग सम्बन्ध। तात्पर्य यह है कि दोनोंमें भेद होना चाहिए। वह भेद पदोंमें हो या पदार्थोंमें हो या पदार्थतावच्छेदकमें हो। जिनमें प्रथम और तृतीय पक्ष उचित नहीं। क्योंकि 'नीलोत्पलम्'में जहाँ कर्मधारय होता है वहाँ पद भेद और पदार्थतावच्छेदक भेदके रहने पर द्वन्द्व ही होना चाहिए था। अतः परिशेषात् पदार्थभेदमें ही द्वन्द्व मानना उचित है।

समाहार द्वन्द्वमें तो यदि प्राचीनोंके मतके अनुसार पाणिपादम्, अहिनकुलम् आदि स्थलोंमें 'अहिश्च नकुलश्चानयोः समाहारः' इस विग्रह वाक्यमें स्थित समाहारकी शाब्दबोधमें प्रतीति अनुभवसिद्ध हो तो परपद (नकुलपद)की अहिनकुल समाहारमें लक्षणा होगी तथा पूर्व अहिपद तात्पर्यग्राहक होगा। अर्थात् 'नकुलपदं अहिनकुलसमाहारं बोधयतु' इस प्रकारके वक्ताके तात्पर्यका प्रकाशक होगा।

लमित्यादौ परपदेऽहिनकुलसमाहारे लक्षणा, पूर्वपदं तु तात्पर्यग्राहकम्।

न च भेरीमृदङ्गं वादयेत्यत्र कथं समाहारस्यान्वयस्तस्यापेक्षाबुद्धिविशेषरूपस्य वदनासम्भवादिति वाच्यम्, परम्परासम्बन्धेन तदन्वयात्। एवं पञ्चमूलीत्यादावपि।

परे तु अहिनकुलमित्यादौ अहिर्नकुलश्च बुध्यते प्रत्येकमेकत्वान्वयः।

परम्परासम्बन्धेनेति। स्वविषयवृत्तित्वरूपेणेत्यर्थः। स्वं समाहारः।

यदि शाब्दबोधमें समाहारकी प्रतीति मानते हैं तो 'भेरीमृदङ्गं वादय' इस स्थलमें मृदङ्गपदकी भेरीमृदङ्ग समाहारमें लक्षणा होगी और भेरीपद 'मृदङ्गपदं भेरीमृदङ्गसमाहारं बोधयतु' इस प्रकारके वक्ताके तात्पर्यका प्रकाशक होगा। किन्तु वादनके साथ समाहारका अन्वय होगा ही नहीं। क्योंकि समाहार तो भेरीमृदङ्गगतद्वित्व है। वह द्वित्व अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वरूप है तथा वादन आघाताख्य संयोगरूपा क्रिया है। फिर भेरीमृदङ्गमें अपेक्षाबुद्धिविषयत्वात्मक भेरीमृदङ्ग समाहारका आघातरूप क्रियात्मक वादनकर्मसे अन्वय असम्भव होगा। अतः समाहारमें लक्षणा मानना व्यर्थ है। यह कहा जाय तो ठीक नहीं। क्योंकि ऐसे स्थलोंमें स्वविषयवृत्तित्वरूप परम्परा सम्बन्धसे वादनक्रियाका समाहारमें अन्वय बन सकता है। जैसे—स्व = अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयत्वरूपसमाहार उसका विषय= भेरीमृदङ्ग आदि तदवृत्तित्व वादनरूप क्रियामें है। इसी प्रकार द्विगुसमासके समाहारस्थल पञ्चानां मूलानां समाहारः पञ्चमूलीमें भी मूलपदकी पञ्चमूलसमाहारमें लक्षणा है तथा पञ्चपद 'मूलपदं पञ्चमूलसमाहारं बोधयतु' इस वक्ताके तात्पर्यका ग्राहक है। इस प्रकार प्राचीनोंके मतमें समाहारमें लक्षणा मानी जाती है और अहिनकुल समाहारके एक होनेसे एकत्वका अन्वय भी बनता है।

नवीनोंका मत है कि—अहिनकुलम् आदिमें अहि और नकुलका ही बोध होता है समाहारका नहीं। अतः समाहारमें लक्षणा करना व्यर्थ है। एकवचन विभक्तिसे बोधित एकत्वका अहि और नकुल प्रत्येकके साथ अन्वय निराबाध होगा। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि समासात्मक योगार्थमें समाहारकी प्रतीति नहीं होगी तो इसे 'समाहार समास' संज्ञा कैसे प्राप्त होगी। ठीक है, हम समासमें समाहारकी प्रतीतिके आधार पर समाहार संज्ञा नहीं मानते, किन्तु जहाँ एकत्व और नपुंसकत्व द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्, येषां च विरोधः शाश्वतिकः, स नपुंसकम् आदि सूत्रोंसे विहित है वहीं समाहार समास व्यवहार होता है। अन्यत्र (जहाँ समाहार नहीं है वहाँ) एकवचन असाधु है।

(इस प्रकार प्राचीनोंके मतमें समासमें समाहारका बोध मान लेने पर नामकी सार्थकता और एकवचनकी उपपत्ति बनती है। नवीनोंके मतमें समाहारको पारिभाषिक मानना पड़ता है जो पद्धति के विरुद्ध है।)

समाहारसंज्ञा च यत्रैकत्वं नपुंसकत्वं च 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य' इत्यादिसूत्रेणोक्तं तत्रैव, अन्यत्रैकवचनमसाध्वित्याहुः।

पितरौ श्वशुरावित्यादौ पितृपदे जनकदम्पत्योः श्वशुरपदे स्त्रीजनकदम्पत्योर्लक्षणा। एवमन्यत्रापि। घटा इत्यादौ न लक्षणा—घटत्वेन रूपेण नानाघटोपस्थितिसम्भवात्।

कर्मधारयस्थले तु, नीलोत्पलमित्यादावभेदसम्बन्धेन नीलपदार्थ उत्पलपदार्थे प्रकारः। तत्र च न लक्षणा अत एव 'निषादस्थपतिं याजयेत्'

अहिनकुलमित्यत्र अहिनकुलमात्रप्रतीतेर्नोत्तरपदे समाहारलक्षणा न वा शक्तिरित्यभिप्रायेणोक्तं यदीति।

निषादस्थपतिं याजयेत् इति। तथा च न्यायमालाविस्तरे माधवः—

द्विजः स्थपतिरन्यो वा, द्विजः षष्ठीसमासतः।
कर्मधारयमुख्यत्वान्निषादो रौद्रयागकृत्॥

अयमाशयः 'वास्तुमयं रौद्रं चरुं निर्वपेत्' इति प्रकृत्य श्रूयते एतया निषादस्थपतिं याजयेदिति, तत्र रौद्रेष्टौ यागकर्तृत्वं निषादस्य स्थपतिरिति विग्रहेण कस्य चित् त्रैवर्णिकस्य, निषादश्चासौ स्थपतिश्चेति विग्रहेण संकरजात्यवच्छिन्नस्य वेति। संकरजातिविशेषावच्छिन्नस्य शूद्रतया वेदानधिकारात् षष्ठीतत्पुरुषस्यैवौचित्येन त्रैवर्णिकस्यैवेति पूर्वपक्षे पूर्वपदस्य निषादसम्बन्धिनि लक्षणायां गौरवात्, लाघवात् कर्मधारयस्यौचित्येन संकरजातिविशेषावच्छिन्न एव कर्तेति सिद्धान्तः। ततश्च श्रुतिबलात् तात्कालिकाचार्योपदेशादिना विद्यां संपाद्य धनिको निषादो रौद्रयागं कुर्यादिति तात्पर्यम्।

एकशेषसमासस्थलमें पितरौ श्वशुरौके पितृपदकी अपने जनक माता तथा पितामें, श्वशुरपदकी अपनी स्त्रीके माता तथा पितामें लक्षणा होती है। इसी प्रकार अन्यत्र ब्राह्मणौ, शिवयोः आदिमें ब्राह्मण और ब्राह्मणीमें ब्राह्मणपदकी तथा शिव और शिवामें शिवपदकी लक्षणा मानी जाती है।

किन्तु 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ'के द्वारा जहाँ एकशेष होता है घटाः आदिमें वहाँ लक्षणा नहीं होती। क्योंकि घटत्वेन रूपेण अनेक घटों की उपस्थिति घटपदसे होती ही है।

कर्मधारय समासमें नीलञ्च तदुत्पलं च नीलोत्पलम् प्रयोगमें नीलपदार्थ उत्पलपदार्थमें अभेद (तादात्म्य) सम्बन्धसे प्रकार (विशेषण) है। अतः लक्षणा नहीं होती। लक्षणा वहाँ होती है जहाँ अन्वय नहीं होता। कर्मधारयमें लक्षणा न होनेसे ही 'निषादस्थपतिं याजयेत्'में निषादस्थपति पदमें कर्मधारय समास 'निषादश्चासौ स्थपतिश्च' माना गया है। यदि निषादानां स्थपतिः तत्पुरुष समास किया जाय तो पूर्वोक्तरीतिसे तत्पुरुष समास स्थलमें

इत्यत्र न तत्पुरुषो लक्षणापत्तेः, किन्तु कर्मधारयो लक्षणाभावात्। न च निषादस्य सङ्करजातिविशेषस्य वेदानधिकाराद्याजनासम्भव इति वाच्यम्, निषादस्य विद्याप्रयुक्तेस्तत एव कल्पनीयत्वात्। लाघवेन मुख्यार्थस्यान्वये तदनुपपत्त्या तत्कल्पनायाः फलमुखगौरवतयाऽदोषत्वादिति।

उपकुम्भमर्धपिप्पलीत्यादौ परपदे तत्सम्बन्धिनि लक्षणा, पूर्वपदार्थ-

---

नन्न—

षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः॥

इति स्मृत्या याजनस्य ब्राह्मणजीविकात्वेन परिगणनात्तत्र रागत एव प्रवृत्तिसम्भवाच्छ्रुत्या याजनस्य विधानमनुपन्नमिति चेन्न; याजयेदित्यस्य यजेदित्यत्रैव तात्पर्येणादोषात्। शूद्रस्य अज्ञतया यागे प्रवृत्त्यसम्भवात् ब्राह्मणस्य प्रवर्तकतया याजयेदित्युक्तेरिति सर्वं समञ्जसम्।

तत्पुरुष इति। षष्ठीतत्पुरुष इत्यर्थः। यथाश्रुतं तु न युक्तम्। कर्मधारयस्यापि तत्पुरुषत्वादिति।

लक्षणा माननी पड़ेगी। लक्षणावृत्ति एक 'अगतिकगति' है अतः निम्नकोटिकी (जघन्य) वृत्ति है। इसका आश्रयण तब तक करना उचित नहीं जब तक शक्तिवृत्तिसे कार्य बन जाता हो। अतएव मीमांसकोंने निषादस्थपतिमें कर्मधारय समास माना तत्पुरुष नहीं।

यहाँ यह शंका उठती है कि ब्राह्मणसे शूद्रामें उत्पन्न निषाद जाति भी शूद्र है वर्णसंकर है। 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' इस निषेधवाक्यके द्वारा शूद्रको वेद पढ़नेका विधि प्राप्त अधिकार नहीं है। जो वेदाध्ययनका अधिकारी नहीं वह याग नहीं कर सकता। अतः कर्मधारयसमास मानना उचित नहीं प्रतीत होता। तत्पुरुषसमास मानने पर तो निषादका स्थपति (स्वामी) किसी त्रैवर्णिकके होनेसे याग बन सकता है। हां, इस पक्षमें निषाद पदकी निषाद सम्बन्धी में लक्षणा माननी पड़ेगी जिससे निषादसम्बन्ध्यभिन्नः स्थपतिः यह शाब्दबोध होगा। इसप्रकार तत्पुरुष समास मानना चाहिए कर्मधारय नहीं। किन्तु यह शङ्का उचित नहीं है क्योंकि तत्पुरुष समासमें लक्षणा माननेसे गौरव होगा। अतः इसी वाक्यको ध्यानमें रखकर निषादको उतना वेद पढ़नेका अधिकार मान लिया जाता है जितना उक्त यागविधिमें यजमान निषादको बोलना रहता है। इस प्रकार श्रुत (निषाद)का बाधभी नहीं होता। सिद्धान्ततः तात्कालिक आचार्य के उपदेशसे विद्या प्राप्तकर धनिक निषाद रौद्रयाग करे यह अर्थ होता है।

अब प्रकरणवश यह शङ्का उठना स्वाभाविक है कि याजयेत्में णिजर्थ प्रेरणा ब्राह्मणमें

प्रधानतया चान्वयबोध इति। इत्थञ्च समासे न क्वापि शक्तिः—पदशक्त्यैव निर्वाहादिति।

आसत्तियोग्यताकाङ्क्षातात्पर्यज्ञानमिष्यते॥ ८२॥
कारणं, संनिधानं तु पदस्यासत्तिरुच्यते।

लक्षणापत्तेरिति। ननु लक्षणाकल्पनं न दोषः। निषादानां स्थपतिरिति षष्ठीसमासे निषादसम्बन्ध्यभिन्नस्थपतिविषयकबोधाय लौकिकवाक्ये लक्षणायाः क्लृप्तत्वात्। तदनुरोधेन न तादृशशाब्दबोधे लक्षणाज्ञानहेतुत्वकल्पनप्रयुक्तं गौरवमपीति चेन्न—वैदिकवाक्यजन्यशाब्दबोधात्पूर्वं लक्षणाज्ञानव्यक्तिकल्पनागौरवस्यैव दोषत्वमित्याशयात्। न च वैदिकवाक्यजन्यशाब्दबोधात्पूर्वं शक्तिज्ञानव्यक्तिकल्पनं तव, मम च लक्षणाज्ञानव्यक्तिकल्पनमिति किं गौरवमिति वाच्यम्। शक्यसम्बन्धरूपलक्षणाज्ञानव्यक्तिं कल्पयतस्तव शक्तिज्ञानव्यक्तिकल्पनाया आवश्यकत्वात्। मम शक्तिज्ञानमात्रस्यैव कल्पनेन लाघवादित्यलम्।

है 'अर्थात्' ब्राह्मण याग करावे। किन्तु ब्राह्मण जब अपनी जीविकाके कारण स्वयं रागतः याग करानेके लिए प्रस्तुत है तो याजनका विधान उचित नहीं, ठीक है याजयेत्का यजेतमें ही तात्पर्य है। अथवा शूद्र अज्ञ होता है उसे यज्ञकी ओर प्रवृत्त करनेका कार्य करनेके कारण ब्राह्मणको प्रेरक बननेके लिए विधि माननेसे याजयेत भी यथाश्रुत अर्थमें उचित ही है।

यद्यपि कर्मधारयमें लाघवात् मुख्यार्थान्वय तो बनता है किन्तु यागकी अनुपत्ति होनेसे निषादके लिए विद्याकल्पना करना गौरव ही है तथापि कर्मधारय समासमें पहिले मुख्यार्थके साथ अन्वय हो जानेके बाद यजनान्वयानुपत्ति होनेसे निषादको विद्याकी कल्पनारूप गौरव फलमुख गौरव होनेसे दोष नहीं माना जा सकता क्योंकि लक्षणा नहींकरनी पड़ती। यहाँ सर्वत्र तत्पुरुषपद षष्ठी तत्पुरुषपदपरक है। क्योंकि कर्मधारय भी तत्पुरुषका एक भेद ही है। उपकुम्भम, अर्धपिप्पली आदि स्थलोंमें परपदकुम्म या पिप्पलीकी कुम्भसम्बन्धीमें और पिप्पलीकी पिप्पली सम्बन्धीमें लक्षणा होगी तथा कुम्भसम्बन्ध्यभिन्नं समीपम् (उपशब्दका समीप अर्थ है) पिप्पलीसम्बन्ध्यभिन्नमर्द्धम् इस प्रकारका पूर्वपदार्थ प्रधान शाब्दबोध हो जाता है। अतः वैयाकरण लोग जो समासमें अलग शक्ति मानते हैं वह ठीक नहीं क्योंकि पदशक्तिसे ही निर्वाह हो जाता है।

शाब्दबोध के प्रति निम्नलिखित चार कारण है। १. आसत्तिज्ञान, २. योग्यताज्ञान, ३. आकाङ्क्षाज्ञान, ४. तात्पर्यज्ञान। इनमें पदोंके सन्निधानको आसत्ति कहते हैं॥ ८२½॥

आसत्तिरिति। आसत्तिज्ञानं योग्यताज्ञानमाकाङ्क्षाज्ञानं तात्पर्यज्ञानं च शाब्दबोधे कारणम्।

तत्रासत्तिपदार्थमाह—सन्निधानं त्विति। अन्वयप्रतियोग्यनुयोगिपदयोरव्यवधानमासत्तिः; तज्ज्ञानं शाब्दबोधे कारणम्, क्वचिद्व्यवहितेऽप्यव्यवधानभ्रमाच्छाब्दबोधादिति केचित्।

वस्तुतस्तु अव्यवधानज्ञानस्यानपेक्षितत्वात् यत्पदार्थेन यत्पदार्थस्यान्वयोऽपेक्षितस्तयोरव्यवधानेनोपस्थितिः शाब्दबोधे कारणम्। तेन गिरिर्भुक्तमग्निमान्देवदत्तेनेत्यादौ न शाब्दबोधः। नीलो घटो द्रव्यं पट

आसत्तिज्ञानमिति। अयं भावः। 'गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन' इत्यत्र गिरिपदाग्निमत्पदयोरव्यवधानभ्रमेण शाब्दबोधदर्शनात् स्वरूपसत्या आसत्तेर्न शाब्दबोधे कारणत्वं किन्तु आसत्तिज्ञानस्यैवेति।

ननु आसत्तिर्योग्यतेति मूलकारिकापाठात् आसत्तिरित्यस्य समासाघटकत्वेन तस्य ज्ञानपदेनान्वयासम्भवादासत्तिज्ञानमित्यर्थकरणमयुक्तमिति चेद्।

न, आसत्तियोग्यतेतिनिर्विभक्तिपाठस्यैव साम्प्रदायिकत्वात्। आसत्तिरितिप्रथमान्तपाठे तु आसत्तिपदमासत्तिज्ञाने लाक्षणिकमिति ध्येयम्।

केचिदित्यन्तेनोक्तं मतं दूषयति—वस्तुतस्त्विति।

ननु 'नीलो घटो द्रव्यं पटः' इत्यत्र नीलपदार्थपटपदार्थयोर्यत्रान्वयो वक्तुस्तात्पर्यविषयस्तत्रनीलपदघटपदयोरासत्तिर्न स्यात् तत्तत्पदार्थान्वयस्य तात्पर्यविषयत्वाभावादतस्तत्रेष्टापत्तिमाह—नीलो घट इत्यादिना।

तर्हि तत्र नीलो घट इति कथं शाब्दबोधः इत्याह—भ्रमाच्छाब्दबोधः इति। तथा च भ्रमाच्छाब्दबोधमात्रं न तु तत्रासत्तिरिति तत्त्वम्।

आसत्तिज्ञान, योग्यताज्ञान, आकाक्षाज्ञान, तात्पर्यज्ञान शाब्दबोधमें कारण है आसत्तिका लक्षण इस प्रकार है। पदोंकी सन्निधिको आसत्ति कहते है। अन्वयके प्रतियोगी और अनुयोगी पदोंके अव्यवधानको आसत्ति कहते है। आसत्तिज्ञान शाब्दबोधमें कारण होता है। आसत्ति स्वरूपतः शाब्दबोधमें कारण नहीं होती। अतएव कहीं पर व्यवधान रहने पर भी अव्यवधान भ्रम होने पर शाब्दबोध होता है। ऐसा कुछ लोगोंका मत है। वस्तुतस्तु—जिस पदार्थका जिस पदार्थके साथ अन्वय अपेक्षित हो उन दोनों पदोंकी (कालकृत और देशकृत) व्यवधानसे रहित होकर अर्थात् अव्यहितरूपसे उपस्थितिरूप आसत्ति शाब्दबोधमें कारण है। जैसे गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन' इस स्थलमें शाब्दबोध नहीं होता क्योंकि वक्ताका तात्पर्य है कि 'गिरिः अग्निमान् देवदत्तेन भुक्तम्' किन्तु उक्तपद समूहमें पदोंकी अव्यवधानसे उपस्थिति नहीं है। अतः इसे वाक्य भी नहीं कहते तथा इनसे शाब्दबोध भी

इत्यादावासत्तिभ्रमाच्छाब्दबोधः। आसत्तिभ्रमाच्छाब्दभ्रमाभावेऽपि न क्षतिः।

ननु यत्र छत्री कुण्डली वासस्वी देवदत्त इत्याद्युक्तं तत्रोत्तरपदस्मरणेन पूर्वपदस्मरणस्य नाशादव्यवधानेन तदुत्तरपदस्मरणासंभवादिति चेद्—

न; प्रत्येकपदानुभवजन्यसंस्कारैश्चरमस्य तावत्पदविषयकस्मरण-

ननु तत्र यद्यासत्तिभ्रमस्तदा शाब्दबोधः भ्रमात्मकः स्यान्न चेष्टापत्तिः। घटे नीलस्य सत्त्वेन विषयबाधाभावात्। आसक्तिभ्रमाच्छाब्दप्रमाङ्गीकारे चासत्तिभ्रमाच्छाब्दभ्रम इति प्राचीनगाथाविरोध इत्यत आह आसत्तिभ्रमादिति। आसत्तिभ्रमस्य न शाब्दभ्रमजनकत्वं, प्राचीनगाथा तु निर्युक्तिकत्वादश्रद्धेयैवेति भावः।

नन्वव्यवधानेन पदोपस्थितिः शाब्दबोधे कारणमित्ययुक्तम् अनेकपदघटितवाक्यस्थलेऽव्यवधानेन पदोपस्थित्यभावादित्याशङ्कते नन्विति।

नहीं होता। यह व्यवधान देशकृत व्यवधान कहा जाता है। कालकृत व्यवधान तो उन स्थलोंमें होता है जो विलम्बसे उच्चरित होते है।

अब शंका यह उठती है कि 'नालो घटो द्रव्यं पटः' इस स्थलमें वक्ताका तात्पर्य यदि 'नीलः पटः, द्रव्यं घटः'में हो तब तो 'नीलो घटः' से शाब्दबोध नहीं होना चाहिए, ठीक है, ऐसे स्थलोंमें आसत्तिभ्रमसे ही शाब्दबोध होता है किन्तु आसत्ति नहीं होती। यदि कहा जाय कि आसत्तिभ्रमसे भ्रमात्मक शाब्दबोध होता है तो ठीक नहीं, क्योंकि घट भी नाल है फिर विषयबाध न होनेसे शाब्दभ्रम मानना उचिन न होगा। यदि आसत्तिभ्रमस प्रमात्मकशाब्दबोध कहा जाय तो प्राचीनोंकी 'आसत्तिभ्रमात् शाब्दभ्रमः' गाथाका विरोध होता है, ठीक है। प्राचीनोंकी निर्युक्तिक गाथाको प्रमाण मानना ठीक नहीं। अतः आसत्तिभ्रमसे भ्रमात्मकशाब्दबोधके होनमें कोई आपत्ति नहीं है।

यद्यपि अव्यवधानसे पदोंकी उपस्थितिको शाब्दबोधमें कारण मानने पर छत्री, कुण्डली, वासस्वी देवदत्तः इस प्रकार अनेक विशेषण पदघटित वाक्यका प्रयोग है वहाँ 'योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तिगुणनाश्यत्वनियमः' 'प्रत्यक्षयोग्य विभुओंके विशेषगुणोंका अपनी उत्पत्तिके बाद उत्पन्न होनेवाले गुणोंसे नाश होता है' नियमके अनुसार उत्तरपदके स्मरण द्वारा पूर्वपदके स्मरणका नाश होगा, फिर तो अनेक पदवाले वाक्यमें अन्यपदोंकी एक साथ (अव्यवधानेन) उपस्थिति नहीं होगी और शाब्दबोध नहीं बन सकेगा यह कहा जा सकता है तथापि प्रत्येक पदके अनुभवसे उत्पन्न संस्कारोंका अन्तिमपद श्रवणकालमें समस्त विशेषण विशेष्यपद समुदाय विषयक समूहालम्बनात्मक अव्यवधानेन स्मरण हो जानेसे शाब्दबोध बन जायगा। यहाँ यह शङ्का ठीक नहीं कि 'अनेक संस्कारोंसे अनेक

स्याऽव्यवधानेनोत्पत्तेः। नानासंनिकर्षैरेकप्रत्यक्षस्येव नानासंस्कारैरेकस्मरणोत्पत्तेरपि सम्भवात्। कथमन्यथा नानावर्णैरेकपदस्मरणम्।

परन्तु यावत्पदार्थानां स्मरणादेकदैव खले कपोतन्यायेन तावत्पदार्थानां क्रियाकर्मभावेनान्वयरूपः शाब्दबोधो भवतीति केचित्—

वृद्धा युवानः शिशवः कपोताः खले यथामी युगपत्पतन्ति।
तथैव सर्वे युगपत्पदार्थाः परस्परेणान्वयिनो भवन्ति॥

नानासन्निकर्षैरिति। यथा घटचक्षुःसंयोगस्य पटप्रत्यक्षे कारणत्वाभावेऽपि घटचक्षुःसंयोगाभ्यामेकं घटपटाविति समूहालम्बनात्मकं प्रत्यक्षं जायते तथा तत्पदगोचरसंस्कारस्य भिन्नविषयकत्वांशेऽजनकत्वेऽपि तत्तत्संस्कारजन्यमेकमेव स्मरणं जायते बाधकाभावादिति भावः

अन्यथेति। नानासंस्काराणामेकस्मरणजनकत्वाभावे इत्यर्थः।

नन्वाशुभङ्गुराणां क्रमिकाणां पदजन्यपदार्थोपस्थितीनामपि मेलनं न सम्भवति। अतः सर्वत्र शाब्दबोधे पदजन्यपदार्थोपस्थितिः समूहालम्बनात्मिकैव कारणम्। एवं चैकदैवमिति रीत्या, विशिष्टबुद्धिजनकस्य विशेषणतावच्छेदकप्रकारकनिर्णयस्य पूर्वमभावादिति प्राचीनमतं दर्शयति परं त्विति।

एकदैवेति। न तु घटमानयेत्यादौ प्रथमं घटीया कर्मता इत्येवं बोधस्तदनन्तरं च घटकर्मकमानयनमिति बोध इत्यादि क्रमेणेत्यर्थः।

वृद्धा युवानः। इत्यस्य तदाहुरित्यादिः। अत्र वृद्धयुवशिशुभिः कपोतैश्चिरतरचिरसन्निहितकालोक्तानां पदार्थानां सादृश्यं बोध्यम्।

स्मरण होना चाहिए एक स्मरण मानना उचित नहीं' क्योंकि जैसे एक ही कालमें घटचक्षुः संयोग और पटचक्षुः संयोग आदि अनेक सन्निकर्षोंसे 'घटपटौ' इस रूपमें एक ही प्रत्यक्ष होता है। वैसे ही अनेक पदोंके संस्कारोंसे एक ही स्मरणकी उत्पत्ति भी मानी जा सकती है। पूर्वपदोंके संस्कारके साथ अन्तिमपदका ज्ञान ही उस स्मरणमें उद्बोधक होगा। अतएव अनेक वर्णोंके प्रत्येक संस्कारोंसे अनेक वर्णविषयक एक पदस्मरण भी बनता है। अतः 'अनेक संस्कारोंसे एक स्मरण की उत्पत्तिका' सिद्धान्त मान्य होता है।

कुछ प्राचीन आचार्योंका मत है कि जितने भी पदजन्य पदार्थ हैं उनके एककालमें स्मरणसे 'खले कपोतन्याय' से उतने पदार्थोंका क्रिया कर्मभावसे अन्वयरूप शाब्दबोध हो जाता है। अर्थात् जैसे खलिहानमें वृद्ध, युवा, शिशु अवस्थाके कबूतर एक साथ उतर पड़ते हैं वैसे सब पदार्थ एक ही कालमें उपस्थित होकर परस्पर अन्वय प्राप्त करते हैं।

अन्य आचार्योंका मत है कि—'जो-जो पद परस्पर आकाङ्क्षा योग्यता आसत्तिसे युक्त हैं उन-उन पदोंके साथ अन्वय प्राप्त पदार्थ भी उन-उन पदोंसे ही प्रतीत होते हैं।' जैसे

परेतु—

यद्यदाकाङ्क्षितं योग्यं सन्निधानं प्रपद्यते।
तेन तेनान्वितः स्वार्थः पदैरेवावगम्यते॥

तथा च खण्डवाक्यार्थबोधानन्तरं तथैव पदार्थस्मृत्या महावाक्यार्थबोध इत्याहुः।

एतेन तावद्वर्णाभिव्यङ्ग्यः पदस्फोटोऽपि निरस्तः। तत्तद्वर्णसंस्कारसहितचरमवर्णोपलम्भेन तद्व्यञ्जकेनैवोपपत्तेरिति।

यद्यदिति। घटादिपदार्थाकाङ्क्षितं घटपदोपस्थितिजन्यं 'किंघटीयम्' इति जिज्ञासाविषयीभूतं योग्यं योग्यताज्ञानाधीनं कर्मत्वादि यद्यत् सन्निधानं प्रतिपद्यते स्वार्थोपस्थितिविषयो भवति तेन तेनैवान्वितः स्वार्थः पदैः प्रथममनुभाव्यते इत्यर्थः। तथाच आनयनार्थरूपोपस्थितेः प्रथममेव 'घटम्' इति वाक्याद्घटीयं कर्मत्वमिति बोधो भवति तदनन्तर च घटकर्मकमानयनमिति महावाक्यार्थबोधः। एवं च पूर्वोक्तसमूहालम्बनात्मकं पदार्थज्ञानं विनापि निर्वाह इति भावः।

केचित्तु वृत्त्या पदजन्यपदार्थोपस्थितिरेवासत्तिः। सा च स्वरूपसती हेतुः। नन्वेतादृशासत्तेः शाब्दबोधं प्रति कारणत्वे किं मानमिति वाच्यम् आनयेति वाक्यं श्रुतवतः प्रत्यक्षेण घटं पश्यतोऽपि पुंसः घटकर्मकानयनबोधापत्तेः। नचैवं 'गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन' इत्यत्र अन्वयबोधापत्तिरिति वाच्यम्, सति तात्पर्यग्रहे इष्टापत्तेः।

नन्वेवं श्लोकेषु अन्वयप्रदर्शनानर्थक्यमिति चेन्न तात्पर्यज्ञानार्थं तदुपयोगात्। वृत्त्या पदजन्यपदार्थोपस्थितिश्च स्मृतिरूपा न तु शाब्दबुद्धिरूपा तथा। सति शाब्दबोधरूपाया आसत्तेः शाब्दबुद्धिं प्रति कारणत्वेऽन्योन्याश्रयप्रसङ्गात् एतेन मौनिश्लोकादौ पदाभावेन पदाव्यवधानरूपासत्यभावेऽपि न क्षतिरित्याहुः।

घट इति समुदायो न वाचकः। उत्पन्नानामभिव्यक्तानां वा वर्णानां समुदायस्यैकदा प्रत्यक्षासंभवात्। नापि प्रत्येकं वर्णा वाचकाः द्वितीयादिवर्णोच्चारणवैयर्थ्यापत्तेरतः पूर्वपूर्ववर्णानुभवजन्यसंस्कारसध्रीचीनचरमवर्णानुभवजन्यसंस्कारेणाभिव्यक्तः

'घटम्' सुनते ही 'किं घटीयम्' इस जिज्ञासा पर कर्मत्व आदि जो-जो पदार्थ उपस्थित होते हैं उनका प्रथमतः खण्ड वाक्यार्थ होता है 'घटीयं कर्मत्वम्'। तदनन्तर आनयपदार्थकी उपस्थिति होनेके बाद 'घटकर्मकमानयनम्' महावाक्यार्थबोध होता है। इस प्रकार पूर्वोक्त 'खले कपोतन्यायेन' समूहालम्बनात्मक पदार्थज्ञानके विना भी निर्वाह बनता है। वैसे छत्री, कुण्डली, वाससवी देवदत्तः' में भी छत्र विशिष्ट देवदत्त, कुण्डलविशिष्ट देवदत्त, इत्यादि खण्डवाक्यार्थबोध हो जाने के बाद महावाक्यार्थबोध होता है।

इदन्तु बोध्यम् । यत्र द्वारमित्युक्तं तत्र पिधेहीत्यादि पदस्य ज्ञानादेव बोधो, न तु पिधानादिरूपार्थज्ञानात्—पदजन्यतत्तत्पदार्थोपस्थितेस्तत्तच्छाब्दबोधे हेतुत्वात् । किञ्च क्रियाकर्मपदानां तेन तेनैव रूपेणाकाङ्क्षितत्वात्, तेन क्रियापदं विना कथं शाब्दबोधः स्यात् ।

स्फोट एव वाचक इति वैयाकरणास्तन्मतं निरस्यति एतेनेति । **पूर्वपूर्ववर्णानुभवजन्यसंस्कारसध्रीचनचरमवर्णानुभवजन्यसंस्कारेण क्रमिकवर्णविशिष्टपदस्मरणेनैव घटार्थबोधोपपत्तौ स्फोटाङ्गीकारो वृथेति भावः ।**

लाघवेन पदजन्यदार्थोपस्थितिर्न शब्दबोधे कारणं किन्तु पदार्थोपस्थितिरेव । अत **एव पिधेहीत्यत्र न पदाध्याहारः किन्तु अर्थाध्याहार एवेति प्रभाकरमतं दूषयति** इदन्तु बोध्यमि **त्यादिना । पदार्थोपस्थितिमात्रस्य हेतुत्वेन प्रत्यक्षोपस्थितघटादेरपि शाब्दबोधे भानापत्तिरिति भावः ।**

ननु तात्पर्याभावादेव न प्रत्यक्षोपस्थितघटादेर्बोधे भानं तात्पर्यसत्त्वेत्विष्टापत्तिरत आह किञ्चेति ।

वैयाकरणोंका मत है कि 'घटः' यह समुदाय वाचक नहीं हो सकता क्योंकि वर्णोत्पत्तिपक्ष हो या वर्णाभिव्यक्तिपक्ष हो वर्णोंके समुदायका एक कालमें प्रत्यक्ष होना सम्भव नहीं । प्रत्येक वर्णोंको वाचक मानना भी ठीक नहीं क्योंकि प्रथम वर्णमें वाचकता मान लेने पर द्वितीयादि वर्णोंका उच्चारण करना ही व्यर्थ होगा । अतः पूर्वपूर्ववर्णोंके अनुभवसे जन्य संस्कारोंके साथ अन्तिम वर्णके अनुभवजन्य संस्कारसे अभिव्यक्त पदस्फोट ही वाचक है । किन्तु वैयाकरणोंका यह मत कि उतने वर्णोंसे अभिव्यक्त पदस्फोट है, हमारे पूर्वोक्त कथनसे खण्डित हो जाता है क्योंकि पूर्वपूर्ववर्णोंके अनुभवसे जन्य संस्कारोंके साथ अन्तिम वर्णके अनुभवजन्य संस्कारसे क्रमिकवर्णविशिष्टपदोंका स्मरण होगा और उसी स्मरणसे ही घटार्थका बोध बन जायगा फिर स्फोट मानना व्यर्थ होगा ।

प्रभाकरोंका मत है कि पदजन्यपदार्थोपस्थितिशाब्दबोधमें कारण नहीं है किन्तु केवल पदार्थोपस्थिति ही शाब्दबोधमें कारण मानना चाहिए । अतएव पिधेहि कहने पर 'द्वारम्' पदकी उपस्थिति नहीं होती अपितु 'द्वारम्' अर्थात् अध्याहृत होता है । किन्तु यह प्रभाकरोंका मत ठीक नहीं क्योंकि यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि जहाँ केवल 'द्वारम्' मात्र कहा गया वहाँ पिधेहि पदके ज्ञान होनेसे ही शाब्दबोध होता है न कि पिधानरूप अर्थके ज्ञानसे शाब्दबोध होता है। क्योंकि पदजन्यपदार्थोपस्थिति ही उन-उन शब्दजन्यबोधमें कारण मानी गयी है । अन्यथा प्रत्यक्षतया उपस्थित घटका भी शाब्दबोधमें भान होने लगेगा । यदि यह कहा जाय कि जहाँ वक्ताका तात्पर्य नहीं है वहाँ प्रत्यक्षोपस्थित भी घटकी शाब्दबोधमें प्रतीति नहीं होगी, जहाँ वक्ताका तात्पर्य शाब्दबोधमें

तथा पुष्पेभ्य इत्यादौ[1] स्पृहयतीत्यादिपदाध्याहारं विना चतुर्थ्यनुपपत्तेः पदाध्याहार आवश्यकः ॥

योग्यतां निर्वक्ति—

पदार्थे तत्र तद्वत्ता योग्यता परिकीर्तिता ॥ ८३ ॥

पदार्थे इत्यादिना । एकपदार्थेऽपरपदार्थसम्बन्धो योग्यतेत्यर्थः । तज्ज्ञानाभावाच्च वह्निना सिञ्चतीत्यादौ न शाब्दबोधः ।

नन्वेतस्या योग्यताया ज्ञानं शाब्दबोधात्प्राक्सर्वत्र न सम्भवति—वाक्यार्थस्यापूर्वत्वादिति चेद्—

अपूर्वत्वादिति । **सर्वत्र शाब्दबोधात्पूर्वमनिश्चितत्वादित्यर्थः ।**

प्रत्यक्ष उपस्थित घटकी प्रतीतिका होगा वहाँ तो शाब्दबोध होता ही है । ऐसी स्थितिमें जब तात्पर्यज्ञान भी शाब्दबोधमें कारण माना गया है तब उसीसे निर्वाह होगा 'पदजन्य' पदका उपस्थितिमें विशेषण देना व्यर्थ है । यह भी प्राभाकरोंका कहना ठीक नहीं क्योंकि लोडन्त 'आनय' आदि क्रियापदोंकी द्वितीयान्त घटं आदि कर्मपदोंके साथ एवं द्वितीयान्त 'घटम्' आदि कर्मपदोंकी लोडन्त 'आनय' आदि क्रियापदोंके साथ उन-उन विशेषरूपोंसे परस्पर आकांक्षा देखी गई है । अतः आनय क्रियापदके बिना केवल घटम् कर्मपदसे, अथवा 'पिधेहि' क्रियापदके बिना केवल 'द्वारम्' कर्मपदसे शाब्दबोध नहीं हो सकता । इसी प्रकार 'पुष्पेभ्यः' इसके आगे 'स्पृहयति' पदका बिना अध्याहार किये चतुर्थी विभक्ति नहीं होगी । क्योंकि 'स्पृहेरीप्सितः' सूत्र स्पृहार्थक धातुके योगमें ही सम्प्रदान संज्ञाका विधान करता है । अतः पदाध्याहारपक्ष ही उचित है अर्थाध्याहार नहीं ।

योग्यताका निर्वचन करते हैं—

एकपदार्थसे अपर पदार्थके सम्बन्धको योग्यता कहते हैं । उस योग्यताके न रहनेके कारण ही 'वह्निना सिञ्चति' इत्यादिपद समूहोंसे शाब्दबोध नहीं होता । क्योंकि सिञ्चनकी योग्यता जलमें होती है अग्निमें नहीं । यहाँ यह कहना कि इस योग्यताज्ञानका सर्वत्र शाब्दबोधके कारण होनेके नाते पूर्व रहना अनिवार्य है किन्तु पूर्व रहना सम्भव नहीं है क्योंकि सर्वत्र वाक्यार्थ शाब्दबोध होनेके पूर्व (अपूर्व) अनिश्चित रहता है । किन्तु यह शङ्का उचित नहीं । क्योंकि किसी भी स्थलमें उन-उन पदोंसे जन्य उन-उन पदार्थोंके स्मरण होनेसे किसी स्थलमें संशयरूपमें किसी स्थलमें निश्चयरूपमें योग्यताज्ञान रहता ही है । अतः 'कार्यनियतपूर्ववर्तित्व' रूप कारणत्व योग्यता ज्ञानमें है ही ।

नवीन नैयायिकोंका मत है कि योग्यताका ज्ञान शाब्दबोधमें कारण नहीं है किन्तु

---

१. आदिना-शत्रवे कुध्यति, वञ्चकाय द्रुह्यति इत्यादीनां संग्रहः । अत्र क्रुधद्रुहेत्यादिना क्रोधाद्यर्थकानां योगे एव चतुर्थी विधानात् ।

न—तत्तत्पदार्थस्मरणे सति कांचित्संशयरूपस्य कचिन्निश्चयरूपस्य योग्यताज्ञानस्य सम्भवात्।

नव्यास्तु योग्यताज्ञानं न शाब्दबोधकारणम्। किन्तु वह्निना सिञ्चतीत्यादौ सेके वह्निकरणत्वाभावरूपायोग्यतानिश्चयेन प्रतिबन्धान्न शाब्दबोधः। तदभावनिश्चयस्य लौकिकसंनिकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यतज्ज्ञानमात्रे प्रतिबन्धकत्वाच्छाब्दबोधं प्रत्यपि प्रतिबन्धकत्वं सिद्धम्। योग्यताज्ञानविलम्बाच्च शाब्दबोधविलम्बोऽसिद्ध इति वदन्ति ॥ ८३ ॥

आकाङ्क्षां निर्वक्ति—

यत्पदेन विना यस्याननुभावकता भवेत्।
आकाङ्क्षा.

'शङ्खो न पीत' इति निश्चयसत्त्वेऽपि पित्तादिदोषवशात् 'पीतः शङ्ख' इति प्रत्यक्ष जायते इत्याह—लौकिकसंनिकर्षाजन्येति। शुक्तौ 'नेदं रजतम्' इति ज्ञानसत्त्वेऽपि मण्डूकवसाञ्जनादिदोषेण 'इदं रजतम्' इति भ्रमस्योदयादाह—दोषविशेषेति।

ननु यत्र न योग्यताज्ञानं तत्र शब्दबोधापत्तिरित्यत आह योग्यताज्ञानेति। तथा चेष्टापत्तिरिति भावः।

वदन्तीति। परे तु लौकिकसंनिकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यतद्वत्ताबुद्धिं प्रति तदभावनिश्चयत्वेन प्रतिबन्धकता न संभवति घटाभाववद्भूतलमिति निश्चयोत्तरमपि घटप्रकारकभूतलविशेष्यकचाक्षुषं मे जायतामितीच्छासत्त्वे घटादेरपि चाक्षुषसंनिकर्षात् भूतले घटचाक्षुषोत्पत्त्या व्यभिचारवारणाय तच्चाक्षुषेच्छाविरहविशिष्टतदभाव-

---

'वह्निना सिञ्चति' इत्यादि स्थलोंमें सिञ्चनक्रियामें वह्निकरणत्वाभावरूप जो अयोग्यता निश्चय हैं वह विपरीत शाब्दबोधके प्रति प्रतिबन्धक है। अतः शाब्दबोध नहीं होता। क्योंकि लौकिक सन्निकर्षाजन्य दोषविशेषाजन्यतद्ज्ञानमात्रके प्रति अनाहार्याप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दिततद्धर्मिक तद्भावका निश्चय प्रतिबन्धक होता है। इसलिए वह्निना सिञ्चतिमें योग्यताभाव निश्चयरूप प्रतिबन्धकके रहने पर शाब्दबोध के प्रति भी प्रतिबन्धकत्व सिद्ध होगा।

जो लोग कहते हैं कि योग्यताज्ञानके अनन्तर एक क्षण विलम्बसे शाब्दबोध होता है उनका कहना भी ठीक नहीं क्योंकि योग्यता ज्ञानके विलम्बसे कहीं पर शाब्दबोधमें विलम्ब होता हुआ देखा नहीं गया है। अतः शाब्दबोधके प्रति योग्यता ज्ञानको कारण मानना उचित नहीं' यह नवीन लोग कहते हैं ॥ ८३ ॥

आकांक्षाका निर्वचन करते हैं—

जिस पदके बिना जिस पदमें शाब्दबोधजनकता न रहे उसके साथ उसकी आकाङ्क्षा होती है। यत्पदेन विनाका अर्थ है 'येन पदेन विना' जिस पदके बिना जिस पदसे

यत्पदेनेति। येन पदेन विना यत्पदस्यान्वयाननुभावकत्वं तेन पदेन सह तस्याकाङ्क्षेत्यर्थः। क्रियापदं विना कारकपदं नान्वयबोधं जनयतीति तेन तस्याकाङ्क्षा।

वस्तुतस्तु क्रियाकारकपदानां संनिधानमासत्त्या चरितार्थम्। परन्तु घटकर्मताबोधं प्रति घटपदोत्तरद्वितीयारूपाकाङ्क्षाज्ञानं कारणम्, तेन घटः कर्मत्वमानयनं कृतिरित्यादौ न शाब्दबोधः।

निश्चयः तत्प्रकारकचाक्षुषं प्रति प्रतिबन्धक इति विशिष्यैव प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावः कल्पनीयः, अनुमितिस्थले च तत्प्रकारकानुमितिं प्रति इच्छाविरहवैशिष्ट्यमनन्तर्भाव्यैव तदभावनिश्चयत्वेन प्रतिबन्धकता कल्पनीया परोक्षज्ञानस्याहार्यस्यानभ्युपगमाद्। एवं च शब्दबुद्धौ पृथगेवायोग्यतानिश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वं कल्पनीयमिति तदपेक्षया शाब्दबोधे योग्यताज्ञानस्य हेतुत्वकल्पने एव लाघवमिति वदन्ति ॥८२-८३॥

क्रियाकारकपदानामिति। अयं भावः एकपदेऽपरपदवत्त्वम्—अपरपदाव्यवहितोत्तरत्वं तत्र चाव्यवधानांशस्यासत्त्यैव लाभः। आसत्तेः पदाव्यवधानरूपतायाः पूर्वमुपवर्णितत्वादिति उत्तरत्वं च क्रियाकारकपदयोर्नापेक्षितम्। चैत्रः पचति, पचति चैत्र इति वाक्यद्वयादपि बोधात् क्रियाकारकपदयोर्नाकाङ्क्षा किन्तु प्रकृत्यव्यवहितोत्तरत्वमेवाकाङ्क्षा तत्राव्यवधानांशस्यासत्त्यैव लाभात्प्रत्ययेप्रकृत्युत्तरत्वरूपाकाङ्क्षाज्ञानं कारणमिति।

शाब्दबोध न हो उस पदके साथ उस पदकी आकाङ्क्षा होती है। जैसे जिस क्रियादि पदके बिना जिस कर्मादि कारकपद अन्वयबोध न होने दे उस क्रियापदके साथ उस कारकपदकी आकाङ्क्षा है।

वस्तुतस्तु क्रिया और कारकपदोंकी अव्यवहितपूर्वत्व या अव्यहितोत्तरत्वमें से कोई एक अव्यवधानरूप सन्निधि अंशका लाभ आसत्तिसे हो चुका है। अतः क्रियाकारक पदोंकी आकाङ्क्षा का अलग वर्णन करना उचित नहीं है। परन्तु 'घटमानय' वाक्यके शाब्दबोधमें घटम्के अम् प्रत्ययमें प्रकृत्युत्तरत्वरूप आकाङ्क्षा आसत्तिसे अलग सिद्ध है। अतः 'घटम्' से घटकर्मता बोधके प्रति घटपदोत्तर द्वितीयारूप आकाङ्क्षाज्ञान कारण माना जाता है। इसीलिए 'घटः कर्मत्वम् आनयनम् कृतिः' इस पदसमूहसे घटनिष्ठकर्मतानिरूपक आनयनानुकूलकृतिमान्' इस प्रकारका शाब्दबोध नहीं होता किन्तु घटमानयसे होता है। इस प्रकार क्रियाकारक पदोंकी आकाङ्क्षा नहीं होती किन्तु प्रकृत्यव्यवहितोत्तरत्व ही आकाङ्क्षा मानी जाती है।

अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यतामित्यादौ तु पुत्रेण सह राजपदस्य तात्पर्यग्रहसत्त्वात्तेनैवान्वयबोधः पुरुषेण सह तात्पर्यग्रहे तु तेन सहान्वयबोधः स्यादेव ॥

—वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यं परिकीर्तितम् ॥ ८४ ॥

तात्पर्यं निर्वक्ति—वक्तुरिच्छेति । यदि तात्पर्यज्ञानं कारणं न स्यात्तदा सैन्धवमानयेत्यादौ कचिदश्वस्य कचिल्लवणस्य बोध इति न स्यात् । न च तात्पर्यग्राहकप्रकरणादीनां शाब्दबोधे कारणत्वमस्त्विति वाच्यम्, तेषामननुगमात् तात्पर्यज्ञानजनकत्वेन तेषामनुगमे तु तात्पर्यज्ञानमेव लाघवात्कारणमस्तु ।

इत्थं च वेदस्थलेऽपि तात्पर्यज्ञानार्थमीश्वरः कल्प्यते । न च तत्राध्यापकतात्पर्यज्ञानं कारणमिति वाच्यम्, सर्गादावध्यापकाभावात् ।

इसी तरह 'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इस वाक्यमें राज्ञः में षष्ठी विभक्ति है। वह सम्बन्धमें हुई है। सम्बन्ध भी स्वत्व है। यह स्वत्व साकाङ्क्ष है। वह आकाङ्क्षा पूर्वपद पुत्रके साथ अथवा उत्तरपद पुरुषके साथ है ही। इसलिए ऐसे स्थलोंको उभयाकाङ्क्षार्थवाक्य कहते हैं। ऐसे वाक्योंमें वक्ताके तात्पर्यज्ञानके अनुरोधसे शाब्दबोध होता है। यदि वक्ताका तात्पर्य है 'अयमेति पुत्रो राज्ञः', तब राजा पुत्रसे साकाङ्क्ष होगा, यदि वक्ताका तात्पर्य है 'राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' तो राजा पुरुषसे साकाङ्क्ष होगा। यदि राज्ञः का पुत्र तथा पुरुष दोनोंमें अन्वय वक्ताको अभिमत है तो दोनोंमें भी होगा ही।

अब तात्पर्यका निर्वचन करते हैं—

वक्ताने श्रोताको जैसे वाक्यार्थ बोधकी इच्छासे वाक्यका उच्चारण किया है उस इच्छाको तात्पर्य कहते हैं। यदि शाब्दबोधमें वक्ताके तात्पर्यज्ञानको कारण न माने तो 'सैन्धवमानय' इस वाक्यसे भोजनकी बेलामें लावण्यका तथा यात्राका बेलामें 'अश्व' आनयनका बोध न होता!

अब यह शङ्का उठ सकती है कि तात्पर्य ग्राहक प्रकरण आदिको ही शाब्दबोधके प्रति कारण माना जाय तात्पर्यज्ञानको कारण माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है, ठीक तो है किंन्तु प्रकरणादिकोंका एक रूपसे अनुगम नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि 'तात्पर्यज्ञानजनकत्वेन' अनुगम तो किया जा सकता है तो ठीक नहीं, क्योंकि तात्पर्यज्ञानजनकत्वावच्छिन्न तात्पर्यज्ञान जनक प्रति व्यक्ति भिन्न होने से अनन्त होगा जो गौरव ही है। अतः लाघवात् तात्पर्यज्ञानको ही कारण मानना उचित है।

इस प्रकार वेदस्थलमें भी वक्ताके तात्पर्यज्ञानके लिए ईश्वरकी कल्पनाकी जाती है।

न च प्रलय एव नास्ति कुतः सर्गादिरिति वाच्यम्, प्रलयस्यागमेषु प्रतिपाद्यत्वात् । इत्थं च शुकवाक्येऽपि ईश्वरीयतात्पर्यज्ञानं कारणम् । विसंवादिशुकवाक्ये तु शिक्षयितुरेव तात्पर्यज्ञानं कारणम् ।

अन्ये तु नानार्थादौ कचिदेव तात्पर्यज्ञानं कारणम् । तथा च शुक-

---

प्रलयस्येति । **कार्यद्रव्यानधिकरणकार्याधिकरणकालविशेषात्मकखण्डप्रलयस्येत्यर्थः ।**

आगमेष्विति । **'नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमिर्नासीत्तमो ज्योतिरभून्न चान्यत्', इत्याद्यागमेष्वित्यर्थः ।**

ननु वह्निना सिञ्चतीति शुकवाक्ये ईश्वरीयतात्पर्यज्ञानं न कारणं ईश्वरेच्छाया विसंवादित्वापत्तेः । इत्थं च शुकवाक्येऽपीत्यसङ्गतम अत आह विसंवादीति । **ईश्वरेच्छाया विसंवादित्वे ईश्वरस्य सत्यसंकल्पत्वाद्यतेरिति भावः ।**

अन्येत्विति । **क्वचिदित्यस्य विवरणं नानर्थादाविति ।**

वेदेति । **वेदत्वं च शब्दतदुपजीविप्रमाणातिरिक्तप्रमाणजन्यप्रमित्यविषयार्थत्वे सति शब्दजन्यवाक्यार्थज्ञानाजन्यप्रमाणशब्दत्वम् ।**

वेदमें अध्यापकके तात्पर्यका ज्ञान शाब्दबोधमें कारण नहीं माना जाता क्योंकि सृष्टिके प्रारम्भमें ईश्वरके अतिरिक्त कोई दूसरा अध्यापक ही नहीं था। अतः वेदस्थलमें ईश्वके तात्पर्यज्ञानको शाब्दबोधमें कारण माना है।

यदि मीमांसकोंकी भाँति यह कहा जाय कि प्रलय होता ही नहीं फिर सृष्टिका आदिकाल ही असिद्ध है, आदिकाल असिद्ध होनेसे अध्यापक द्वारा अनादि वेदका अनादिकालसे अध्ययन होता रहेगा फिर ईश्वरका तात्पर्य मानना उचित नहीं होगा तो ठीक नहीं क्योंकि 'न दिन था न रात थी, न आकाश था न भूमि थी न तम था, केवल एक ज्योति थी और अन्य कोई वस्तु नहीं थी' इत्यादि अर्थवाले आगमों में प्रलयका प्रतिपादन किया गया है।

इसी प्रकार तोताके वाक्यमें भी ईश्वरीय तात्पर्यज्ञान कारण हैं। यदि शुक भी वह्निना सिञ्चतिकी भाँति असत्य बोलने लग जाय तो सत्यसंकल्प ईश्वरका तात्पर्य नहीं किन्तु शिक्षकके तात्पर्यज्ञानको विसंवादी वाक्य के प्रति कारण माना जायगा।

गङ्गेशोपाध्यायका मत है कि तात्पर्यज्ञान सर्वत्र शाब्दबोधमें कारण नहीं है। किन्तु 'सैन्धवमानव' इत्यादि अनेकार्थक वाक्यमें लवणतात्पर्यसे उच्चरित सैन्धव पदसे अश्वका बोध न हो' अतः कहीं-कहीं नानार्थमें तात्पर्यज्ञानको कारण मानते हैं। किन्तु सैन्धवः प्रमेयः इस वाक्यमें दोनों प्रकारके सैन्धवकी उपस्थिति होनेमें कोई हानि नहीं। अतः यहाँ तात्पर्यज्ञान कारण नहीं मानना चाहिए। इस प्रकार शुकवाक्यमें तात्पर्यज्ञानके बिना भी

वाक्ये विनैव तात्पर्यज्ञानं शाब्दबोधः, वेदे त्वनादिमीमांसापरिशोधिततर्कैरर्थावधारणमित्याहुः ॥ ८४ ॥

इति श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यविरचितायां सिद्धान्तमुक्तावल्यां शब्दखण्डं समाप्तम् ।

मीमांसेति । लाघवज्ञानात्मकस्तर्क इत्यर्थः । कपिञ्जलानालभेतेत्यत्र प्रथमोपस्थितत्वलाघवेन त्रित्वस्यैव बहुवचनार्थतानिश्चय इति भावः ।

ननु परिशोधित इत्यस्य सहकृतार्थकत्वे लाघवानन्तर्गतं सहकृतं तर्कान्तरं किमिति चेदनुमानमेवेति गृहाण । अनुमानाकारश्च कपिञ्जलानिति बहुवचनार्थः त्रित्वं, बहुवचनवाच्यत्वादित्येवं रूपः । तत्र च लाघवज्ञानं सहकारि चतुष्ट्वादीनामपि बहुवचनवाच्यत्वादिति तात्पर्यम् ।

आहुरिति । परे तु गृहीतनानार्थवृत्तिकपदजन्यानुभवत्वस्य तात्पर्यज्ञानजन्यतावच्छेदकत्वकल्पनापेक्षया पदजन्यानुभवत्वस्य तात्पर्यज्ञानजन्यतावच्छेदकत्वकल्पने लाघवात् तात्पर्यसंशयस्थले शाब्धबोधाननुभवाच्च शाब्दबोधमात्रे तात्पर्यज्ञानस्य हेतुत्वं कल्पनीयं ततश्च वेदस्थले तात्पर्यज्ञानाभावेनार्थनिर्णय इति वदन्ति ॥ ८४ ॥

शाब्दत्वं च यां कांचित् शाब्दव्यक्तिमादाय तद्व्यक्तिवृत्तित्वे सति यां कांचित् प्रत्यक्षव्यक्तिमादाय तदवृत्तिमत्त्वम् ।

इति न्यायव्याकरणाचार्य सूर्यनारायण शुक्लविरचित मुक्तावलीमयूख शब्दखण्डं सम्पूर्णम् ।

शाब्दबोध माना जाता है । वेदमें भी अनादि तथा मीमांसासे परिशुद्ध तर्कोंके द्वारा ही अर्थका निश्चय किया गया है अतः वेदवाक्यमें ईश्वरका तात्पर्य माननेकी कोई आवश्यकता नहीं ।

इति न्याय-व्याकरण-साहित्याचार्य श्रीरामगोविन्दशुक्ल रचितमुक्तावली शब्दखण्डकी प्रकाश नामक टीका समाप्त ।

अथ स्मृतिप्रक्रिया

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली ।

पूर्वमनुभवस्मरणभेदाद् बुद्धेर्द्वैविध्यमुक्तम् । तत्रानुभवप्रकारा दर्शिताः । सुगमतया स्मरणं न दर्शितम् । तत्र हि पूर्वानुभवः कारणम् ।

[1]अत्र केचित्—[2]अनुभवत्वेन न कारणत्वं किन्तु ज्ञानत्वेनैव,

अनुभवप्रकारा इति । अनुभवभेदा इत्यर्थः ।

सुगमतयेति । सुगमस्य स्वयमप्यूहितुं शक्यतया दुरूहे एव आदौ सुधियां जिज्ञासोदयादिति भावः । तथा च अवसरसङ्गत्याऽनुभवानन्तरं स्मरणनिरूपणमिति भावः ।

ग्रन्थके आरम्भमें बुद्धिके दो भेद बताये गए । एक अनुभव तथा दूसरा स्मृति । इसके पूर्व तक अनुभवके प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, और शाब्द नामके चारों भेदोंका निरूपण किया गया है । स्मरण (स्मृति) को सुगम होनेके कारण मूलकारिकामें छोड़ दिया गया है फिर भी मुक्तावलीमें अवसर पाकर निरूपण किया जा रहा है । प्रश्न यह है कि स्मृति क्या वस्तु है । यदि अनुभवभिन्नज्ञानको स्मृति कहें तो स्मृतिभिन्नज्ञानत्वरूप अनुभवके लक्षणसे अन्योन्याश्रय होगा । यदि संस्कारजन्यज्ञानत्व मानें तो 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि प्रत्यभिज्ञामें अतिव्याप्ति होगी । यदि संस्कारमात्रजन्यज्ञानं लक्षण माना जाय जो लक्षणमें गौरव होगा । इसलिए स्मृतित्व जाति सिद्धान्त स्थिर करनेके लिए स्मृति और अनुभवका कार्यकारणभाव बताते हैं—**तत्रहि**—स्मरणमें पूर्वानुभवकारण है । 'पूर्वश्चासौ-अनुभवः' व्युत्पत्तिके आधारपर स्मृतिसे पूर्वकालमें उत्पन्न अनुभव ही स्मृतिके प्रति कारण है । अर्थात् स्मृति के समानकालिक अथवा उत्तरकालिक अनुभव स्मृतिके प्रति कारण नहीं है । इस प्रकार 'स्मृतित्वावच्छिन्नं प्रति स्वसमानविषयकानुभवत्वावच्छिन्नः कारणम्' यह कार्यकारणभाव बनता है । संस्कार तो अवान्तर व्यापार है ।

कुछ नैयायिकोंका मत है कि—'स्मृतिमात्रके प्रति अनुभवत्वेन रूपेण अनुभव

---

१. स्मृतित्वावच्छिन्नं प्रति ज्ञानत्वावच्छिन्नं कारणमिति मतं खण्डयितुमुपन्यस्यति अत्रेत्यादिना ।

२. स्मृतित्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणता न अनुभवत्वावच्छिन्ना किन्तु ज्ञानत्वावच्छिन्नैवेत्यर्थः ।

३. प्रतिबन्धकीभूतशिष्यजिज्ञासानिवृत्त्युपलक्षितेऽनन्तरवक्तव्यत्वमवसरः ।

अन्यथा स्मरणानन्तरं स्मरणं न स्यात्—समानप्रकारकस्मरणेन पूर्वसंस्कारस्य विनष्टत्वात्। मन्मते तु तेनैव स्मरणेन संस्कारान्तरद्वारा स्मरणान्तरं जन्यत इत्याहुः।

तत्र—यत्र समूहालम्बनोत्तरं घटपटादीनां क्रमेण स्मरणमजनिष्ट

स्मरणं न स्यादिति। अयं भावः—अनुभवत्वेन संस्कारो जन्यते तद्द्वाराऽनुभवः स्मरणं जनयति, अनुभवस्य तृतीयक्षणे नाशेन स्वरूपतो हेतुत्वासम्भवात्। ततश्च तत् स्मरणं संस्कारं नाशयित्वा संस्कारान्तरमुत्पादयति तेन च संस्कारेण पुनः स्मरणमिति प्रक्रिया। तत्रानुभवस्यैव स्मृतिजनकत्वेऽनुभवजन्यसंस्कारस्य प्रथमस्मरणेन नाशात् द्वाराभावात् स्मरणान्तरं न स्यात्, मम तु स्मरणं स्वजन्यसंस्कारद्वारा स्मरणान्तरं जनयतीत्यदोष इति।

तत्रेति। अयमाशयः—संस्कारस्य न फलनाश्यत्वं किन्तु चरमफलनाश्यत्वमिति अनुभवजन्यसंस्कारस्यानिष्टत्वात्तद्द्वाराऽनुभवस्य स्मरणजनकत्वमिति।

कारण है' यह पक्ष उचित नहीं। क्योंकि स्मरणके अनन्तर स्मरण न होगा। अतः 'स्मृतित्वावच्छिन्नं प्रति ज्ञानत्वावच्छिन्नं कारणम्' यह कार्यकारणभाव मानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि—अनुभवत्वेन रूपेण अनुभवसे संस्कार उत्पन्न होता है। तब अनुभवजन्य संस्कार द्वारा स्मृति उत्पन्न होती है। अनुभव गुण है जो तृतीयक्षणमें नष्ट हो जायगा फिर अनुभव स्वरूपतः स्मृतिका कारण नहीं रह सकेगा। क्योंकि समान प्रकारक स्मरणसे पूर्वसंस्कार विनष्ट हो जाता है। प्रक्रिया तो यह है कि स्मरण संस्कारका नाश करके पुनः संस्कारान्तर उत्पन्न करता है और उस संस्कारसे पुनः स्मरण बनता है। ऐसी स्थितिमें यदि अनुभवसे स्मृतिकी उत्पत्ति अनुभवत्वेन रूपेण मानी जाय तो प्रथम स्मरणके बाद अनुभवके नाश हो जानेसे अनुभवके बिना पुनः-पुनः स्मृति उत्पन्न नहीं होनी चाहिए। किन्तु होती है। अतः हमारे मतसे ज्ञानत्वेन रूपेण कारण मान लेने पर तो कोई दोष नहीं होगा। क्योंकि स्मरणसे संस्कार और उससे स्मरण उत्पन्न होते रहते हैं। संस्कार अनुभवजन्य होते हुए भी अनुभव नहीं है फिर भी ज्ञान है। अतः ज्ञानत्वेन रूपेण अनुभव ज्ञानरूपसे जन्यसंस्कार द्वारा भी स्मृति उत्पन्न होगी तथा स्मृति रूपज्ञानसे जन्य संस्कार द्वारा भी स्मृति उत्पन्न होती रहेगी। किन्तु **यह मत ठीक नहीं।** क्योंकि जहाँ घट, पट, फल, पत्र आदि नानाधर्म्यवगाही समूहावलम्बन प्रत्यक्षात्मक एक अनुभवसे जन्य तत्तत् संस्कारोंसे क्रमशः घट, पट, फल, पत्रोंका स्मरण उत्पन्न होने लगा। उनमें जो, तीनका स्मरण उत्पन्न हुआ तबतक प्रथम स्मरण नष्ट हो गया, चतुर्थ स्मरणके समय द्वितीय स्मरण विनष्ट हो गया। इस प्रकार सकल घट, पट, फल, पत्रोंका स्मरण कभी भी एक कालमें नहीं हो सका। फिर समूहालम्बनप्रत्यक्षात्मक अनुभवसे जन्य संस्कारका फलसे

सकलविषयकस्मरणं तु नाभूत्, तत्र फलस्य संस्कारनाशकत्वाभावात्कालस्य, रोगस्य, चरमफलस्य वा संस्कारनाशकत्वं वाच्यम्, तथा च न क्रमिकस्मरणानुपपत्तिः।

न च पुनःपुनः स्मरणाद् दृढतरसंस्कारानुपपत्तिरिति वाच्यम्, झटित्युद्बोधकसमवधानस्य दार्ढ्यपदार्थत्वात्।

संस्कारनाशकत्वाभावादिति। समानप्रकारकस्मरणस्यैव संस्कारनाशकतया प्रकृते स्मरणस्य समानप्रकारकत्वाभावेन संस्कारनाशकत्वायोगादिति भावः।

कालस्येति। अन्यथा समूहालम्बनसंस्कारस्य नाशो न स्यात्। नचेष्टापत्तिः जन्यभावस्य विनाशित्वनियमात्।

ननु कालादेः कालत्वादिना नाशकत्वे संस्कारमात्रस्य क्षणिकत्वं स्यात् तत्तद्व्यक्तित्वेन नाशकत्वे तु गौरवमत आह—चरमफलस्य वेति। तथा च चरमफले वैजात्यं[1] कल्पयित्वा तेन रूपेण नाशकत्वमिति भावः।

दृढतरसंस्कारेति। यन्मते स्मरणेन संस्कारः तद्द्वारा स्मरणं तेन च संस्कारान्तरमिति तन्मते दृढतरः संस्कारः उत्पत्तुं प्रभवति। यन्मते च अनुभवजन्यसंस्कारेणैव स्मरणपरम्परा तन्मते न दृढतरसंस्कारोत्पत्तिसम्भव इति।

दार्ढ्यपदार्थत्वादिति। तथा च पुनः स्मरणान्न दृढसंस्कारोत्पत्तिः। किन्तु विद्यमानसंस्कारस्यैव पुनः पुनः स्मरणेन झटिति उद्बोधकसमवधानं जायते उद्बुद्धसंस्कारात् स्मरणान्तरमिति भावः।

नाश नहीं हो सकेगा। क्योंकि संस्कारनाशत्वावच्छिन्नके प्रति स्वसमानविषयकस्वजन्य स्मरण ही कारण है। क्रमिक स्मरण तो समूहालम्बनानुभवजन्य संस्कारसमानाविषयक है। तब दीर्घकाल, अथवा दीर्घरोग अथवा चरमफलात्मक स्मरणको संस्कारका नाशक मानना पड़ेगा। ऐसी स्थितिमें क्रमिकस्मरणके प्रति भी एक ही चिरस्थायी संस्कार रहेगा। उसी संस्कारके द्वारा अनुभवत्वेन रूपेण अनुभव भी स्मृतिका कारण माना जायगा। फिर ज्ञानत्वेन रूपेण स्मृति कारण मानना भी व्यर्थ ही है।

यहाँ यह शङ्का उठती है कि जिनके मतमें स्मरणसे संस्कार और संस्कारसे स्मरण है उनके मतमें नये नये दृढतर संस्कार उत्पन्न होते हैं। किन्तु जिनके मतमें एक ही संस्कारसे स्मरणकी परम्परा चलती है उनके मतमें तो दृढतर संस्कारकी उत्पत्ति नहीं होगी। किन्तु

---

१. वैजात्यमिति–संस्कारनाशकारणता किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वात्, इत्याकारकमित्यर्थः। अन्यथा–चरमफलस्य नाशकारणतावच्छेदकस्याननुगतत्वात् नाशकत्वं न स्यादिति भावः।

न च विनिगमनाविरहादेव ज्ञानत्वेनापि जनकत्वं स्यादिति वाच्यम्, विशेषधर्मेण व्यभिचाराज्ञाने सामान्यधर्मेणान्यथासिद्धत्वात्। कथमन्यथा दण्डस्य भ्रमिद्वारा द्रव्यत्वेन रूपेण न कारणत्वम्।

न चान्तरालिकस्मरणानां संस्कारनाशकत्वसंशयाद्व्यभिचारसंशय इति वाच्यम्। अनन्तसंस्कारतन्नाशकल्पनापेक्षया चरमस्मरणस्यैव लाघवात्संस्कारनाशकत्वकल्पनेन व्यभिचारसंशयाभावात्।

इति स्मृतिप्रक्रिया।

आन्तरालिकस्मरणानामिति। अनुभवचरमस्मरणमध्यभाविनां स्मरणानामित्यर्थः। व्यभिचारसंशय इति। अनुभवत्वेन हेतुत्वे व्यभिचारसंशय इत्यर्थः।

इति स्मृतिप्रक्रिया।

यह शंका उचित नहीं। विषयको शीघ्र उद्बुद्ध करानेवाला वस्तुका सन्निधान ही दार्ढ्य-पदार्थ है। वह सन्निधान पुनः-पुनः स्मरणसे झटसे हो ही जाता है।

यदि यह कहा जाय कि अनुभवत्वेन कारण हो या ज्ञानत्वेन किसी विशेष युक्तिके अभावमें दोनोंको कारण मान लिया जाय। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि विशेष धर्मसे कारणता मानने में यदि कोई व्यभिचार दोष न हो तो सामान्य धर्मसे कारणता मानना अन्यथा सिद्ध होनेके कारण अनुचित है। अत एव घटके प्रति दण्डभ्रमि द्वारा दण्डत्वरूपसे कारण सिद्ध हैं फिर भी द्रव्यत्वरूपसे सामान्यधर्म दण्ड कारण नहीं माना जाता। अतः यह सिद्धान्त बनता है कि सामान्यधर्मकी कारणता विशेषधर्मकी कारणताके प्रति अन्यथासिद्ध है।

यदि यह कहा जाय कि अनुभव और अन्तिमस्मरणके बीच होनेवाले स्मरणोंमें भी संस्कार नाशक होनेका संशय होनेसे अनुभवत्वेन कारणमें व्यभिचार संशय तो हो सकता है। किन्तु यह संशय भी ठीक नहीं क्योंकि अनन्त संस्कार तथा उनके नाशकी कल्पनाकी अपेक्षा अन्तिम स्मरणको ही संस्कारका नाशक माननेमें लाघव है और व्यभिचारका संशय भी नहीं है।

इति स्मृति प्रक्रिया।

अथ मनोनिरूपणम्

इदानीं क्रमप्राप्तं मनो निरूपयितुमाह—

साक्षात्कारे सुखादीनां करणं मन उच्यते।

साक्षात्कार इति। एतेन मनसि प्रमाणं दर्शितम्। तथाहि—सुखसाक्षात्कारः सकरणकः जन्यसाक्षात्कारत्वात् चाक्षुषसाक्षात्कारवदित्यनुमानेन मनसः करणत्वसिद्धिः।

नचैवं दुःखादिसाक्षात्काराणामपि करणान्तराणि स्युरिति वाच्यम्, लाघवादेकस्यैव तादृशसकलसाक्षात्कारकरणतया सिद्धेः। एवं सुखादीनामसमवायिकारणसंयोगाश्रयतया मनसः सिद्धिर्बोद्धव्या।

जन्यसाक्षात्कारत्वादिति। ईश्वरीयसाक्षात्कारे व्यभिचारवारणाय जन्येति। तादृशेति। आत्मवृत्तीत्यर्थः। असमवायिकारणसंयोगेति। दुःखं सासमवायिकारणकं भावकार्यत्वात् घटवत् इत्यनुमानेन दुःखासमवायिकारणसंयोगसिद्धौ दुःखासमवायिकारणसंयोगः क्वचिदाश्रितः संयोगत्वादित्यनुमानेन मनसः सिद्धिरित्यर्थः।

ग्रन्थारम्भके द्रव्यपदार्थकी व्याख्यामें आत्मनिरूपणके अवसर पर उपस्थित बुद्धिका निरूपण कर चुकनेके वाद क्रम प्राप्त मनका निरूपण करते हैं। सुख, दुःख, इच्छा और द्वेष आदि आत्मगुणोंके प्रत्यक्षमें मन करण (इन्द्रिय) है॥ ८४½॥

इस कथनसे मनकी सत्ता मान ली गई। जैसे-सुखका प्रत्यक्ष किसी करण (साधन) से है क्योंकि सुखसाक्षात्कार जन्यसाक्षात्कार है। जैसे चाक्षुष प्रत्यक्ष इस अनुमानसे मनका कारण होना सिद्ध हो जाता है। ईश्वरीय साक्षात्कारमें अतिव्याप्ति वारणके लिए हेतुदलमें 'जन्य' पद दिया।

यह शंका उठती है कि इसी प्रकार दुःख प्रत्यक्षके लिए किसी अन्य करणकी कल्पना क्यों नहीं की जाती। ठीक है। जब मनको करण मान लेने पर वह आत्मवृत्ति सकल प्रत्यक्षका करण सिद्ध हो जाता है तब एक करण माननेमें लाघव होनेसे अनेक करण मानना व्यर्थ है। इसी प्रकार सुखादिके असमवायिकारण संयोगका आश्रय होनेसे मनकी सिद्धि होती हैं। जैसे—'सुखं सासमवायिकारणकं भावकार्यत्वात्' घटवत् इस अनुमानसे सुखासमवायिकारण संयोगकी सिद्धि हो जाने पर 'सुखासमवायिकारणसंयोगः क्वचिदाश्रितः द्विष्ठसंयोगत्वात् विभागवत्' इस अनुमानसे संयोगाश्रयके रूपमें मनकी सिद्धि होती है।

अयौगपद्याज्ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते ॥ ८५ ॥

तत्र मनसोऽणुत्वे प्रमाणमाह—अयौगपद्यादिति । ज्ञानानां—चाक्षुषरासनादीनाम्, अयौगपद्यम्—एककालोत्पत्तिर्नास्तीत्यनुभवसिद्धम् । तत्र नानेन्द्रियाणां सत्यपि विषयसंनिधाने यत्सम्बन्धादेकेनेन्द्रियेण ज्ञानमुत्पद्यते, यदसम्बन्धाच्च परैर्ज्ञानं नोत्पद्यते, तन्मनः । विभुत्वे चासंनिधानं न सम्भवतीति न विभु मनः ।

न च तदानीमदृष्टविशेषोद्बोधकविलम्बादेव तज्ज्ञानविलम्ब इति वाच्यम्, तथा सति चक्षुरादीनामप्यकल्पनापत्तेः । न च दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ नानावधानभाजां च कथमेकदाऽनेकेन्द्रियजन्यं ज्ञानमिति वाच्यम्, मनसोऽतिलाघवात्त्वरया नानेन्द्रियसम्बन्धान्नानाज्ञानोत्पत्त्या उत्पलशतपत्रभेदादिव यौगपद्यप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वात् ।

दीर्घशष्कुलीभक्षणेति । **तत्र घ्राणजरासनचाक्षुषज्ञानानि युगपज्जायन्ते ।**

भ्रान्तत्वादिति । **अव्यवहितकालोत्पत्तिकत्वस्य दोषत्वादिति भावः ।**

वह मन परमाणुरूप है । उसकी परमाणुरूपतामें प्रमाण देते हैं कि—चाक्षुष, रासन, घ्राणज, स्पार्शन आदि प्रत्यक्षात्मकज्ञानोंकी एककालमें उत्पत्ति न होनेसे मनको परमाणुरूपमें माना गया है ॥ ८५ ॥

चाक्षुष आदि ज्ञानोंकी एक कालमें उत्पत्ति नहीं होती यह तो अनुभव सिद्ध है । उनमें एक कालमें अनेक इन्द्रियोंसे ग्राह्यविषयोंके सन्निधान रहने पर भी जिसके सम्बन्धसे एक इन्द्रियको विषयका ज्ञान उत्पन्न होता है और जिसके असम्बन्धसे अन्य इन्द्रियोंसे ज्ञान नहीं उत्पन्न होता वह इन्द्रियोंसे सम्बद्ध होनेवाला मन है । यदि मन को विभु मानलें तो सदा सब इन्द्रियोंसे असन्निधान नहीं बनेगा । फिर एक कालमें अनेक इन्द्रियोंसे अनेक ज्ञान होने लगेगें जो अनुभव विरुद्ध हैं । अतः मन विभु नहीं माना गया है ।

यहाँ यह भी कह सकते हैं कि चाक्षुष प्रत्यक्ष वेलामें घ्राण आदिसे विभु मनके संयोग रहने पर भी घ्राणज ज्ञानका उद्बोधक अदृष्टविशेष (धर्म अथवा अधर्म) की निमित्तकारणरूप सामग्रीके विलम्बसे ही घ्राणजज्ञानमें विलम्ब होता है । किन्तु यह कहना ठीक नहीं । क्योंकि अदृष्ट विशेषसे ही जब विभु मन विषयोंको ग्रहण करेगा तब चक्षु आदि इन्द्रिय मानना भी व्यर्थ होने लगेगा ।

न च मनसः सङ्कोचविकासशालित्वादुभयोपपत्तिरस्त्विति वाच्यम्, नानावयवतन्नाशादिकल्पने गौरवाल्लाघवान्निरवयवस्याणुरूपस्यैव मनसः कल्पनादिति संक्षेपः ॥ ८५ ॥ इति मनो निरूपणम् ।

इति द्रव्यपदार्थो व्याख्यातः ।

उभयोपपत्तिरिति । **मनसः सङ्कोचे एकेन्द्रियमात्रसम्बन्धादेकमेव ज्ञानं विकासे तु नानेन्द्रियैर्मनसः सम्बन्धाद्युगपन्नानाज्ञानानामुत्पत्तिरिति भावः ।**

यद्यपि नानेन्द्रियैर्मनसः सन्निकर्षकाले चाक्षुषाद्युत्पत्तिकाले रासनाद्यनुत्पादस्य रासनादिकं प्रति चाक्षुषसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वेनैवोपपत्तेर्मनसो विभुत्वे बाधकाभावस्तथापि तथा प्रतिबन्धकभावकल्पने गौरवान्मनसोऽणुत्वमेवाभ्युपेयमिति ।

न च त्वङ्मनोयोगस्य ज्ञानमात्रहेतुत्वाच्चाक्षुषसामग्रीकाले स्पार्शनसामग्र्या नियमतः सत्त्वात् स्पार्शनापत्तिर्मनसोऽणुत्वपक्षे दुर्वारेति वाच्यम् । अनन्यगत्या स्पार्शनं प्रति चाक्षुषसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वस्वीकारात् । एवमपि रासनप्रत्यक्षे चाक्षुषसामग्रीप्रतिबन्धकत्वाकल्पनप्रयुक्तलाघवस्याणुत्वपक्षे निष्प्रत्यूहत्वादिति तत्त्वम् ॥

इति मनोनिरूपणम् ।

यहाँ यह शङ्का होती है कि दीर्घशष्कुली (पूरी जो मटर आदिके पूरको भरकर बनायी जाती है) के भोजन करते समय अथवा शतावधानी पुरुषोंको एक कालमें अनेक इन्द्रियोंसे जन्यज्ञान कैसे होता है ? ठीक है, परमाणुमन मानने वालोंके मतमें मन अतित्वराके साथ अनेक इन्द्रियोंसे सम्बद्ध होता रहेगा और उसीसे अनेक ज्ञान क्रमशः बन जायगें । जो क्रमिक होने पर भी शतपत्र कमलके भेदनकी भाँति शीघ्र होगें । शीघ्रताके अलक्षित होनेसे एककालमें प्रतीतिका भ्रम होता है ।

यदि कहें कि मन संकोच, विकासशील है वह जब संकुचित रहता है तब एक इन्द्रियमात्रसे सम्बद्ध होकर एक ज्ञान उत्पन्न करता है जब विकसित रहता है तब अनेक ज्ञान उत्पन्न करता है । इस प्रकार एक ज्ञान और अनेक ज्ञान दोनों पक्षोंकी सिद्धि हो जाती है । तो ठीक नहीं । क्योंकि मनको संकोच विकासशील मान लेने पर सावयव मानना पड़ेगा । संकोचमें अवयवोंका नाश और विकासमें अवयवोंकी वृद्धि माननी पड़ेगी जो गौरव है । अतः लाघवको ध्यानमें रखकर मनको अणुरूप मान लेना ही उचित है' यह संक्षेप है ।

द्रव्यनिरूपण समाप्त ।

अथ गुणनिरूपणम्

द्रव्यं निरूप्य गुणान्निरूपयति—

अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः ।

अथेत्यादिना । गुणत्वजातौ किं मानमिति चेत्, द्रव्यकर्मभिन्नेसामान्यवति या कारणता सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना–निरवच्छिन्नकारणताया असम्भवात् ! न हि रूपत्वादिकं सत्ता वा तत्रावच्छेदिकान्यूनाधिकदेशवृत्तित्वात् । अतश्चतुर्विंशत्यनुगतं किञ्चिद्वाच्यं, तदेव गुणत्वमिति ।

अवसरसङ्गतिमभिप्रेत्याह—द्रव्यं निरूप्येति । तस्मिन्निरूपिते प्रातिबन्धकीभूतशिष्यजिज्ञासानिवृत्तेरिति भावः ।

ननु गुणत्वस्य रूपादिषु स्वसमवेतसमवायसम्बन्धेन प्रत्यक्षसम्भवादनुमानप्रमाणोपन्यासोऽयुक्त इति चेन्न, अतीन्द्रियरूपादौ तत्प्रत्यक्षासम्भवेन तत्साधारण्यं गुणत्वस्य न घटते इत्यनुमानोपन्यास इत्याशयात् ।

गुणत्वमिति । वस्तुतस्तु पारिमाण्डल्यस्य क्वाप्यकारणतया गुणत्वस्य तत्रापि सत्त्वेन तादृशकारणतातिरिक्तवृत्तित्वेन तादृशकारणतावच्छेदकतया न गुणत्वजातिसिद्धिसम्भवः । किन्तु गुणपदशक्यतावच्छेदकतया तत्सिद्धिरिति बोध्यम् ।

इस प्रकार द्रव्यका निरूपण कर लेनेके बाद अवसर प्राप्त गुणोंका निरूपण करते हैं । गुणोंको द्रव्याश्रित, निर्गुण तथा निष्क्रिय जानना चाहिए ॥ ८५½ ॥

यहाँ 'गुणः' पदका गुणत्वजातिमन्तः अर्थ करना चाहिए । फिर गुणत्व क्या है यह प्रश्न उठता है । यदि कहें कि वह जाति है । तब प्रश्न उठता है कि गुणत्व जातिमें क्या प्रमाण है ? यदि स्व समवेत समवाय सम्बन्धसे (स्व घट तत्समवेत गुण तत्समवायगुणत्वमें) गुणत्वमें प्रत्यक्षप्रमाण ही माना जाय तो ठीक नहीं क्योंकि अतीन्द्रिय रूपादिमें गुणत्वका प्रत्यक्ष बन नहीं सकेगा । अतः अनुमान प्रमाणका उपस्थापन करते हैं **इदम्** । अर्थात् निर्दिश्यमान अनुमान ही प्रमाण है । **अनुमानाकार**—द्रव्यकर्मभिन्ने सामान्यवति या कारणता सा, किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्त्वात्, या या कारणता सा सा किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना, घटनिष्ठकार्यतानिरूपित दण्डनिष्ठकारणतावत् । अर्थात् द्रव्य और कर्मत भिन्न जातिमान पदार्थमें जो कारणता है वह किसी धर्मसे युक्त है क्योंकि कोई भी कारणता निरवच्छिन्न नहीं होती । रूपत्व आदि अथवा सत्ता अवच्छेदक नहीं हो सकती । क्योंकि रूपत्व आदि धर्म न्यूनदेशवृत्ति है तथा सत्ता अधिक देशवृत्तिधर्म है । अतः चौबीस गुणोंमें

द्रव्याश्रिता इति यद्यपि द्रव्याश्रितत्वं न लक्षणं कर्मादावतिव्याप्तेः, तथापि द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदकसत्ताभिन्नजातिमत्त्वं तदर्थः । भवति हि गुणत्वं द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदकं तद्वत्ता च गुणानामिति । द्रव्यत्वं कर्मत्वं वा न द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदकं, गगनादौ द्रव्यकर्मणोरभावात्, द्रव्यत्वत्वं सामान्यत्वादिकं वा न जातिरिति तद्व्युदासः ।

द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदकेति । द्रव्यत्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेदकेत्यर्थः । द्रव्यत्वाधिकरणं घटादिकं तन्निष्ठोऽभावः गुणो नास्ति सत्तावान्नास्तीति न भवति गुणस्य सत्तावतश्च तत्र वृत्तेः। किन्तूदासीन एवाभावस्तथा तत्प्रतियोगितावच्छेदकं पटत्वादिकमनवच्छेदकं गुणत्वं सत्ता च तत्र सत्तायां सत्ताभिन्नत्वाभावात् द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदकसत्ताभिन्नगुणत्वजातिमत्त्वं गुणे इति समन्वयः ।

रहनेवाला एक अनुगत धर्म होना चाहिए । जो धर्म अनुगतरूपमें मान्य होगा वह ही गुणत्व है ।

वस्तुतस्तु—पारिमाण्डल्य (अणुपरिमाण) कहीं भी कारण नहीं होता किन्तु गुणत्व-धर्म उसमें भी रहेगा ही । अतः कारणतासे अतिरिक्तवृत्ति होनेके कारण गुणत्व जातिकी सिद्धि सम्भव नहीं है । अतः गुणपदशक्यतावच्छेदकत्वेन गुणत्वजातिकी सिद्धि मानी जाती है ।

द्रव्याश्रिताः—यद्यपि द्रव्याश्रितत्वं गुणका लक्षण नहीं बन सकेगा क्योंकि कर्मके भी द्रव्याश्रित होनेसे अतिव्याप्ति होगी । तथापि द्रव्याश्रिताः पदका **'द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदकसत्ताभिन्नजातिमत्त्व'** अर्थ मानते हैं । जो गुणमें है । इस लक्षणमें व्यापकताका निवेश है । अतः निष्कर्ष यह है कि **'द्रव्यत्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितानवच्छेदकसत्ताभिन्नजातिमत्त्वं गुणस्य लक्षणम्'** द्रव्यत्वके अधिकरण घटमें जो अभाव वह गुणो नास्ति, सत्तावान् नास्ति नहीं हो सकता क्योंकि घटमें गुण और सत्तावत्व है किन्तु कोई अन्य अभाव होगा । उस अभावका प्रतियोगी कोई उदासीन प्रतियोगिताव-च्छेदक उदासीनवृत्ति धर्म अनवच्छेदक गुणत्व और सत्ता होगी । सत्तामें सत्ताभेद रहेगा नहीं परिशेषात् सत्ताभिन्न गुणत्वजाति होगी तादृश जाति मान गुण होगा । इस प्रकार द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदक गुणत्व है गुणत्ववान गुण ही होगा, द्रव्यत्व अथवा कर्मत्व द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदक नहीं है । क्योंकि—गगन (आकाश) काल, दिशा तथा आत्मामें समवाय सम्बन्धसे द्रव्य और कर्म नहीं रहता । अतः द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदक द्रव्यत्व अथवा कर्मत्वको मानकर द्रव्य अथवा कर्म (क्रिया) में लक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं हुई । यद्यपि द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदक द्रव्यत्वसत्तात्व है वह द्रव्यत्व और सत्तामें होनेसे अतिव्याप्ति होगी । अतः लक्षणमें जातिपदका निवेश किया ।

निर्गुणा इति । यद्यपि निर्गुणत्वं कर्मादावपि, तथापि सामान्यवत्त्वे सति कर्मान्यत्वे च सति निर्गुणत्वं बोध्यम् । जात्यादीनां न सामान्यवत्त्वं, कर्मणो न कर्मान्यत्वं, द्रव्यस्य न निर्गुणत्वमिति तत्र नातिव्याप्तिः । 'निष्क्रिया' इति स्वरूपकथनं न तु लक्षणं गगनादावतिव्याप्तेः ।

रूपं रसः स्पर्शगन्धौ परत्वमपरत्वकम् ॥ ८६ ॥

द्रवत्वस्नेहवेगाश्च मता मूर्तगुणा अमी ।

वेगा इति । वेगेन स्थितिस्थापकोऽप्युपलक्षणीयः । मूर्तगुणा इति । अमूर्तेषु न वर्तन्त इत्यर्थः । लक्षणं तु तावदन्यान्यत्वम् । एवमग्रेऽपि ।

उपलक्षणीय इति । **वेगपदं भावनान्यसंस्कारपरमिति भावः । वेगश्चेति चकारेण गुरुत्वस्य संग्रहः ।**

ननु मूर्तगुणत्वं मूर्तवृत्तिगुणत्वं तच्च संख्यादावतिव्याप्तमत आह—अमूर्तेषु न वर्तन्त इति ।

तावदन्यान्यत्वमिति । **तावत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्वम् इत्यर्थः । एतदन्यतमत्वमिति यावत् ॥ ८६ ॥**

निर्गुणाः—यद्यपि 'निर्गुणत्वं' यह गुणका लक्षण नहीं है क्योंकि कर्म आदिमें निर्गुणत्व होनेसे अतिव्याप्ति होगी। तथापि **'सामान्यवत्त्वे सति कर्मान्यत्वे च सति निर्गुणत्वं गुणस्य लक्षणम्'** कहना पड़ेगा । कर्मान्यत्व और निर्गुणत्व जाति आदि (सामान्य विशेष-समवाय-अभाव) में है। अतः अतिव्याप्ति वारणके लिए सामान्यवत्त्वे सति पद दिया । सामान्य आदिमें सामान्य (जाति) नहीं रहता अतः अतिव्याप्ति नहीं हुई । सामान्यवत्व और निर्गुणत्व कर्ममें भी है। अंतः अतिव्याप्तिवारणके लिए कर्मान्यत्वे सति पद दिया । सामान्यवत्व और कर्मान्यत्व द्रव्यमें भी है। अतः अतिव्याप्ति वारणके लिए निर्गुणत्व पद दिया ।

निष्क्रियाः—यदि निष्क्रियाः का अर्थ क्रियाऽनधिकरणत्व अर्थात् क्रियाका अधिकरण न होना अर्थ किया जाय तो आकाशमें भी क्रियाका अधिकरण नहीं होनेसे अतिव्याप्ति होगी। अतः यह लक्षण नहीं किन्तु स्वरूप कथन है। अर्थात् गुणमें क्रिया नहीं होती इस अर्थको स्पष्ट बतानेके लिए निष्क्रियाः पद है ।

वस्तुतः—निष्क्रियपदका कर्मवदवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्व अर्थ पूर्वप्रकरणमें

---

१. समन्वयस्तु—यावन्त रूपादयो दशमूर्तगुणास्तावत्त्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदावच्छिन्नं मूर्तेतरसकलगुणादिः तत्प्रतियोगिताक भेदवत्वं मूर्तगुणेषु इति ।

धर्माधर्मौ भावना च शब्दो बुद्ध्यादयोऽपि च ॥ ८७ ॥

एतेऽमूर्तगुणाः सर्वे विद्वद्भिः परिकीर्तिताः ।

अमूर्तगुणा इति । [1]मूर्तेषु न वर्तन्त इत्यर्थः ।

संख्यादयो विभागान्ता उभयेषां गुणा मताः ॥ ८८ ॥

उभयेषामिति । मूर्तामूर्तगुणा इत्यर्थः ॥ ८६–८७–८८ ॥

आकाशमें अतिव्याप्ति वारणके लिए किया गया है। अतः यह भी लक्षण ही माना जाना चाहिए ।

रूप, रस, स्पर्श, गन्ध, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह और वेग ये नव गुण **'मूर्तगुण'** कहे जाते हैं ॥ ८६½ ॥

मूलमें वेगपद, भावनासे अन्य संस्कारके लिए है। अतः उससे स्थितिस्थापकका भी संग्रह होता है। वेगाश्चमें चकारसे गुरुत्वका भी संग्रह करना चाहिए। इस प्रकार कुल ११ मूर्तगुण होते हैं। यदि मूर्तगुणाः पदका मूर्तमें रहनेवाले गुण यह अर्थ करें तो संख्यामें अतिव्याप्ति होगी । अतः मूर्तगुणाः का अर्थ है कि जो गुण अमूर्तोंमें नहीं रहते। लक्षण तो है **'तावदन्यान्यत्वं मूर्तगुणत्वम्'** अर्थात् तावत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकभेदावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्वम् । **समन्वय** जितने रूपादिक ग्यारह मूर्तगुण हैं उतने समस्त हैं प्रतियोगी जिस भेदके उससे अवच्छिन्न (विशिष्ट) मूर्तेतर सकलगुण हैं तत्प्रतियोगिताक-भेदवत्व मूर्तगुणोंमें है । इसी प्रकार आगेके लक्षणोंमें समझना चाहिए ॥ ८६½ ॥

विद्वानोंने धर्म, अधर्म, भावना, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्नको **अमूर्तगुण** कहा है ॥ ८७½ ॥

अमूर्तत्व है परममहत्परिमाणवत्व । आकाश, काल, दिक् और आत्मा ये अमूर्त हैं। यदि अमूर्तगुणाः पदका अमूर्तमें रहनेवाले गुण यह अर्थ किया जाय तो आकाशगत एकत्वमें भी अमूर्त = आकाशमें रहनेवाले गुण होनेसे अतिव्याप्ति होगी। अतः अमूर्तगुणाः का अर्थ है कि जो गुण मूर्तमें न रहनेवाले हैं ॥ ८७ ॥

संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये मूर्त और अमूर्त दोनोंमें रहनेवाले **उभयवृत्ति गुण** माने जाते हैं ॥ ८८ ॥

संख्यादि विभागान्त पाँच गुणोंका मूर्तामूर्तोभयवृत्तिगुणत्व-साधर्म्य है ॥ ८८ ॥

---

१. ननु अमूर्तगुणत्वं अमूर्तवृत्तिगुणत्वं, तच्च गगनादिगतैकत्वेऽतिव्याप्तमत आह—मूर्तेषु इत्यादि । तथाच-धर्माधर्मादिदशामूर्तगुणत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्वं अमूर्तगुणत्वम् इति लक्षणं निष्पन्नम् ।

संयोगश्च विभागश्च संख्या द्वित्वादिकास्तथा ।
द्विपृथक्त्वादयस्तद्वदेतेऽनेकाश्रिता गुणाः ॥ ८९ ॥

अनेकाश्रिता इति । संयोगविभागद्वित्वादीनि द्विवृत्तीनि । त्रित्वचतुष्ट्वादिकं त्रिचतुरादिवृत्तीति बोध्यम् ॥ ८९ ॥

अतः शेषगुणाः सर्वे मता एकैकवृत्तयः ।

अत इति । रूपरसगन्धस्पर्शैकत्वपरिमाणैकपृथक्त्वपरत्वापरत्वबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नगुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारादृष्टशब्दा इत्यर्थः ।

बुद्ध्यादिषट्कं स्पर्शान्ताः स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः ॥ ९० ॥
अदृष्टभावनाशब्दा अमी वैशेषिका गुणाः ।

द्विपृथक्त्वमिति । द्वयोः पृथक्त्वं, घटात् दण्डपटौ पृथक्' इति प्रतीतेर्द्विपृथक्त्वं विषयः । नन्वनेकाश्रितत्वं संयोगादावव्याप्तमनेकपदस्य बहुत्वविशिष्टे शक्तेरत आह—संयोगविभागद्वित्वेति ॥ ८९ ॥

संयोग, विभाग, द्वित्व, त्रित्व आदि संख्यायोंमें, इसी तरह द्विपृथक्त्व, त्रिपृथक्त्वमें अनेकाश्रितत्व साधर्म्य है ॥ ८९ ॥

यद्यपि अनेकाश्रितत्व संयोगविभाग आदिमें नहीं है क्योंकि अनेक पदकी बहुत्वविशिष्टमें शक्ति है तथापि यहाँ एक से अधिक के लिए ही अनेक पद प्रयुक्त है। अतः दो पदार्थों मे रहने वाले संयोग और विभागोंमें भी अनेकाश्रितत्व साधर्म्य है। इसी प्रकार दोनों पृथक्त्वका विषय है। 'घटात् दण्डपटौ पृथक्' यहाँ दोका पृथक्त्व द्विपृथक्त्व, तीनका पृथक्त्व त्रिपृथक्त्व कहा जाता है ॥ ८९ ॥

संयोग, विभाग, द्वित्वादि संख्याओं और द्विपृथक्त्व आदि से अन्य अवशिष्ट सब गुण एक-एक पदार्थमें रहते हैं ऐसा माना गया है ॥ ८९½ ॥

वे अवशिष्टगुण निम्नलिखित हैं—

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, एकत्व, परिमाण, एकपृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट और शब्द ॥ ८९½ ॥

बुद्धिसे छः (बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न,) आरम्भसे स्पर्श तक (रूप, रस, गन्ध और स्पर्श,) स्नेह, सांसिद्धिकद्रवत्व, अदृष्ट, भावना और शब्द ये विशेषगुण कहे जाते हैं ॥ ९०½ ॥

बुद्ध्यादि = बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, स्पर्शान्ताः = रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, द्रव = द्रवत्व, वैशेषिकाः = विशेषा एव वैशेषिकाः विनयादिगण पठित होनेके कारण

बुद्ध्यादीति । बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्ना इत्यर्थः । स्पर्शान्ताः—रूपरसगन्धस्पर्शा इत्यर्थः । द्रवो—द्रवत्वम् । वैशेषिकाः—विशेषा एव वैशेषिकाः । स्वार्थे ठक् । विशेषगुणा इत्यर्थः ।

स्वार्थे ठगिति विनयादित्वादिति शेषः । विशेषगुणत्वं च भावनान्यो यो वायुवृत्तिवृत्तिस्पर्शावृत्तिधर्मसमवायी, तदन्यत्वे सति गुरुत्वाजलद्रवत्वान्यगुणत्वम् । तथा हि वायुवृत्तयः स्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वसंस्काराः तद्वृत्तयः स्पर्शावृत्तयश्च धर्माः संख्यात्वादयः तत्समवायिनः संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वसंस्काराः समवायिनि भावनान्यत्वविशेषणाद् भावनाभिन्नः संस्कार इह ग्राह्यः, तदन्यत्वमेतद्व्यतिरिक्तेषु रूपादिषु इति समन्वयः । गुरुत्वे नैमित्तिकद्रवत्वे चातिव्याप्तिवारणाय गुरुत्वाजलद्रवत्वान्यगुणत्वमिति विशेष्यदलम् । जात्यादावतिव्याप्तिवारणाय गुणत्वेति । सांसिद्धिकद्रवत्वसंग्रहायाह अजलेति । संख्यादिवारणाय सत्यन्तम् । भावनायामव्याप्तिवारणायाद्यमन्यान्तं सत्यन्तघटकसमवायिविशेषणम् । सत्तादिकमादायासम्भववारणाय स्पर्शसंग्रहाय च स्पर्शावृत्तीति । यद्वा विशेषगुणत्वं द्रव्यविभाजकोपाधिद्वयसमानाधिकरणावृत्तिद्रव्यकर्मावृत्तिजातिमत्त्वम् । द्रव्यस्य विभाजकमुपाधिद्वयं पृथिवीत्वजलत्वादितत्समानाधिकरणः संयोगसंख्यादिस्तत्रावृत्तिरविद्यमाना तथा द्रव्यकर्मणोरप्यविद्यमाना या रूपादिकतिपयगुणेषु विद्यमाना जातिस्तादृशजातिमत्त्वं पूर्वोक्तविशेषगुणेष्विति समन्वयः ।

सामान्यगुणत्वं च रूपस्पर्शान्यत्वे सति द्रव्यविभाजकोपाधिव्याप्यतावच्छेदकसंयोगविभागवेगद्रवत्वावृत्तिजातिशून्यगुणत्वम् । द्रव्यविभाजकोपाधिः पृथिवीत्वादिः तद्व्याप्यतावच्छेदकं च गन्धत्वादि तच्छून्यत्वस्य संख्यादौ सत्त्वाल्लक्षणसमन्वयः । जलीयशुक्लरूपे, वायोरनुष्णाशीतस्पर्शे, चातिव्याप्तिवारणाय सत्यन्तम् । कर्मादौ तद्वारणाय विशेष्यम् । पृथिवीत्वादिव्याप्यतावच्छेदकतत्तत् संख्यादिशून्यत्वस्य तत्तत् संख्यायामभावादव्याप्तिवारणाय जातिपदम् । शब्दविशेषजनकता-

---

'विनयादिभ्यष्ठक्' ५।४।३४। सूत्रसे स्वार्थमें ठक् प्रत्यय है। अतः 'विशेषगुणाः' अर्थ है। जो भावनासे अन्य वायुवृत्ति वृत्ति और स्पर्शमें अवृत्ति धर्मका समवायी उससे अन्य हो तथा गुरुत्व और अजलद्रवत्वसे अन्य गुण हो उसे विशेषगुण कहते हैं। जैसे—वायुवृत्ति गुण हैं स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और संस्कार, इनमें वृत्ति और स्पर्शमें अवृत्ति धर्म संख्यात्वादि, तत्समवायी, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और भावना से भिन्न संस्कार तदन्यत्व रूपादिमें है। इस प्रकार लक्षणका समन्वय हुआ ॥ ९०½ ॥

संख्यादिरपरत्वान्तो द्रवोऽसांसिद्धिकस्तथा ॥ ९१ ॥
गुरुत्ववेगौ सामान्यगुणा एते प्रकीर्तिताः ।

संख्येति । संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वानीत्यर्थः ।

संख्यादिरपरत्वान्तो द्रवत्वं स्नेह एव च ॥ ९२ ॥
एते तु द्वीन्द्रियग्राह्याः,

द्वीन्द्रियेति । चक्षुषा त्वचापि ग्रहणयोग्यत्वात् ।

अथ स्पर्शान्तशब्दकाः ।
बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्याः,

वच्छेदकजात्यवच्छिन्नकठिनावयवद्वयविभागे, तेजोवेगातिशये, अत्यन्ताग्निसंयोगानाश्यतावच्छेदकवैजात्यावच्छिन्नघृतादिवृत्तिद्रवत्वे चाव्याप्तिवारणायावृत्त्यन्तं जातिविशेषणमिति ध्येयम् ।

स्नेह एव चेति मूले—**स्नेहपदं वेगस्याप्युपलक्षणम् ॥ ९०-९२ ॥**

संख्यासे लेकर अपरत्व तक तथा नैमित्तिकद्रवत्व, गुरुत्व, वेग ये सामान्यगुण कहे गये हैं ॥ ९१½ ॥

संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व ये संख्यादिरपरत्वान्त हैं। रूप और स्पर्शसे अन्य द्रव्यविभाजक उपाधि (पृथिवीत्वादि) का व्याप्यतावच्छेदक (गन्धत्वादि) अथच संयोगविभागवेगद्रवत्वावृत्तिजातिशून्यगुणत्व संख्यामें होनेसे सामान्यगुणका लक्षण समन्वय होता है ॥ ९१½ ॥

संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह और वेग इनमें द्वीन्द्रियग्राह्यत्व साधर्म्य है । अर्थात् इनका नेत्र तथा त्वक् दो इन्द्रियोंसे ग्रहण हो सकता है ॥ ९२⅓ ।

इस प्रकार चक्षुस्त्वगुभयेन्द्रियग्राह्यतावच्छेदकजातिमत्त्वम् यह लक्षणार्थ है । अन्यथा प्रभाभित्ति संयोग और परमाणुगत संख्यामें द्वीन्द्रियग्राह्यत्व न होनेसे अव्याप्ति होती। ऐसा अर्थ करदेने पर संयोगत्व और संख्यात्व उभयेन्द्रियग्राह्यतावच्छेदक जाति होनेके कारण प्रभाभित्ति संयोगमें भी है । अतः अव्याप्ति नहीं हुई । मूलमें स्नेहपदसे वेगका भी ग्रहण होता है ॥ ९२½ ॥

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द इनमें एक-एक बाह्य इन्द्रियसे ग्राह्य होना साधर्म्य है ॥
एकेन्द्रियग्राह्यत्वका अर्थ है एकेन्द्रियग्रहणयोग्यत्व । अतः अतीन्द्रिय रूपादिमें इन्द्रियग्राह्यत्व न रहने पर भी अतिव्याप्ति नहीं है ॥ ९२¾ ॥

बाह्येति । रूपादीनां चक्षुरादिग्राह्यत्वात् ।

गुरुत्वादृष्टभावनाः ॥ ९३ ॥
अतीन्द्रिया, विभूनां तु ये स्युर्वैशेषिका गुणाः ।
अकारणगुणोत्पन्ना एते तु परिकीर्तिताः ॥ ९४ ॥

विभूनामिति । बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषयत्नधर्माधर्मभावनाशब्दा इत्यर्थः । अकारणेति । कारणगुणेन कार्ये ये गुणा उत्पद्यन्ते ते कारणगुणपूर्वका रूपादयो वक्ष्यन्ते, बुद्ध्यादयस्तु न तादृशा आत्मादेः कारणाभावात् ॥ ९०-९४ ॥

अपाकजास्तु[1] स्पर्शान्ता द्रवत्वं च तथाविधम् ।
स्नेहवेगगुरुत्वैकपृथक्त्वपरिमाणकम् ॥ ९४ ॥
स्थितिस्थापक इत्येते स्युः कारणगुणोद्भवाः ।

अपाकजास्त्विति । पाकजरूपादीनां कारणगुणपूर्वकत्वाभावात् अपाकजा इत्युक्तम् । तथाविधम्—अपाकजम् । तथैकत्वमपि बोध्यम् ।

एकेन्द्रियग्राह्यत्वं । **एकेन्द्रियग्रहणयोग्यत्वमित्यर्थः । तेनातीन्द्रियरूपादौ इन्द्रियग्राह्यत्वाभावेऽपि नाव्याप्तिः ।** स्पर्शान्ताः । **रूपरसगन्धस्पर्शाः ॥ ९३-९५ ॥**

गुरुत्व, अदृष्ट और भावना इनमें अतीन्द्रियत्व साधर्म्य है ॥ ९३½ ॥

विभुओं (आकाश और आत्मा) में जो बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्न, धर्म, अधर्म, भावना, और शब्द विशेषगुण हैं उनमें अकारणगुणोत्पन्नत्व साधर्म्य है ॥ ९४ ॥

अकारणगुणोत्पन्नत्वका अर्थ है कि कारणके गुणसे कार्यमें जो गुण उत्पन्न होते हैं वे रूपादिगुण कारणगुणपूर्वक होते हैं । किन्तु बुद्धि आदि गुण कारणके गुणसे कार्यमें उत्पन्न नहीं होते । क्योंकि आत्मा और आकाशका कोई कारण ही नहीं है । अर्थात् आत्माकार्य नहीं है फिर उसमें बुद्धि आदि गुणोंकी उत्पत्ति कारण गुणसे नहीं होती ॥ ९४ ॥

अपाकज रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, अपाकज, द्रवत्व, एकत्व, स्नेह, वेग, गुरुत्व, एकपृथक्त्व, परिमाण और स्थितिस्थापक ये गुण कारणके गुणसे जन्य हैं ॥ ९५½ ॥

पाकसे जन्य रूप आदिकी उत्पत्ति कारण गुणपूर्वक नहीं है । अतः अवयवी घटमें अग्निसंयोगसे जन्य रूपका कारणगुणपूर्वकत्व आपड़नेसे अव्याप्ति वारणके लिये अपाकजपद दिया । तात्पर्य यह है कि कारणगुणपूर्वकत्वका लक्ष्य अपाकजरूप, अपाकजरस आदि है ।

---

१. अपाकजाः—विलेक्षणतेजःसंयोगाजन्याः ।

संयोगश्च विभागश्च वेगश्चैते तु कर्मजाः ॥ ९६ ॥

संयोगश्चेति । कर्मजन्यत्वं यद्यपि न साधर्म्यं–घटादावतिव्याप्तेः, संयोगजसंयोगेऽव्याप्तेश्च, [1]तथापि कर्मजन्यवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमत्वं बोध्यम् । एवमन्यत्राप्यूह्यम् ॥ ९५–९६ ॥

स्पर्शान्तपरिमाणैकपृथक्त्वस्नेहशब्दके ।

भवेदसमवायित्वम्,

स्पर्शान्तेति । एकपृथक्त्वमित्यत्र त्वप्रत्ययस्य प्रत्येकमन्वयादेकत्वं पृथक्त्वं च ग्राह्यम् । पृथक्त्वपदेन चैकपृथक्त्वम् । भवेदसमवायित्वमिति । घटादिरूपरसगन्धस्पर्शाः कपालादिरूपरसगन्धस्पर्शेभ्यो भवन्ति । एवं कपालादिपरिमाणादीनां घटादिपरिमाणाद्यसमवायिकारणत्वम् । शब्दस्यापि द्वितीयशब्दं प्रति । एवं स्थितिस्थापकैकपृथक्त्वयोरपि ज्ञेयम् ।

पाकजरूप तो अलक्ष्य है उसमें लक्षण न जाना ही उचित है । अपाकज द्रवत्वसे तात्पर्य है । सांसिद्धिकद्रवत्व । चकारसे एकत्व भी समझना चाहिए ॥ ९५½ ॥

संयोग, विभाग और वेग इनमें कर्मजन्यत्व साधर्म्य है ॥ ९६ ॥

यद्यपि कर्मजन्यत्व साधर्म्य कहना उचित नहीं । क्योंकि घटमें अतिव्याप्ति होगी तथा संयोगज संयोगमें कर्मजन्यत्व न रहनेसे अव्याप्ति होगी तथापि कर्मजन्यवृत्ति गुणत्वव्याप्य जातिमत्वं कर्मजत्वका तात्पर्यार्थ होगा । तब कर्मजन्य संयोग, विभाग और वेगमें वर्तमान जो गुणत्वव्याप्य संयोगत्व, विभागत्व और वेगत्व जाति वह संयोगज संयोगमें भी है अतः अव्याप्ति नहीं होगी इसी प्रकार घटमें तादृश जाति नहीं है अतः अतिव्याप्ति भी नहीं होगी । यही प्रक्रिया अन्यत्र भी कल्पित कर लेनी चाहिए ॥ ९६ ॥

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, एकत्व, एकपृथक्त्व, स्नेह, शब्द इनमें असमवायित्व साधर्म्य हैं ॥ ९६½ ॥

एकपृथक्त्व पदमें जो त्व प्रत्यय है उसका प्रत्येकके साथ अन्वय है । अतः एकत्व और पृथक्त्व अर्थ होता है । पृथक्त्व पदका भी एकपृथक्त्व अर्थ है । भवेदसमवायित्वम्का अर्थ है कि घटके रूप, रस, गन्ध और स्पर्शकी उत्पत्ति कपालके रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे होती है । इसी प्रकार कपालका परिमाण घटपरिमाणका असमवायिकारण है । पूर्व-पूर्व शब्द उत्तर-उत्तर शब्दका असमवायिकारण है । इसी प्रकार कटके स्थितिस्थापक यत्नके प्रति

---

१. कर्म जन्ये संयोगे विभागे वेगे च वर्तमाना या गुणत्वव्याप्या संयोगत्वं विभागत्वं वेगत्वं जातिस्तद्वत्वस्य तत्र सत्वादिति ।

अथ वैशेषिके गुणे ॥ ९७ ॥

आत्मनः स्यान्निमित्तत्वम्,

निमित्तत्वमिति । बुद्ध्यादीनामिच्छादिनिमित्तत्वादिति भावः ।

उष्णस्पर्शगुरुत्वयोः ।

वेगेऽपि च द्रवत्वे च संयोगादिद्वये तथा ॥ ९८ ॥

द्विधैव कारणत्वं स्याद्,

द्विधैवेति । असमवायिकारणत्वं निमित्तकारणत्वं च । तथाहि–उष्णस्पर्श उष्णस्पर्शस्यासमवायिकारणं, पाकजे निमित्तम् । गुरुत्व गुरुत्वपतनयोरसमवायिकारणं, प्रतिघाते निमित्तम् । वेगो वेगस्पन्दनयोरसमवायी, अभिघाते निमित्तम् । द्रवत्वं द्रवत्वस्यनन्दयोरसमवायि,

---

शलाकापट्टीका स्थितिस्थापक यत्न असमवायिकारण है । अवयवीके एकपृथक्त्वके प्रति अवयवका एकपृथक्त्व असमवायिकारण है । किसी अन्य अवस्थाकी वस्तुको पुनः उसी अवस्थामें लाने वाले गुणको स्थितिस्थापक कहते है ॥ ९६½ ॥

आत्मामें रहने वाले वैशेषिक गुणोंमें निमित्तकारणत्व साधर्म्य हैं । मूलकारिकासे 'वैशेषिक गुणोंके प्रति आत्मानिमित्तकारण है' यह अर्थ भ्रम न हो इस लिए मुक्तावलीमें **'बुद्धादीनां इच्छादिनिमित्तत्वम्'** पद दिया । जैसे प्रयत्नके प्रति इच्छानिमित्तकारण है । इच्छाके प्रति बुद्धि निमित्तकारण है । सुखके प्रति धर्म, दुःखके प्रति अधर्म निमित्तकारण है ॥ ९७½ ॥

उष्णस्पर्श, गुरुत्व, वेग, द्रवत्व, संयोग, विभागमें दो प्रकारसे अर्थात् असमवायिकारणत्व, निमित्तकारणत्व इस प्रकार उभयकारणत्व साधर्म्य है ॥ ९८½ ॥

जैसे—अवयवगत उष्णस्पर्श, अवयवीगत उष्णस्पर्शके प्रति असमवायिकारण है । उष्णस्पर्श ही विजातीयतेजःसंयोगजन्य रूपके प्रति निमित्तकारण है । अवयवगुरुत्व अवयविगुरुत्वके प्रति असमवायिकारण है । गुरुत्व पतनक्रियाके प्रति असमवायिकारण है । किन्तु गुरुत्व ही अभिघातके प्रति निमित्तकारण है । वे अवयववेगके प्रति असमवायिकारण हैं । वेग स्यन्दनक्रियाके प्रति असमवायिकारण है । किन्तु वेग ही अभिघात (शब्दजनकसंयोग) के प्रति निमित्तकारण है । अवयव द्रवत्व अवयवी द्रवत्वके प्रति असमवायिकारण है । स्यन्दनके प्रति भी असमवायिकारण है । किन्तु संग्रह (चूर्णादि पिण्डीभाव) के प्रति निमित्तकारण हैं । भेरीदण्डका संयोग शब्दके प्रति निमित्तकारण है ।

सङ्ग्रहे निमित्तम् । भेरीदण्डसंयोगः शब्दे निमित्तं, भेर्याकाश-संयोगेऽसमवायी । वंशदलद्वयविभागः शब्दे निमित्तं वंशदलाकाश-विभागेऽसमवायीति ।

अथ[1] प्रादेशिको भवेत् ।
वैशेषिको विभुगुणः संयोगादिद्वयं तथा ॥ ९९ ॥

प्रादेशिकोऽव्याप्यवृत्तिः ॥ ९७-९८-९९ ॥

इति गुणप्रकरणे साधर्म्यनिरूपणम्

रूपं निरूपयति—[2]

चक्षुर्ग्राह्यं भवेद्रूपं द्रव्यादेरुपलम्भकम् ।

अव्याप्यवृत्तिरिति—**अव्याप्यवृत्तित्वम् स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् ॥ ९६-९९ ॥**

भेरी और आकाश संयोगके प्रति असमवायिकारण है । वांसके दो दलोंका विभाग शब्दके प्रति निमित्तकारण है । वह ही वंशदल और आकाश विभागमें प्रति असमवायिकारण है ॥

विभुओं (आकाश और आत्मा) में रहने वाले विशेषगुण (शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, भावना, धर्म, अधर्म) और संयोग, विभागमें प्रादेशिकत्व (दैशिक अव्याप्य-वृत्तिगुणत्व) साधर्म्य है ॥ ९९ ॥

यदि प्रादेशिकत्वका अर्थ प्रकृष्टदेशमें रहना माना जाय तो रूप भी प्रादेशिक होगा । अतः मुक्तावलीमें प्रादेशिकपदकी व्याख्यामें अव्याप्यवृत्तिः कहा गया है । अव्याप्यवृत्तित्व भी दो प्रकारका है । दैशिक अव्याप्यवृत्तित्व, और कालिक अव्याप्यवृत्तित्व । कालिक अव्याप्यवृत्ति रूपमें अतिव्याप्ति वारणके लिए अव्याप्यवृत्तिका अर्थ दैशिक अव्याप्यवृत्ति करना चाहिए ॥

गुणप्रकरणमें साधर्म्यनिरूपण समाप्त ।

सामान्यतः गुणोंके साधर्म्य और वैधर्म्यका निरूपणके अनन्तर प्रत्येक गुणोंका लक्षण बतानेके लिए उद्देशक्रममें प्रथमतः रूपका लक्षण बताते हैं—

रूप चक्षु इन्द्रियसे गृहीत होता है । वह द्रव्य और गुण आदिके प्रत्यक्षमें नेत्रकी सहायता करता है ॥ ९९½ ॥

---

१. अथेति-विभ्वो आकाशात्मनोः ये विशेषगुणाः शब्दज्ञानसुखदुःखेच्छाद्वेषभावनाधर्माधर्माः संयोगविभागौ च तेषां प्रादेशिकत्वं प्रदेशे भवत्वं-दैशिकाव्याप्यवृत्तिगुणत्वं साधर्म्यमित्यर्थः । २. अयं पाठः पुस्तकेषु त्रुटित इव प्रतिभाति ।

चक्षुरिति । रूपत्वजातिस्तु प्रत्यक्ष[1]सिद्धा । रूपशब्दोल्लेखिनी प्रतीतिर्नास्तीति चेन्मास्तु रूपशब्दप्रयोगः, तथापि नीलपीतादिष्वनुगतजातिविशेषोऽनुभवसिद्ध एव । रूपशब्दाप्रयोगेऽपि नीलो वर्णः, पीतो वर्ण इति वर्णशब्दोल्लेखिनी प्रतीतिरस्त्येव । एवं नीलत्वादिकमपि प्रत्यक्षसिद्धम् ।

नचैकैका एव नीलरूपादिव्यक्तय इत्येकव्यक्तिवृत्तित्वान्नीलत्वादिकं न जातिरिति वाच्यम्, नीलो नष्टो, रक्त उत्पन्न इत्यादिप्रतीतेर्नीलादेरुत्पादविनाशशालितया नानात्वात्, अन्यथा एकनीलनाशे जगदनीलमापद्येत ।

न च नीलसमवायरक्तसमवाययोरेवोत्पादविषयकोऽसौ प्रत्यय इति

रूपत्वजाति तो 'इदं रूपम् इदं रूपम्' इस सामान्य लक्षणासे जन्य प्रत्यक्ष प्रतीतिसे सिद्ध है । यद्यपि रूपशब्दका उल्लेख करते हुए 'इदं रूपं' यह प्रतीति नहीं होती इस लिए यह कहा जा सकता है कि रूप शब्दका प्रयोग न हो तथापि नील, पीत आदिमें अनुगत जाति विशेषकी प्रतीति अनुभवमें आती है । जैसे नील रूप, पीतरूप इस प्रकारकी प्रतीति यदि रूप शब्दका उल्लेख करती हुई न भी हो फिर भी 'नीलवर्ण, पीतवर्ण' इस प्रकारकी वर्ण शब्दका उल्लेख करने वाली प्रतीति है ही । इस प्रतीतिके आधार पर यदि वर्णत्व जाति प्रत्यक्ष सिद्ध है तो उसीका हमने 'रूपत्व' शब्दसे व्यवहार किया है । इसी प्रकार 'इदं रूपं नीलम्' इस प्रतातिके अनुसार नीलत्व जाति भी प्रत्यक्ष सिद्ध है ।

यदि सामान्यलक्षणाजन्य प्रत्यक्ष प्रतीतिके निर्वाहके लिए कल्पित धर्मको बाधकके अभावमें जाति मान लिया जाय तब तो उचित भी है किन्तु एक एक नीलरूप, पीतरूप आदि व्यक्तियोंमें नीलत्व, पीतत्व जाति मानना उचित नहीं क्योंकि एक व्यक्तिमें रहनेवाला धर्म जाति नहीं माना जाता । यह कहा जाय तो उचित नहीं है क्योंकि 'नील नष्ट हो गया अब पीत उत्पन्न हुआ है' इस प्रकारकी प्रतीति होती है । और यह मानना पड़ता है कि उत्पन्न विनष्ट होने वाले नील, पीत आदि एक नहीं किन्तु अनेक हैं । यह मानना इस लिए भी उचित है कि एकनील हो और वह नष्ट हो जाय तो जगत्में कोई नीलवस्तु रह ही न जायगी ।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि नीलसमवाय और पीत समवायों की ही उत्पत्ति

---

१. सर्वेषु रूपेषु रूपपदशक्तिग्रहाय अवश्यकल्पनीया सामान्यलक्षणाजन्यप्रत्यक्षप्रतीतिसिद्धेत्यर्थः । अत्र रूपनिष्ठविशेष्यतासम्बन्धेन रूपत्वप्रकारकप्रत्यक्षं प्रति स्वविषयसामान्यवत्वसम्बन्धेन रूपत्वज्ञानं कारणमिति तादृशकारणतायां विषयविधयाऽवच्छेदकतया रूपत्वजातिसिद्धिरिति ध्येयम् ।

वाच्यम्, प्रतीत्या समवायानुल्लेखात्। न च स एवायं नील इति प्रत्ययाल्लाघवाच्चैक्यमिति वाच्यम्, उक्तप्रत्ययस्य तज्जातीयविषयकत्वात्सैवेयं गुर्जरीतिवत्। लाघवं तु प्रत्यक्षबाधितम्, अन्यथा घटादीनामप्यैक्यप्रसङ्गादुत्पादविनाशबुद्धेः समवायालम्बनत्वापत्तेरिति। एतेन रसादिकमपि व्याख्यातम्।

चक्षुर्ग्राह्यमिति। चक्षुर्ग्राह्यविशेषगुण इत्यर्थः। एवमग्रेऽपि।

द्रव्यादेरिति। उपलम्भकमुपलब्धिकारणम्।

इदमेव विवृणोति—

चक्षुषः सहकारि स्याच्छुक्लादिकमनेकधा ॥ १०० ॥

और विनाशकी प्रतीति होती है नील आदि की नहीं, किन्तु यह भी कहना उचित नहीं क्योंकि किसी प्रतीतिसे समवायका उल्लेख नहीं होता। यदि 'स एवायं नीलः' प्रतीति और लाघवके अनुसार नीलको एक माना जाय तो ठीक नहीं। क्योंकि 'तत् नील और एतत् नीलमें' प्रतीतिके आधार पर अभेदकी प्रतीति नहीं होती अन्यथा नील, नीलतर आदि व्यवहार ही नहीं बनेगा। किन्तु दोनों नीलोंकी सजातीयता ही प्रतीत होती है। जैसे—'यह वही गुर्जरी है'। लाघव तो प्रत्यक्षके विरुद्ध है। अन्यथा घट भी एक होगा और उत्पत्ति तथा विनाश समवायके होंगे। जैसा मानना अनुचित है क्योंकि समवायकी एकता प्रत्यक्ष खण्डमें सिद्ध की जा चुकी है। इस प्रकार नील अनेक हैं। उनमें रहने वाली नीलत्व जाति है। इस व्याख्यासे रस आदिमें रहने वाली रसत्व आदि जाति भी सिद्ध होती है।

मूलमें—चक्षुर्ग्राह्यका तात्पर्य है चक्षुर्ग्राह्यविशेषगुणत्व। विशेषपदका अर्थ है त्वगग्राह्यत्व। इस प्रकार **'त्वगग्राह्यत्वे सति चक्षुर्ग्राह्यत्वे सति गुणत्वं रूपत्वम्'** लक्षण बना। स्नेहादिमें अतिव्याप्ति वारणके लिए 'त्वगग्राह्यत्व' पद है। प्रभा तथा रूपत्वमें अतिव्याप्ति वारणके लिए 'गुणत्व' पद है। प्रभाभित्ति संयोगमें अतिव्याप्ति वारणके लिए 'त्वगग्राह्यचक्षुर्ग्राह्यगुणत्वव्याप्यजातिमत्वं रूपत्वं' लक्षण करना चाहिए। आगेके लक्षणोंमें भी इसी प्रकारसे व्याख्या करनी चाहिए ॥ ९९½ ॥

उपलम्भकका अर्थ है उपलब्धिका कारण होना। इसीकी व्याख्या करते हैं—

---

१. ननु स एवायं नील इति प्रत्ययात् न तन्नीलैतन्नीलयोरभेदो विषयीक्रियते, अन्यथा नीलनीलतरादिव्यवहारविरोधप्रसंगात्, किन्तु तत्सजातीयत्वमेवेति न नीलव्यक्तीनामैक्यसिद्धिरित्याशङ्कायामाह लाघवाच्चेति।

चक्षुष इति। द्रव्यगुणकर्मसामान्यानां चाक्षुषप्रत्यक्षं प्रति उद्भूतरूपं कारणम्। शुक्लादीति। तच्च रूपं शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशकर्बुरभेदादनेकप्रकारकं भवति।

ननु कथं कर्बुरमतिरिक्तरूपं भवति। इत्थं—नीलपीताद्यवयवारब्धोऽवयवी न तावन्नीरूपो, अप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। नापि व्याप्यवृत्तिनीलादिकमुत्पद्यते, पीतावच्छेदेनापि नीलोपलब्धिप्रसङ्गात्। नाप्यव्याप्यवृत्ति नीलादिकमुत्पद्यते, व्याप्यवृत्तिजातीयगुणानामव्याप्यवृत्तित्वे विरोधात्। तस्मान्नानाजातीयरूपैरवयविनि विजातीयं चित्रं रूपमारभ्यते। अत एव 'एकं चित्रम्' इत्यनुभवोऽपि। नानारूपकल्पने गौरवात्। इत्थं च नीलादीनां पीताद्यारम्भे प्रतिबन्धकत्वकल्पनादवयविनि न पीताद्युत्पत्तिः।

प्रतिबन्धकत्वकल्पनादिति। **समवायेन नीलं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन नीलातिरिक्तरूपत्वेन, समवायेन पीतरूपं प्रति स्वसमवायिसमवेतत्वसम्बन्धेन पीतातिरिक्तरूपत्वेन प्रतिबन्धकत्वमिति रीत्या प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावकल्पनात्। अन्यथा नानाजातीयरूपवत्कपालारब्धे घटे नीलकपालावच्छेदेन पीतोत्पादस्य दुर्वारत्वादिति भावः।**

नेत्रसे द्रव्य, द्रव्यत्व, द्रव्याभाव आदिके प्रत्यक्षमें रूप सहकारी कारण है। वह शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्ररूपमें अनेक (सात) प्रकारका होता है ॥१००॥

द्रव्यचाक्षुष प्रत्यक्षके प्रति उद्भूतरूप समवाय सम्बन्धसे कारण है। द्रव्यत्व तथा गुणचाक्षुष प्रत्यक्षके प्रति उद्भूत रूप स्वाश्रयसमवायसम्बन्धसे कारण है, कर्मचाक्षुष प्रत्यक्षके प्रति उद्भूतरूप स्वाश्रयसमवायसम्बन्धसे कारण है। गुणत्व-कर्मत्व आदि सामान्य (जाति) चाक्षुषप्रत्यक्षके प्रति उद्भूतरूप स्वाश्रयसमवेतसमवाय सम्बन्धसे कारण है। चक्षुरिन्द्रियके रूपके प्रत्यक्षमें अतिव्याप्ति वारणके लिए उद्भूतपद है। रूप अनेक प्रकारका होता है। जैसे शुक्ल, = श्वेत, नील, पीत = पीला, रक्त = लाल, हरित = हरा, कपिश = रक्तपीतमिश्रित, चित्र—अनेकरूप।

नवीनों का मत है कि छः रूप ही मानना उचित है चित्ररूप अतिरिक्त मानना उचित नहीं। क्योंकि अतिरिक्त रूपकी सिद्धि ही कैसे हो सकेगी। इसके उत्तरमें मूलमें लिखा **इत्थम्**। नील, पीत आदिसे रंगे हुए सूतोंसे बना हुआ अवयवी वस्त्र नीरूप नहीं कहा जा सकता अन्यथा प्रत्यक्ष नहीं बनेगा। उस वस्त्रमें व्याप्यवृत्ति नील आदि उत्पन्न होगा यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि जिस अंशमें पीतरूप है उस अंशमें भी नीलकी उपलब्धि आपड़ेगी। अव्याप्यवृत्ति नीलादि उत्पन्न होंगे यह कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि

एतेन स्पर्शोऽपि व्याख्यातः। रसादिकपि नाव्याप्यवृत्ति, किन्तु नाना-जातीयरसवदवयवैरारब्धेऽवयविनि रसाभावेऽपि न क्षतिः। तत्र रसन-याऽवयवरस एव गृह्यते रसनेन्द्रियादीनां द्रव्यग्रहे सामर्थ्याभावादवयविनो नीरसत्वेऽपि क्षतेरभावात्।

नव्यास्तु तत्राव्याप्यवृत्त्येव नानारूपं, नीलादेः पीतादिप्रतिबन्धक-त्वकल्पने गौरवात्। अत एव—

स्पर्शोऽपि व्याख्यात इति। **कोमलकठितस्पर्शवदवयवाभ्यामारब्धे घटादौ स्पर्शा-नङ्गीकारे घटस्य त्वाचप्रत्यक्षानापत्तिः, त्वगिन्द्रियजन्यद्रव्यप्रत्यक्षे समवायेन स्पर्शस्य कारणत्वादिति चित्रस्पर्शोऽपि स्वीकार्य इति भावः।**

ननु अवच्छेदकतासम्बन्धेन नीलं प्रति समवायेन नीलस्य हेतुतास्वीकारेणैव नानाजातीयरूपवत्कपालारब्धे घटे पीतकपालावच्छेदेन नीलापत्तिवारणसम्भवे पूर्वोक्तप्रतिबध्यप्रबन्धकभावकल्पने गौरवमित्याशयेनाह—नव्यास्त्विति ॥१००–२०३॥

व्याप्यवृत्ति जातिवाले गुणोंको अव्याप्यवृत्ति मानने पर विरोध होगा। अतः अनेक जातिके रूपोंसे अवयवीमें एक विलक्षण चित्ररूप उत्पन्न होता है यह माना जाता है। इसीलिए 'एकं चित्रं' यह अनुभव भी होता है। अनेक रूपकी कल्पनामें गौरव भी है। इस प्रकार नील आदिसे पीत आदिके आरम्भ करनेमें प्रतिबन्धककी कल्पना करनेसे अवयवीमें पीत आदि उत्पन्न नहीं होते। तात्पर्य यह है कि 'समवाय सम्बन्धसे नीलके प्रति स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्धसे नीलातिरिक्तरूपत्वेन नीलरूप प्रतिबन्धक है। एवं समवाय सम्बन्धसे पीतरूपके प्रति स्वसमवायिसमवेतत्व सम्बन्धसे पीतातिरिक्तरूपत्वेन प्रतिबन्धकता मान लेने पर चित्रपटमें भी व्याप्यवृत्ति होकर दूसरे रूप नहीं उत्पन्न होते। अन्यथा अनेक रूपवाले कपालसे उत्पन्न घटमें नीलदेशमें पीतकी उत्पत्ति होना दुर्निवार होगा। इसी प्रकार स्पर्शकी व्याख्या भी समझ लेनी चाहिए' रस आदि भी अव्याप्यवृत्ति गुण नहीं हैं। किन्तु अनेक प्रकारके रसवाले अवयवोंसे आरब्ध अवयवीमें रसाभाव होने पर भी कोई आपत्ति नहीं होती। क्योंकि रसना अवयव रसोंका ही स्वाद ले सकती है। क्योंकि रसना इन्द्रियका द्रव्यग्रहणमें सामर्थ्य ही नहीं है। इस प्रकार यदि अवयवी नीरस भी हों तो कोई हानि नहीं है। कोमल कठिन स्पर्श वाले अवयवोंसे आरम्भ घटका स्पर्श नहीं होता यदि कहें तो घटका त्वाच प्रत्यक्ष नहीं बनेगा। क्योंकि त्वगिन्द्रियसे द्रव्यके प्रत्यक्षमें समवाय सम्बन्धसे स्पर्श कारण होता है। अतः चित्र स्पर्श भी मान लेना चाहिए।

नवीनोंका मत है कि चित्रपटमें अव्याप्यवृत्ति अनेकरूप ही है नीलमें पीतादिके प्रतिबन्धककी कल्पनामें गौरव भी है। अत एव नीलवृषके लक्षणकी उपपत्ति बनती है।

लोहितो यस्तु वर्णेन मुखे पुच्छे च पाण्डुरः।
श्वेतः खुरविषाणाभ्यां स नीलो वृष उच्यते ॥

इत्यादिशास्त्रमप्युपपद्यते।

न च व्याप्यवृत्त्यव्याप्यवृत्तिजातीययोर्द्वयोर्विरोधः, मानाभावात्।

न च लाघवादेकं रूपम्, अननुभवात्। अन्यथा घटादेरपि लाघ-वादैक्यं स्यात्। एतेन स्पर्शादिकमपि व्याख्यातमिति वदन्ति ॥१००॥

जलादिपारमाणौ तन्नित्यमन्यत्सहेतुकम्।

जलादीति। जलपरमाणौ तेजः परमाणौ च रूपं नित्यम्। पृथिवीप-रमाणुरूपं तु न नित्यं तत्र पाकेन रूपान्तरोत्पत्तेः। नहि घटस्य पाकान-न्तरं तदवयवोऽपक्व उपलभ्यते। न हि रक्तकपालस्य कपालिका नीला-वयवा भवति। एवं क्रमेण परमाणावपि पाकसिद्धेः। अन्यत्—जलतेजः परमाणुरूपभिन्नं रूपं, सहेतुकं—जन्यम्।

क्योंकि जो वृष (बैल) वर्णसे लाल हो मुख और पूंछसे पाण्डर हो, खुर और सींगसे श्वेत हो ऐसे बैलको **नीलवृष** कहते हैं। यदि चित्ररूप अलग माना जाय तो अवयवरूपोंकी प्रतीति नहीं बनेगी। जैसी कि लक्षणमें है। अब यह शंका रहती है कि जो रूपत्वादि जाति परमाणुमें व्याप्यवृत्ति है वह ही घटमें अव्याप्यवृत्ति कैसे होगी। एक जातिमें व्याप्यवृत्तित्व, अव्याप्यवृत्तित्व उभयविरुद्ध धर्म कैसे रह सकेंगे। ठीक है, किसी भी रूप आदिके व्याप्यवृत्ति होनेमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि लाघववश एकरूप माना जाय तो ठीक नहीं, क्योंकि कोई अनुभवात्मक प्रमाण नहीं है। अन्यथा लाघवात् घटादि भी एक ही मान लिये जाँय। इसी प्रकार स्पर्शकी भी व्याख्या होगी, वहाँ भी चित्रस्पर्श मानना उचित नहीं है ॥ १०० ॥

जलपरमाणुमें अभास्वर और अनुद्भूतशुक्ल, तेजपरमाणुमें भास्वर तथा अनुद्भूत-शुक्ल रूप नित्य है अन्यत्र (पृथिवी, अनित्यजल तथा अनित्यतेज) का रूप सहेतुक (कारणजन्य अर्थात् अनित्य) होता है ॥ १००½ ॥

जलपरमाणुमें वर्तमान अभास्वरशुक्लरूप, तथा तेजके परमाणुमें वर्तमान भास्वरशुक्ल रूप नित्य है। यतः परमाणु नित्य हैं नित्यगतरूप नित्य होता है। पृथिवीके परमाणुमें स्थितरूप अनित्य है। यतः पाक होने पर रूपान्तरकी उत्पत्ति होती है। घटके पक जानेके बाद घटका अवयव (कपाल) अपक्व नहीं उपलब्ध होता। लाल रंगके कपालकी कपालिकाका अवयव नील नहीं देखा गया है। इस प्रकार पके घटका अवयव कपाल उसका अवयव कपालिका, उसका अवयव इस क्रमसे परमाणु पर्यन्त पाककी सिद्धि हो

रसं निरूपयति—

रसस्तु रसनाग्राह्यो मधुरादिरनेकधा ॥ १०१ ॥
सहकारी रसज्ञाया नित्यतादि च पूर्ववत् ।

रसस्त्विति । सहकारीति । रासनज्ञाने रसः कारणमित्यर्थः ।

पूर्ववदिति । जलपरमाणौ रसो नित्योऽन्यः सर्वोपि रसोऽनित्य इत्यर्थः ॥

गन्धं निरूपयति—

घ्राणग्राह्यो भवेद्गन्धो घ्राणस्यैवोपकारकः ॥ १०२ ॥
सौरभश्चासौरभश्च स द्वेधा परिकीर्तितः ।

घ्राणग्राह्य इति । उपकारक इति । घ्राणजन्यज्ञाने सहकारिकारणमित्यर्थः । सर्वोऽपि गन्धोऽनित्य एव ॥ १०१–१०२ ॥

स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यस्त्वचः स्यादुपकारकः ॥ १०३ ॥

जाती है। जलपरमाणु और तेजपरमाणुमें स्थितरूप (शुक्ल) को छोड़कर समस्त रूप सहेतुक (जन्य) अर्थात् अनित्य है ॥ १००½ ॥

रसका निरूपण करते हैं—

रस तो रसनाग्राह्य है और मधुर (अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त) आदि नामोंसे अनेक (छः) प्रकारका है। रसनेन्द्रिय जन्यप्रत्यक्षमें रस सहकारी कारण है। रूपकी भाँति रस भी नित्य अनित्य दो प्रकारका होता है ॥ १०१½ ॥

जलके परमाणुमें रस नित्य है अन्यत्र सब रस अनित्य है ॥ १०१½ ॥

गन्धका निरूपण करते हैं—

घ्राण नामकी इन्द्रियसे ग्राह्य गन्ध होता है। वह घ्राणज प्रत्यक्षमें इन्द्रियका उपकारक (सहकारी कारण) है। वह सौरभ = सुगन्ध और असौरभ = दुर्गन्ध भेदसे दो प्रकारका कहा जाता है ॥ १०२½ ॥

उपकारक = घ्राणजज्ञानमें सहकारिकारण है। समस्त गन्ध अनित्य ही है।

स्पर्शका निरूपण करते हैं—

स्पर्शका त्वक् इन्द्रियसे प्रत्यक्ष होता है। स्पार्शन प्रत्यक्षमें त्वचाका सहकारी कारण स्पर्श है। वह अनुष्णाशीत, शीत और उष्ण भेदसे तीन प्रकारका है। कठिन और सुकुमार स्पर्श पृथिवीमें ही होते हैं। स्पर्श भी नित्य और अनित्य दो प्रकारका होता है ॥

अनुष्णाशीतशीतोष्णभेदात्स त्रिविधो मतः ।
काठिन्यादि क्षितावेव नित्यतादि च पूर्ववत् ॥ १०४ ॥

स्पर्श इति । उपकारक इति । स्पार्शनप्रत्यक्षे स्पर्शः कारणमित्यर्थः ॥ १०३ ॥

अनुष्णाशीतेति । पृथिव्यां वायौ च स्पर्शोऽनुष्णाशीतः, जले शीतः, तेजस्युष्णः ।

काठिन्येति । कठिनसुकुमारस्पर्शौ पृथिव्यामेवेत्यर्थः । कठिनत्वादिकं तु न संयोगनिष्ठो जातिविशेषः, चक्षुर्ग्राह्यत्वापत्तेः ।

पूर्ववदिति । जलतेजोवायुपरमाणुस्पर्शा नित्यास्तद्भिन्नास्त्वनित्या इत्यर्थः ॥ १०४ ॥

एतेषां पाकजत्वं तु क्षितौ नान्यत्र कुत्रचित् ।
तत्रापि परमाणौ स्यात्पाको वैशेषिके नये ॥ १०५ ॥

न संयोगनिष्ठ इति । 'कठिनः संयोगः' इति प्रतीतिस्तु कठिनस्पर्शवद्द्रव्यप्रतियोगिकत्वमवगाहते इति भावः ।

त्वचासे स्पार्शन प्रत्यक्ष करनेमें स्पर्श निमित्त कारण है। पृथिवी और वायुमें अनुष्णाशीत स्पर्श होता है, जलमें शीत तथा तेजमें उष्णस्पर्श होता है। कठिन स्पर्श और सुकुमार स्पर्श पृथिवीमें ही होते हैं। कठिनत्व और सुकुमारत्व संयोगमें रहनेवाले धर्म विशेष हैं अर्थात् दृढ़ संयोग कठिनत्व और शिथिल संयोग सुकुमारत्व (मृदुत्व) है किन्तु यह कहना उचित नहीं। क्योंकि जो गुण जिस इन्द्रियसे गृहीत होता है उस गुणमें रहने वाली जाति और उस गुणका अभाव भी उसी इन्द्रियसे गृहीत होता है। इस नियमके अनुसार चक्षु इन्द्रियसे ग्राह्य संयोगमें रहने वाली जाति कठिनत्व आदिका भी चक्षु इन्द्रियसे प्रत्यक्ष आपड़ेगा। अतः कठिनत्व आदि स्पर्शके ही भेद है। जल, तेज और वायुके परमाणुका स्पर्श नित्य है उनसे भिन्नका (कार्यरूपका) स्पर्श अनित्य है। पृथिवीके परमाणुका स्पर्श भी अनित्य है ॥ १०४ ॥

पृथिवीके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श पाकज होते हैं अन्यत्र कहीं भी पाकज नहीं होते। उनमें भी वैशेषिकोंके मतके अनुसार पार्थिव परमाणुमें पाक होता है ॥ १०५ ॥

पृथिवीके रूप, रस, गन्ध, स्पर्शका परिवर्तन अग्निके संयोगसे देखा जाता है। जलको सौ बार भी तपाया जाय किन्तु रूपमें कोई परिवर्तन नहीं होता। नीर (जल) में सुगन्ध

एतेषामिति । एतेषां रूपरसगन्धस्पर्शानाम् ।

नान्यत्रेति । पृथिव्यां हि रूपरसगन्धस्पर्शपरावृत्तिरग्निसंयोगादुपलभ्यते । न हि शतधापि ध्मायमाने जले रूपादिकं परिवर्तते । नीरे सौरभमौष्ण्यं चान्वयव्यतिरेकाभ्यामौपाधिकमेवेति निर्णीयते—पवनपृथिव्योः शीतस्पर्शादिवत् ।

तत्रापि पृथिवीष्वपि परमाणावेव रूपादीनां पाक इति वैशेषिका वदन्ति ।

तेषामयमाशयः—अवयविनावष्टब्धेष्ववयवेषु पाको न सम्भवति, परन्तु वह्निसंयोगेनावयविषु विनष्टेषु स्वतन्त्रेषु परमाणुषु पाकः । पुनश्च पक्वपरमाणुसंयोगाद् द्व्यणुकादिक्रमेण पुनर्महावयविपर्यन्तमुत्पत्तिः । तेजसामतिशयितवेगवशात्पूर्वव्यूहनाशो झटिति व्यूहान्तरोत्पत्तिश्चेति ।

ध्मायमाने इति । अग्निसंयुक्ते इत्यर्थः ।

पाक इति । रूपरसगन्धस्पर्शानां परावृत्तिरित्यर्थः ।

पाको न सम्भवतीति । रूपादिपरावृत्तिफलकस्तेजः संयोगो न भवतीत्यर्थः । रूपनाशं प्रति साक्षात्परम्परासाधारणसर्वावयवावच्छेदेन तेजःसंयोगः कारणमिति कार्यकारणभावादवयविनाऽवष्टब्धेषु अवयवेषु सत्सु सर्वावयवावच्छेदेन तेजःसंयोगरूपकारणाभावाद्रूपनाशासम्भवादिति भावः ।

न चावयविनाऽवष्टब्धेषु तेजः संयोगः कुतो न जायते इति वाच्यम् । एवं सति आरम्भकसंयोगावच्छेदेनेनावयविनि तेजःसंयोगोत्पादकाले तदवच्छेदेनावयवेष्वपि नोदनाभिघातयोरन्यतरस्य जननियमादवयवेषु विभागहेतुक्रियोत्पादेनारम्भकसंयोगनाशादवयविनाशापत्तेरिति भावः ।

अथवा ताप अन्वयव्यतिरेकसे तय किया जाता है कि औपाधिक है । अर्थात् जलमें पृथिवीके सम्पर्कसे सुगन्ध और तेजके सम्पर्कसे ताप प्रतीत होता है यह निर्णय किया जाता है । जैसे पृथिवी और वायुमें शीतस्पर्श औपाधिक है । पाक भी पृथिवीके परमाणुमें ही होता है यह वैशेषिक दर्शनका सिद्धान्त है ।

इनका अभिप्राय यह है कि—अवयवीसे आश्रित अवयवोंमें पाक (रूपान्तरोत्पत्ति) नहीं हो सकती । क्योंकि रूपनाशके प्रति समस्त अवयवोंमें विजातीय तेजः संयोग कारण है । इसलिए अवयवीसे अवयवके ढके रहने पर समस्त अवयवोंमें तेजः संयोगरूप कारणके अभावमें रूपका नाश नहीं हो सकेगा तथा रूपान्तरोत्पत्तिरूप पाक भी नहीं होगा । अतः जब वह्निके संयोगसे अवयवी विनष्ट हो जाता है तथा परमाणु स्वतन्त्र हो जाते हैं

अत्र द्व्यणुकादिविनाशमारभ्य कतिभिः क्षणैः पुनरुत्पत्त्या रूपादिमद्भवतीति शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थं क्षणप्रक्रिया ।

तत्र विभागजविभागानङ्गीकारे नवक्षणा ।

वैशद्यं—स्फीतता ।

विभागजविभागानङ्गीकारे इति । इदमत्रावधेयम् । विभागजविभागो द्विधा कारणमात्रविभागात्कारणाकारणविभागः, कारणाकारणविभागात् कार्याकार्यविभागश्च, ।

आद्यस्तावत् यत्र कपाले कर्म ततः कपालद्वयविभागः ततः घटारम्भकसंयोगनाशः ततः घटनाशः ततस्तेनैव कपालविभागेन सकर्मणः कपालस्याकाशाविभागो जन्यते सोऽयं कारणमात्रविभागात् कारणाकारणविभागः ।

द्वितीयस्तु यत्र हस्तक्रियया हस्ततरुविभागस्ततः शरीरेऽपि विभक्तप्रत्ययः

तब पाक होता है । फिर पके हुए परमाणुओंके संयोगसे द्व्यणुक क्रमसे पुनः महा अवयवीकी उत्पत्ति होती है । तेजके अत्यधिकवेगके वशसे पूर्वव्यूहका क्षणभरमें नाश और पुनः झटसे व्यूहान्तरकी उत्पत्ति होती है । अत एव पूर्वव्यूहसे व्यूहान्तरमें भेदज्ञान नहीं हो पाता ॥ १०५ ॥

क्षणप्रक्रिया

इस अवसर पर शिष्योंमें यह जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है 'द्व्यणुक आदि अपने विनाशसे लेकर कितने क्षणोंमें पुनः उत्पन्न होकर रूपवान हो जाते हैं' अतः उनकी बुद्धिके विकासके लिए क्षणप्रक्रिया बता देना उचित मानता हूँ । यहाँ यह ध्यान देना चाहिए कि **विभाग तीन** प्रकारका है । **एक** तो एककी क्रियासे जन्य विभाग । **दूसरा** दोनोंकी क्रियासे जन्य विभाग और **तीसरा** विभागसे जन्य विभाग । **विभागजविभाग** दो प्रकारका होता है । (१) **कारण मात्रके विभागसे कारणाकारणविभाग, और (२) कारणाकारणके विभागसे कार्याकार्य विभाग ।**

जैसे घटके कारण कपालमें क्रिया, तब कपालद्वय विभाग, तब घटारम्भक संयोगनाश, तब घटनाश तब कपालके विभागसे क्रियावान कपाल और आकाशका विभाग होता है । यह विभाग केवल घटके कारण कपालके विभागसे दोनों कपालरूप कारणमें तथा अकारण आकाशमें भी होता है । अतः इसे **कारणमात्रके विभागसे कारणाकारण विभाग कहा जाता है ।**

दूसरा जैसे—हाथमें क्रिया तब हाथ और तरुका विभाग तब शरीर और तरुके विभागकी प्रतीति । यह विभाग देहके कारण = हस्त, अकारण = वृक्षके विभागसे कार्य = शरीर और अकार्य = वृक्षका विभाग कहा जाता है ।

तदङ्गीकारे तु विभागः किञ्चित्सापेक्षो विभागं जनयेत् निरपेक्षस्य तत्त्वे कर्मत्वं स्यात्। संयोगविभागयोरनपेक्षं कारणं कर्मेति १।१।१७॥ वैशेषिकसूत्रम्। स्वोत्तरोत्पन्नभावान्तरानपेक्षत्वं तस्यार्थः, अन्यथा कर्मणाऽप्युत्तरसंयोगोत्पत्तौ पूर्वसंयोगनाशापेक्षणादव्याप्तिः स्यात्। तत्र यदि द्रव्यारम्भकसंयोगविनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागजविभागः स्यात्तदा दशक्षणा।

इति सोऽयं विभागः कारणाकारणविभागात् कार्याकार्यविभाग इत्युच्यते। शरीरस्य हस्तकार्यत्वात् तरोश्चाकार्यत्वादिति।

न च कर्मणैव विभागोऽङ्गीक्रियतां किमिति विभागेन विभागोऽङ्गीक्रियते इति वाच्यम्। एकस्य कर्मणः आरम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनकत्वस्यानारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागाजनकत्वस्य च विरोधादन्यथा विकसत्कमलकुड्मलभङ्गप्रसङ्गादिति परिमाणनिरूपणावसरे मुक्तावल्यां स्पष्टीभविष्यति। यदवच्छेदेन कमला-

---

यदि यह कहा जाय कि विभागके प्रति क्रिया ही कारण है। अतः विभागज विभाग स्वीकार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है तो यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि एक ही कर्म में आरम्भक संयोग का प्रतिद्वन्द्वि विभागजनकत्व तथा द्रव्यानारम्भक संयोग-प्रतिद्वन्द्वि विभागाजनकत्व का परस्पर विरोध होगा। अन्यथा विकसते हुए कमल कुड्मल का भङ्ग आपड़ेगा। यदि कहा जाय कि जिस देश में कमलारम्भक संयोग है उस देश में क्रिया की उत्पत्ति तो है नहीं। अतः विकसत् कमलकुड्मल के भङ्गका प्रसंग नहीं होता। फिर पूर्वोक्त नियम मानने में कोई प्रमाण नहीं। इसीलिए कारणमात्र के विभाग से कारणाकारणका विभाग होना स्वीकार नहीं किया जाता। किन्तु ऐसे विभाग कर्म से ही हो जाते हैं इस अभिप्राय से कहा कि **विभागज विभागानङ्गीकारे।**

विभागजविभाग के न मानने पर पूर्व रूप के नाश और नये रूप की उत्पत्ति में नवक्षण लगते हैं।

यदि कहा जाय कि दो परमाणुओं की विभागजनक क्रिया का परमाणु और आकाश में विभागजनकत्व सम्भव नहीं है। अतः परमाणुद्वय विभाग में ही विभागजनकत्व माना जायगा। अतएव विभागज विभाग माना जाता है। इस अभिप्राय से कहा कि **तदङ्गीकारेतु।** अर्थात् दो परमाणुओं के विभागात्मक कारणमात्र के विभाग से परमाणु और आकाशविभाग रूप कारणाकारण विभाग की उत्पति मान लेने पर तो विभाग = कारणमात्रविभाग किसी की अपेक्षा कारणाकारण विभाग को जन्म देगा। वह परमाणुद्वय संयोगनाश की अपेक्षा ही हो सकेगा। निरपेक्ष कारणमात्र विभाग यदि विभागका जनक होगा तब उसमें कर्म का लक्षण चला जायगा। क्योंकि वैशेषिक सूत्र में कर्म का लक्षण

अथ द्रव्यनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागजविभागः स्यात्तदैकादशक्षणा।

अथ नवक्षणा। तथाहि वह्निसंयोगात्परमाणौ कर्म। ततः परमाण्वन्तरेण विभागः। तत आरम्भकसंयोगनाशः। ततो द्व्यणुकनाशः।१। ततः परमाणौ श्यामादिनाशः।२। ततो रक्ताद्युत्पत्तिः।३। ततो द्रव्यारम्भानुगुणा क्रिया।४। ततो विभागः।५। ततः पूर्वसंयोगनाशः।६। तत आरम्भकसंयोगः।७। ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः।८। ततो रक्ताद्युत्पत्तिः।९।

ननु श्यामादिनाशक्षणे रक्तोत्पत्तिक्षणे वा परमाणौ द्रव्यारम्भानुगुणा क्रियाऽस्त्विति चेद्—

रम्भकसंयोगस्तदवच्छेदेन क्रियानुत्पत्त्या न विकसत्कमलकुड्मलभङ्गप्रसङ्ग इति तादृशनियमे मानाभावात् कारणमात्रविभागात् कारणाकारणविभागो नाङ्गीक्रियते, किन्तु कर्मणैव तादृशविभाग इत्याशयेनाह—विभागजविभागानङ्गीकारे इति।

इस प्रकार है। जैसे—**'संयोगविभागयोरनपेक्षं कारणं कर्म'** तात्पर्य यह है कि संयोग में अनपेक्षित कारण अथवा विभाग में किसी की अपेक्षा के विना जो कारण होता है वह कर्म है। अनपेक्ष शब्दका 'स्वोत्तरोत्पन्नभावान्तरानपेक्षत्वम्' अर्थ है। अपनी उत्पत्ति के अनन्तर किसी अन्य भावपदार्थ की अपेक्षा न रखना। यह लक्षणका तात्पर्य है। नहीं तो कर्मके अनन्तर संयोग की उत्पत्ति होने में पूर्वसंयोग के नाश की अपेक्षा होने से अव्याप्ति होगी। अब यदि द्रव्यारम्भकसंयोग के विनाश काल को लेकर विभागज विभाग (दो परमाणुओं के विभाग से जन्य परमाणु और आकाश का विभाग) माना जाता है तो पूर्व रूप के नाश और नये रूप की उत्पत्ति में **दशक्षण** लगते हैं।

यदि द्रव्य (द्व्यणुक) नाश क्षण के अव्यवहित उत्तर क्षण की अपेक्षा कारणमात्र विभाग से कारणाकारण विभाग मानते हैं तो रूपान्तरोत्पत्ति में एकादश क्षण लगते हैं।

प्रथम पक्ष के अनुसार रूपान्तरोत्पत्ति में नव क्षण की प्रक्रिया निम्नलिखित है। जैसे (क) **अग्निसंयोग से** द्रव्यारम्भक परमाणु में कर्म। तब (ख) परमाणुद्वय विभाग। तब (ग) द्व्यणुकारम्भक संयोग का नाश। (घ) तब द्व्यणुक का नाश (१)। तब परमाणु में श्यामरूप का नाश (२)। तब रक्त की उत्पत्ति (३)। तब द्रव्यारम्भक क्रिया (४)। तब विभाग (५)। तब पूर्व संयोग का नाश (६)। तब आरम्भक संयोग (७)। तब द्व्यणुकोत्पत्ति (८)। तब रक्त आदि रूप की उत्पत्ति (९) होती है। यह क्षण प्रक्रिया द्व्यणुक संख्या के अवयव परमाणु के विभाग से द्व्यणुक नाश क्षण में कारणाकारण-विभाग विभाग के स्वीकारपक्ष में होती है।

न, अग्निसंयुक्ते परमाणौ यत्कर्म तद्विनाशमन्तरेण गुणोत्पत्तिमन्तरेण च परमाणौ क्रियान्तराभावात्, कर्मवति कर्मान्तरानुत्पत्तेर्निर्गुणे द्रव्ये द्रव्यारम्भानुगुणक्रियानुपपत्तेश्च ।

तथापि परमाणौ श्यामादिनिवृत्तिसमकालं रक्ताद्युत्पत्तिः स्यादिति चेद् न, पूर्वरूपादिध्वंसस्यापि रूपान्तरे हेतुत्वात् । इति नवक्षणा ।

अथ दशक्षणा । सा च—आरम्भकसंयोगविनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागेन विभागजनने सति स्यात् । तथाहि–वह्निसंयोगात् द्व्यणुकारम्भके परमाणौ कर्म, ततो विभागः, तत आरम्भकसंयोगनाशः, ततो द्व्यणुकनाशविभागजविभागौ । १ । ततः श्यामनाशपूर्वसंयोगनाशौ । २ ।

विभागेन विभागजनने इति । **कारणविभागेन कारणाकारणविभागजनने सतीत्यर्थः** ।

यहाँ यह शङ्का होती है कि श्यामादिरूप क नाशक द्वितीय क्षण में अथवा रक्तोत्पत्ति क्षण (तृतीयक्षण) पें ही परमाणु में द्रव्यारम्भानुगुणक्रिया मान लेने में कोई बाधक नहीं है फिर आठ क्षण में ही गुण की उत्पत्ति बन जाती है नवम क्षण नहीं मानना पड़ेगा । यह कहना ठीक नहीं । क्योंकि अग्नि से संयुक्त परमाणु में जो कर्म है वह क्रियानाश के विना परमाणु में क्रियान्तर उत्पन्न करेगा नहीं क्योंकि कर्मवान् में कर्मान्तर की उत्पत्ति नहीं होती । अतः श्यामनाश क्षण में कर्म का नाश होने, उसके पूर्व क्षण में कर्म के रहने के कारण ही 'कर्मनाश' रूप कारण के अभाव में श्यामक्षण में क्रियान्तर की उत्पत्ति नहीं होती । इसी प्रकार रक्तोत्पत्तिक्षण में भी क्रियान्तर की उत्पत्ति नहीं हो सकती । क्योंकि अग्नि संयुक्त परमाणु में रक्तादि गुणों की उत्पत्ति के विना निर्गुण परमाणु में क्रियान्तर की उत्पत्ति नहीं हो सकती । अस्तु परमाणु में श्यामरूप का नाश और रक्त की उत्पत्ति एक क्षण में हो तो कोई दोष नहीं है यह कहना उचित नहीं । क्योंकि रूपान्तरोत्पत्ति में पूर्व रूप का नाश भी कारण माना जाता है । अतएव श्यामरूप के नाश के विना रक्त की उत्पत्ति उसी क्षण में नहीं होती । इस प्रकार **नवक्षण** प्रक्रिया समाप्त हुई ।

दूसरे पक्ष (दशक्षण पक्ष) में आरम्भक संयोगविनाश विशिष्ट काल की अपेक्षा कारण-विभाग से कारणाकारण के विभाग होने पर पुनः रक्तोत्पत्ति में दशक्षण लगते हैं । जैसे—अग्नि में क्रिया और उसके संयोग से द्व्यणुकारम्भक परमाणु में क्रिया । तब अग्नि और परमाणु का पूर्वदेश विभाग, तब द्रव्यारम्भक संयोगनाश, तब द्व्यणुकनाश और विभागज-विभाग (१) तब श्यामरूप नाश और पूर्वसंयोगनाश । (२) तब रक्तकी उत्पत्ति और

ततो रक्तोत्पत्त्युत्तरसंयोगौ । ३ । ततो वह्निनोदनजन्यपरमाणुकर्मणो नाशः । ४ । ततोऽदृष्टवदात्मसंयोगाद् द्रव्यारम्भानुगुणा क्रिया । ५ । ततो विभागः । ६ । ततः पूर्वसंयोगनाशः । ७ । तत आरम्भकसंयोगः । ८ । ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः । ९ । ततो रक्तोत्पत्तिः । १० । इति दशक्षणा ।

अथैकादशक्षणा—वह्निसंयोगात्परमाणौ कर्म, ततो विभागः, ततो द्रव्यारम्भकसंयोगनाशः, ततो द्व्यणुकनाशः । १ । ततो द्व्यणुकनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागजविभागश्यामनाशौ । २ । ततो पूर्वसंयोगनाशरक्तोत्पत्ती । ३ । तत उत्तरदेशसंयोगः । ४ । ततो वह्निनोदनजन्यपरमाणुकर्मनाशः । ५ । ततोऽदृष्टवदात्मसंयोगाद् द्रव्यारम्भानुगुणा क्रिया । ६ । ततो विभागः । ७ । ततः पूर्वसंयोगनाशः । ८ । ततो द्रव्यारम्भकोत्तरसंयोगः । ९ । ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः । १० । ततो रक्ताद्युत्पत्तिः । ११ । इति ।

मध्यशब्दवदेकस्मादग्निसंयोगान्न रूपनाशोत्पादौ तावत्कालमेकस्या-

---

उत्तरदेश संयोग (३) तब वह्निपरमाणुनोदन (संयोगजन्य परमाणुकर्म क्रिया) का नाश (४) तब अदृष्टवान् आत्मा के संयोग से द्रव्यारम्भ के अनुकूल क्रिया । (५) तब विभाग । (६) तब पूर्वसंयोग का नाश (७) तब द्रव्यारम्भक संयोग । (८) तब द्व्यणुक की उत्पत्ति । (९) तब रक्त की उत्पत्ति । (१०) इस प्रकार द्व्यणुक नाशकाल की अपेक्षा से विभागजविभाग मानने पर दशक्षण होते हैं ।

एकादशक्षणपक्ष—द्रव्यनाश विशिष्ट काल की अपेक्षा विभागजविभाग हो तो ग्यारह क्षण लगते हैं । जैसे—वह्निसंयोग से द्व्यणुकारम्भक दोनों परमाणुओं में क्रिया । तब द्रव्यारम्भक परमाणुद्वय का विभाग । तब द्रव्यारम्भकसंयोग का नाश । तब द्व्यणुकनाश (१) तब द्व्यणुकनाश विशिष्टकाल की अपेक्षा विभागजविभाग और श्यामरूप का नाश । (२) तब परमाणु और आकाशसंयोग का नाश तथा रक्त की उत्पत्ति । (३) तब उत्तरदेश (आकाश आदि) के साथ परमाणु संयोग । (४) तब वह्नि के संयोग से परमाणुकर्म का (क्रिया का) नाश । (५) तब अदृष्टवान् आत्मसंयोग सहकृत परमाणु और अग्नि का संयोग और द्रव्यारम्भानुकूला क्रिया । (६) तब सक्रिय परमाणुओं का देशान्तर से विभाग । (७) तब पूर्वसंयोगनाश । (८) तब द्रव्यारम्भक उत्तरदेशसंयोग । (९) तब द्व्यणुकोत्पत्ति । (१०) तब रक्तगुण की उत्पत्ति । (११) इस प्रकार ग्यारह क्षण में पुनः रक्त की उत्पत्ति होती है ।

यदि कहा जाय कि—जैसे मध्यम शब्द पूर्वशब्द का नाशक और उत्तर शब्द का

ग्नेरस्थिरत्वात् । किञ्च नाशक एव यद्युत्पादकः, तदा नष्टे रूपादावग्निनाशे नीरूपश्चिरं परमाणुः स्यात् । उत्पादकश्चेन्नाशकः, तदा रक्तोत्पत्तौ तदग्निनाशे रक्ततरता न स्यात् । इत्येकादशक्षणा ॥

अथ परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तनात्पञ्चमादिक्षणेऽपि गुणोत्पत्तिः । तथाहि—एकत्र परमाणौ कर्म, ततो विभागः, तत आरम्भकसंयोगनाशकपरमाण्वन्तरकर्मणी । ततस्तु द्व्यणुकनाशः, परमाण्वन्तरकर्मजश्च विभाग इत्येकः कालः । १ । ततः श्यामादिनाशः, विभागाच्च पूर्वसंयोगनाश इत्येकः कालः । २ । ततो रक्तोत्पत्तिर्द्रव्यारम्भकसंयोग इत्येकः कालः । ३ । अथ द्व्यणुकोत्पत्तिः । ४ । ततो रक्तोत्पत्तिः । ५ । इति पञ्चक्षणा ॥

उत्पादक है । वैसे एक ही अग्निसंयोग से पूर्वश्यामरूप का नाश तथा उत्तर रक्तरूप की उत्पत्ति हो जाय तथा जैसे मध्यम शब्द किसी रूप में अपना नाशक है और शब्दान्तर स्वसजातीय शब्द का उत्पादक भी है । वैसे एक ही अग्नि संयोग श्यामरूप का नाशक तथा रूपान्तरात्मक स्वसजातीय रूप का उत्पादक भी हो जाय तब तो एकक्षण कम हो सकता है किन्तु यह कहना ठीक नहीं । क्योंकि इतनी देर तक एक अग्नि स्थिर नहीं रह सकता । अतः द्व्यणुकनाशक अग्निसंयोग और श्यामरूपनाशक अग्निसंयोग एक नहीं हो सकते किन्तु भिन्न-भिन्न है । यदि नाशक ही अग्निसंयोग उत्पादक भी हो तो श्यामरूप के नष्ट हो जाने पर अग्नि का नाश माना जाय तो चिरकाल तक परमाणु नीरूप ही रह जायगा । यदि उत्पादक ही नाशक हो तो रक्त की उत्पत्ति हो जाने पर उस अग्नि के नाश होने से रक्ततर रूप न हो सकेगा । इस प्रकार ग्यारह क्षण की प्रक्रिया समाप्त हुई ।

यदि द्व्यणुकनाशक क्रिया वाले परमाणु से भिन्न उत्पन्न होने वाले द्व्यणुक के आरम्भक परमाणु में कर्म (क्रिया) का विचार किया जाय तो पाँचवें, छठें, सातवें अथवा आठवें क्षण में भी गुणोत्पत्ति हो सकती है । इनमें **आरम्भक संयोगनाश क्षण में किसी अन्य परमाणु में कर्म की उत्पत्ति होने से द्व्यणुक नाश क्षण से आगे पाँच क्षण में ही रूप की उत्पत्ति होती है ।** जैसे—एक द्व्यणुकावयव परमाणु में क्रिया । तब दो परमाणुओं का विभाग । तब द्व्यणुकारम्भक संयोग का नाश तथा अन्य द्व्यणुकावयव परमाणु में क्रिया । तब द्व्यणुकनाश, अन्य परमाणु की क्रियाजन्य अन्य परमाणु का आकाश से विभाग यह एक क्षण है (१) । आकाश के साथ परमाणु का पूर्वसंयोगनाश, तब अग्नि के संयोग से परमाणु में श्यामरूप का नाश, परमाणु और आकाश के विभाग से आकाश के साथ परमाणु का पूर्वसंयोगनाश । यह एक काल द्वितीयक्षण है (२) । तब परमाणुओं

द्रव्यनाशसमकालं परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तनात्षष्ठक्षणे गुणोत्पत्तिः, तथाहि—परमाणुकर्मणा परमाण्वन्तरविभागः, तत आरम्भकसंयोगनाशः । अथ द्व्यणुकनाशपरमाण्वन्तरकर्मणी । १ । अथ श्यामादिनाशः, परमाण्वन्तरकर्मजो विभागश्च । २ । ततो रक्तोत्पत्तिः परमाण्वन्तरे पूर्वसंयोगनाशश्च । ३ । ततः परमाण्वन्तरसंयोगः । ४ । ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः । ५ । अथ रक्तोत्पत्तिः । ६ । इति षट्क्षणा ।

एवं श्यामनाशक्षणे परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तनात्सप्तक्षणा । तथाहि—परमाणौ कर्म, ततः परमाण्वन्तरेण विभागः, ततः आरम्भकसंयोगनाशः । ततो द्व्यणुकनाशः । १ । ततः श्यामादिनाशपरमाण्वन्तरकर्मणी । २ । ततो रक्तोत्पत्तिः, परमाण्वन्तरकर्मजविभागश्च । ३ । ततः परमाण्वन्तरेण पूर्वसंयोगनाशः । ४ । ततः परमाण्वन्तरसंयोगः । ५ । ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः । ६ । ततो रक्तोत्पत्तिः । ७ । इति सप्तक्षणा ॥

में रक्तोत्पत्ति और द्रव्यारम्भक संयोग यह एक काल है (३) । तब द्व्यणुक की उत्पत्ति (४) । तब रक्त की उत्पत्ति (५) । इस प्रकार पाँच क्षण हुए ।

द्रव्यनाश क्षण में अन्य परमाणु में क्रिया की चिन्ता करने पर छठें क्षण में गुण की उत्पत्ति होगी । जैसे—अग्निसंयोग से एक परमाणु में क्रिया और उसका दूसरे परमाणु के साथ विभाग, तब द्रव्यारम्भकसंयोगनाश, तब द्व्यणुकनाश और अन्य परमाणु में कर्म (क्रिया) (१) । तब एक परमाणु में श्यामरूप का नाश तथा अन्य परमाणु में क्रिया के द्वारा आकाश से उसका विभाग (२) । तब एक परमाणु में रक्त की उत्पत्ति और अन्य परमाणु में पूर्वसंयोग नाश (३) । तब अन्य परमाणु से संयोग (४) । तब द्व्यणुक की उत्पत्ति (५) । तब रक्त की उत्पत्ति होती है (६) । इस प्रकार छः क्षण होते हैं ।

यदि श्यामरूप के नाश क्षण में अन्य परमाणु की क्रिया का चिन्तन करें तो सात क्षण होते हैं । जैसे—अग्निसंयोग से एक परमाणु में क्रिया, तब अन्य परमाणु से विभाग, तब आरम्भक संयोग का नाश, तब द्व्यणुक का नाश, यह एक क्षण है (१) । तब एक में श्यामरूप का नाश, तथा अन्य परमाणु में क्रिया (२) । तब एक में रक्त की उत्पत्ति तथा अन्य परमाणु की क्रिया से विभाग (३) । तब एक परमाणु का अन्य परमाणु से पूर्वसंयोग का नाश (४) । तब अन्य परमाणु का संयोग (५) । तब द्व्यणुक की उत्पत्ति (६) । तब रक्त की उत्पत्ति (७) । इस प्रकार सात क्षण होते हैं ।

एवं रक्तोत्पत्तिसमकालं परमाण्वन्तरे कर्मचिन्तनादष्टक्षणा। तथाहि-परमाणौ कर्म ततः परमाण्वन्तरविभागः, तत आरम्भकसंयोगनाशः, ततो द्व्यणुकनाशः। १। ततः श्यामनाशः। २। ततो रक्तोत्पत्तिपरमाण्वन्तरकर्मणी। ३। ततः परमाण्वन्तरकर्मजविभागः। ४। ततः पूर्वसंयोगनाशः। ५। ततः परमाण्वन्तरसंयोगः। ६। ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः। ७। अथ रक्तोत्पत्तिः। इत्यष्टक्षणा ॥ १०५ ॥

नैयायिकानां तु नये द्व्यणुकादावपीष्यते।

नैयायिकानामिति। नैयायिकानां मते द्व्यणुकादाववयविन्यपि पाको भवति। तेषामयमाशयः—अवयविनां सच्छिद्रत्वाद्वह्नेः सूक्ष्मावयवैरन्तः प्रविष्टावयवेष्ववष्टब्धेष्वपि पाको न विरुध्यते। वैशेषिकमते अनन्तावयवितन्नाशकल्पनेन गौरवात्। इत्थञ्च सोऽयं घट इत्यादि प्रत्यभिज्ञापि सङ्गच्छते। यत्र तु न प्रत्यभिज्ञा तत्रावयविनाशोऽपि स्वीक्रियत इति ॥

प्रत्यभिज्ञापि सङ्गच्छते इति। पूर्वावयविनाशे-तु उत्तरोत्पन्नावयविपूर्वावयविनोरभेदाभावादभेदावगाहि प्रत्यभिज्ञा न स्यादिति भावः ॥ १०४–१०५ ॥

यदि रक्तोत्पत्ति काल में अन्य परमाणु में क्रिया का चिन्तन करें तो आठ क्षण होते हैं। जैसे—एक परमाणु में क्रिया, तब अन्य परमाणु से विभाग, तब द्रव्यारम्भक संयोगनाश, तब द्व्यणुकनाश यह एक काल है (१)। तब एक परमाणु में श्यामरूप का नाश (२)। तक एक में रक्तोत्पत्ति और दूसरे परमाणु में क्रिया (३)। तब अन्य परमाणु में क्रिया से विभाग। (४) तब अन्य परमाणु में पूर्वसंयोग का नाश। (५) तब अन्य परमाणु का संयोग। (६) तब द्व्यणुक की उत्पत्ति। (७) तब रक्त की उत्पत्ति। (८) इस प्रकार आठ क्षण हुए। **इति क्षणप्रक्रिया।**

नैयायिकों के मत में अवयवी द्व्यणुक आदि में भी पाक होता है। १०५½।

नैयायिकों का तात्पर्य यह है कि—अवयवी घट आदि में सूक्ष्म छिद्र होता है उसमें अग्नि के सूक्ष्म अवयव भीतर प्रविष्ट हो जाते हैं अतः घट में आश्रित कपाल, कपालिका, द्व्यणुक, परमाणु में भी पाक होना विरुद्ध नहीं होता।

वैशेषिकों के मत में—अनन्त अवयवी उनका नाश आदि की कल्पना में गौरव भी है। इस प्रकार 'सोऽयं घटः' यह प्रत्यभिज्ञा भी बनती है। अन्यथा उत्तर-उत्तर अवयवी से पूर्व-पूर्व अवयवी का अभेद न होने से अभेदबोध कराने वाली प्रत्यभिज्ञा नहीं बनेगी। जहाँ प्रत्यभिज्ञा नहीं उत्पन्न होती वहाँ अवयवी का नाश, अन्य अवयवी की उत्पत्ति मान लेते हैं। किन्तु पाक तो अवयव और अवयवी दोनों में होता है।

सङ्ख्यां निरूपयितुमाह—

गणनाव्यवहारे तु हेतुः सङ्ख्याभिधीयते ॥ १०६ ॥

गणनेति। गणनाव्यवहारासाधारणकारणं सङ्ख्येत्यर्थः ॥ १०६ ॥

नित्येषु नित्यमेकत्वमनित्येऽनित्यमिष्यते।

द्वित्वादयः परार्द्धान्ता अपेक्षाबुद्धिजा मताः ॥ १०७ ॥

नित्येष्विति। नित्येषु—परमाण्वादिषु एकत्वं नित्यम्। अनित्ये घटादावेकत्वमनित्यमित्यर्थः। द्वित्वादयो व्यासज्यवृत्तिसङ्ख्या अपेक्षाबुद्धिजन्याः ॥ १०७ ॥

अपेक्षाबुद्धिजन्या इति। ननु प्रत्यक्षवृत्तिद्वित्वादेरपेक्षाबुद्धिजन्यत्वसम्भवेऽपि अतीन्द्रियगतद्वित्वादेर्नापेक्षाबुद्धिजन्यत्वसम्भवः। अतीन्द्रियाणामस्मदादेरप्रत्यक्षतया 'अयमेकः' 'अयमेकः' इत्यपेक्षाबुद्धेरसम्भवादिति चेन्न; अतीन्द्रियगतद्वित्वोत्पत्तयेऽस्मदादेरपेक्षाबुद्धेः कारणत्वासम्भवेऽपि ईश्वरीयापेक्षाबुद्धेरेव तत्र कारणत्वेन द्वित्वोत्पत्तिसम्भवात्।

संख्या का निरूपण करते हैं—एक, दो, तीन आदि व्यवहार के असाधारण कारण को संख्या कहते हैं। १०६।

नित्य परमाणु, आकाश आदि में नित्य एकत्व रहता है और अनित्य घट आदि में अनित्य एकत्व रहता है। द्वित्व से लेकर परार्ध तक संख्यायें अपेक्षाबुद्धिजन्य हैं। अतएव अनित्य भी हैं। १०७।

एकत्व संख्या नित्य और अनित्य दो प्रकार की है। परमाणु आदि नित्य पदार्थों में एकत्व नित्य है और अनित्य पदार्थ घट आदि में एकत्व अनित्य है। द्वित्व आदि संख्यायें जो उभयवृत्ति संख्यायें कही जाती हैं वे अपेक्षाबुद्धि से जन्य हैं। दो वस्तुओं से बने हुए द्वित्व में समवायिकारण दो वस्तु है, समवायिकारणगत एकत्व, द्वित्व के प्रति असमवायिकारण है, 'अयमेकः, अयमेकः' यह अपेक्षाबुद्धि द्वित्व की उत्पत्ति में निमित्तकारण है।

यहाँ यह शङ्का होती है कि प्रत्यक्षवृत्ति द्वित्व भले ही अपेक्षाबुद्धिजन्य हो किन्तु अतीन्द्रियवस्तुगत द्वित्व तो अपेक्षाबुद्धिजन्य नहीं बन सकता क्योंकि अतीन्द्रिय वस्तु में 'अयमेकः, अयमेकः' इत्यादि व्यवहार नहीं बन सकता। यह ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वर की अपेक्षाबुद्धि से अतीन्द्रिय में द्वित्व की उत्पत्ति बन सकती है। यदि ईश्वरीय अपेक्षाबुद्धि से अतीन्द्रिय में द्वित्व की उत्पत्ति मानते हैं तो ईश्वरीय अपेक्षाबुद्धि के नित्य होने के

अनेकाश्रयपर्याप्ता एते तु परिकीर्तिताः ।
अपेक्षाबुद्धिनाशाच्च नाशस्तेषां निरूपितः ॥ १०८ ॥

अनेकेति । यद्यपि द्वित्वादिसमवायः प्रत्येकं घटादावपि वर्तते, तथाप्येको द्वाविति प्रत्ययाभावात्, एको न द्वाविति प्रत्ययसद्भावाच्च द्वित्वादीनां पर्योप्तिलक्षणः कश्चन सम्बन्धोऽनेकाश्रयोऽभ्युपगम्यते ।

न च अतीन्द्रियगतद्वित्वस्येश्वरीयापेक्षाबुद्धिजत्वे तदीयापेक्षाबुद्धेर्नित्यतया नाशासम्भवेन तादृशद्वित्वस्यापि नित्यत्वापत्तिः । अपेक्षाबुद्धिनाशस्यैव द्वित्वनाशकत्वादिति वाच्यम् । तद्द्वित्वस्येश्वरीयापेक्षाबुद्धिसहकारिविशेषस्य क्षणविशेषस्य नाशादेव नाशोपपत्तेः । क्षणविशेषस्येश्वरीयापेक्षाबुद्धिसहकारित्वानङ्गीकारे सर्गाद्यकालीनपरमाणुद्वित्वोत्पत्तेः पूर्वं तद्द्वित्वोत्पादापत्तेः ।

न च 'अपेक्षाबुद्धिनाशाच्च नाशस्तेषां निरूपित' इति मूलविरोध इति वाच्यम् । अपेक्षाबुद्धिनाशाच्चेति मूलस्य आश्रयनाशोपलक्षकत्ववदीश्वरीयापेक्षाबुद्धिसहकारिविशेषक्षणविशेषोपलक्षकत्वस्वीकारेणादोषात् । तद्व्यक्तिमात्रनिष्ठेदन्त्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितैकत्वप्रकारताशालिनी बुद्धिरपेक्षाबुद्धिः ॥ १०६–१०७ ॥

अनेकाश्रय इति । उभयाद्याश्रय इत्यर्थः । तथा च तादृशप्रतीतेर्न द्वित्ववन्नेदाधारतावच्छेदकत्वमेकत्वे विषयः किन्तु पर्याप्तिसम्बन्धेन द्वित्वं तद्वन्नेदो वा एकत्वावच्छिन्ने प्रकारः । एवं च पर्याप्तिसम्बन्धेन द्वित्वस्य प्रत्येकमभावादेको द्वावित्यादि प्रत्ययस्यैको न द्वाविति प्रत्ययस्य चोपपत्तिरिति भावः ।

कारण द्वित्व भी नित्य होने लगेगा । किन्तु यह ठीक नहीं । क्योंकि ईश्वरीय अपेक्षाबुद्धि के सहकारी क्षण विशेष के नाश से द्वित्व का नाश माना जा सकता है । यदि अग्रिम कारिका में 'अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्व का नाश होता है' 'प्रतिपादित सिद्धान्त का विरोध होगा' कहा जाय तो ठीक नहीं । क्योंकि 'अपेक्षाबुद्धिनाशात्' पद की सहकारिविशेषक्षणविशेष अर्थ मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी । १०७ ।

ये द्वित्वादि 'पर्याप्ति' नामक स्वरूप सम्बन्ध से अनेक आश्रयों में रहते हैं । और अपेक्षाबुद्धि रूप द्वित्वादि के कारण के नाश से कार्य (द्वित्वादि) का नाश देखा गया है । १०८ ।

यद्यपि द्वित्व आदि का समवाय प्रत्येक घट में तथा समवायसम्बन्ध से 'द्वौ घटौ' यह व्यवहार बन भी जाता है । तथापि 'एकः द्वौ' यह प्रतीति नहीं होती तथा 'एकः न द्वौ' यह प्रतीति होती है । अतः व्यवहार के निर्वाह के लिए पर्याप्ति नाम के अनेक आश्रयों में

अपेक्षाबुद्धिनाशादिति । प्रथममपेक्षाबुद्धिः, ततो द्वित्वोत्पत्तिः, ततो विशेषणज्ञानं द्वित्वत्वनिर्विकल्पात्मकम्, ततो द्वित्वत्वविशिष्टप्रत्यक्षमपेक्षाबुद्धिनाशश्च, ततो द्वित्वनाश इति ।

यद्यपि ज्ञानानां द्विक्षणमात्रस्थायित्वं–योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवर्तिगुणनाश्यत्वात्, तथाप्यपेक्षाबुद्धेस्त्रिक्षणावस्थायित्वं कल्प्यते अन्यथा निर्विकल्पककालेऽपेक्षाबुद्धिनाशानन्तरं द्वित्वस्यैव नाशः स्यात्, न तु द्वित्वप्रत्यक्षं—तदानीं विषयाभावात्, विद्यमानस्यैव चक्षुरादिना ज्ञानजननोपगमात् । तस्माद् द्वित्वप्रत्यक्षादिकमपेक्षाबुद्धेर्नाशकं कल्प्यते ।

न चापेक्षाबुद्धिनाशात्कथं द्वित्वनाश इति वाच्यम्, कालान्तरे

रहनेवाले एक सम्बन्ध की कल्पना करनी चाहिए । पर्याप्ति सम्बन्ध से द्वित्व दो अधिकरणों में ही रहेगा । त्रित्व भी तीन अधिकरणों में ही रहेगा न्यून में नहीं ।

अपेक्षाबुद्धि तीन क्षण रहती है तथा चतुर्थ क्षण में उसका नाश होता है । इस वैशेषिक सिद्धान्त को बताने के लिए प्रक्रिया का प्रदर्शन करते हैं (१) प्रथमतः 'अयमेकः, अयमेकः' इस रूप में अनेक धर्मिविशेष्यक एकत्व प्रकारक प्रत्यक्षरूप अपेक्षाबुद्धि होती है । (२) तब द्वित्व की उत्पत्ति होती है । (३) तब निर्विकल्पात्मक 'द्वित्वद्वित्वत्व' यह विशेषणज्ञान (४) तब द्वित्वत्व विशिष्ट द्वित्व का प्रत्यक्ष और अपेक्षाबुद्धि का नाश । (५) तब द्वित्व का नाश ।

यद्यपि ज्ञानों की एक क्षण में उत्पत्ति, दूसरे क्षण में स्थिति और तीसरे क्षण में नाश होना न्याय के सिद्धान्त में माना गया है । इस प्रकार कोई भी ज्ञान दो क्षण के बाद तीसरे क्षण में नष्ट हो जाता है क्योंकि प्रत्यक्ष योग्य और विभुओं (आत्मा और आकाश) में रहने वाले विशेष गुणों (शब्द, बुद्धि (ज्ञान), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न) का अपने आगे आने वाले गुणों से नाश होना निश्चित है । तथापि अपेक्षाबुद्धि की तीन क्षण तक स्थिति मानते हैं । अन्यथा निर्विकल्पक के प्रत्यक्षकाल में अपेक्षाबुद्धि का नाश हो जायगा (क्योंकि वही तृतीयक्षण है) और उसके बाद द्वित्व का ही नाश होने लगेगा तथा द्वित्व का प्रत्यक्ष नहीं होगा क्योंकि चतुर्थ क्षण में तो द्वित्व नष्ट ही हो जायगा तब प्रत्यक्ष ही किसका होगा) यतः वर्तमान का ही नेत्र आदि से ज्ञान होना माना गया है । अतएव द्वित्व के प्रत्यक्ष को अपेक्षाबुद्धि का नाशक माना गया है । इस प्रकार द्वित्व प्रत्यक्ष के बाद ही अपेक्षाबुद्धि का नाश तथा अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्व का नाश माना गया है ।

यदि कहें कि अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्व का नाश क्यों होता है तो उत्तर स्पष्ट है कि कालान्तर में द्वित्व का प्रत्यक्ष ही नहीं होता । यतः अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व की उत्पत्ति होती

द्वित्वप्रत्यक्षाभावात्, अपेक्षाबुद्धिस्तदुत्पादिका तन्नाशात्तन्नाश इति कल्पनात्। अत एव तत्पुरुषीयापेक्षाबुद्धिजन्यद्वित्वादिकं ते नैव गृह्यत इति कल्प्यते।

न चापेक्षाबुद्धेर्द्वित्वप्रत्यक्षे कारणत्वमस्त्विति वाच्यम्, लाघवेन द्वित्वं प्रत्येव कारणत्वस्योचितत्वात्। अतीन्द्रिये द्व्यणुकादावपेक्षाबुद्धिर्योगिनाम्, सर्गादिकालीनपरमाण्वादावीश्वरीयापेक्षाबुद्धिः, ब्रह्माण्डान्तरवर्तियोगिनामपेक्षाबुद्धिर्वा द्वित्वादिकारणमिति ॥ १०८ ॥

अपेक्षाबुद्धिः केत्यत आह—

अनेकैकत्वबुद्धिर्या सापेक्षाबुद्धिरिष्यते।

अनेकेति। अयमेकोऽयमेक इत्याकारिका इत्यर्थः।

लाघवेनेति। **द्वित्वप्रत्यक्षत्वापेक्षया द्वित्वत्वस्य कार्यतावच्छेदकत्वे लाघवादिति भावः। द्वित्वं प्रति आश्रयगतैकत्वे असमवायिकारणम्, अपेक्षाबुद्धिर्निमित्तकारणम्,**

है अतः अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्व का नाश माना गया है। अतएव जिस व्यक्ति को अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व उत्पन्न होता है उसी व्यक्ति को उस द्वित्व का प्रत्यक्ष होता है यह माना जाता है।

यदि कहें कि अपेक्षाबुद्धि को द्वित्व के प्रत्यक्ष में कारण माना जाय तो ठीक नहीं। क्योंकि द्वित्वप्रत्यक्षत्व को कार्यतावच्छेदक मानने की अपेक्षा द्वित्वत्व को कार्यतावच्छेदक मानने में लाघव है। अतः अपेक्षाबुद्धि द्वित्व के प्रति ही कारण मानी जाती है। अतीन्द्रिय द्व्यणुक आदि द्वित्व में योगियों की अपेक्षाबुद्धि कारण है, सृष्टि के आरम्भकालीन परमाणु आदि में ईश्वरीय अपेक्षाबुद्धि कारण है। अथवा दूसरे ब्रह्माण्ड में रहने वाले योगी की अपेक्षाबुद्धि द्वित्वादि के प्रति कारण है। इस प्रकार द्वित्व के प्रति दो आश्रयों में स्थित दोनों एकत्व गुण असमवायिकारण हैं अपेक्षाबुद्धि निमित्तकारण है, आश्रयीभूत द्रव्य (जिसमें द्वित्व रहेगा) समवायिकारण है १०८।

अपेक्षाबुद्धि का स्वरूप लक्षण कहते हैं—

अनेक में एकत्वबुद्धि ('अयमेकः अयमेकः अयमेकः' इस प्रकार की बुद्धि को) अपेक्षाबुद्धि कहते हैं १०८½।

तात्पर्य यह है कि जहाँ तीन से अधिक और अनियत एकत्वज्ञान हो वहाँ त्रित्व संख्या से भिन्न बहुत्व संख्या उत्पन्न होती है। जैसे सेना, वन, सभा आदि में बहुत्व संख्या उत्पन्न

इदं तु बोध्यम्। यत्रानियतैकत्वज्ञानं तत्र त्रित्वादिभिन्ना बहुत्वसङ्ख्योत्पद्यते, यथा सेनावनादाविति कन्दलीकारः।

आचार्यास्तु त्रित्वादिकमेव बहुत्वं मन्यन्ते, तथाच त्रित्वत्वादिव्यापिका बहुत्वत्वजातिर्नातिरिच्यते। सेनावनादावुत्पन्नेऽपि त्रित्वादौ त्रित्वत्वाद्यग्रहो दोषात्। इत्थं चेतो बहुतरेयं सेनेति प्रतीतिरुपपद्यते। बहुत्वस्य सङ्ख्यान्तरत्वे तु तत्तारतम्याभावान्नोपपद्येतेत्यवधेयम्॥

परिमाणं निरूपयति—

परिमाणं भवेन्मानव्यवहारस्य कारणम् ॥ १०९ ॥

परिमाणमिति। परिमितिव्यवहारासाधारणं कारणं परिमाणमित्यर्थः॥

अणु दीर्घं महद्ध्रस्वमिति तद्भेद ईरितः।

आश्रयीभूतं द्रव्यं समवायिकरणमिति विवेकः। उत्पन्नेऽपीति। **अनियतैकत्वज्ञानस्यापि द्वित्वाद्युत्पादकत्वादिति भावः।** दोषादिति। **नियतानेकैकत्वज्ञानाभावरूपादित्यर्थः। यद्यपि अनियतानेकैकत्वज्ञानं त्रित्वोत्पत्तिकारणं तथापि त्रित्वविशेष्यकत्रित्वत्वप्रकारकप्रत्यक्षे नियतानेकैकत्वज्ञानस्य हेतुतया तं विना न त्रित्वत्वादिप्रकारकं प्रत्यक्षमित्याशयः।**

इतो बहुतरेति। **इतो बहुतरेत्यत्र बहुत्वे स्वसजातीयनिरूपितोत्कर्षप्रतीत्या चतुष्ट्वादिरूपे बहुत्वे त्रित्वादिरूपबहुत्वापेक्षयोत्कर्षसत्त्वात् तादृशप्रतीतिरुपपद्यते इति भावः।**

तारतम्याभावादिति। **त्वन्मते बहुत्वस्यैकरूपतया स्वसजातीयोत्कर्षाभावात् तारतम्यव्यवहारो न स्यादिति भावः॥ १०८–१०९ ॥**

होती है। लोक में भी अगणित जनसमूह के लिए बहुत लोग आये हैं कहा जाता है। यह प्रशस्तपादभाष्य की टीका **कन्दलीकार** का मत है।

उदयनाचार्य तो त्रित्व को ही बहुत्व मानते हैं। जैसे—त्रित्वत्व जाति की व्यापिका बहुत्वत्व जाति अतिरिक्त नहीं है। सेना, वन आदि में त्रित्व उत्पन्न तो होता है किन्तु दोषवश उसका ग्रहण नहीं होता। इस प्रकार 'इधर बहुतसेना है' यह प्रतीति भी बन जाती है। यदि त्रित्व से भिन्न बहुत्व संख्या हो तो संख्या में तरतमभाव नहीं बन सकेगा। १०८½।

परिमाण का निरूपण करते हैं—

परिमिति व्यवहार के असाधारण कारण को परिमाण कहते हैं। वह चार प्रकार का होता है (१) अणु, (२) महत्, (३) दीर्घ, (४) ह्रस्व १०९½।

तच्चतुर्विधम्—अणु महद् दीर्घं ह्रस्वं चेति ।

अनित्ये तदनित्यं स्यान्नित्ये नित्यमुदाहृतम् ॥ ११० ॥

सङ्ख्यातः परिमाणाच्च प्रचयादपि जायते ।

अनित्यं,

तत्—परिमाणम्। नित्यमित्यत्र परिमाणमित्यनुषज्यते। जायत इत्यत्रापि परिमाणमित्यनुवर्त्तते। अनित्यमिति पूर्वेणान्वितम्। तथा चानित्यपरिमाणं संख्याजन्यं परिमाणजन्य प्रचयजन्यं चेत्यर्थः॥

तत्र सङ्ख्याजन्यमुदाहरति—

द्व्यणुकादौ तु सङ्ख्याजन्यमुदाहृतम् ॥ १११ ॥

द्व्यणुकादाविति। द्व्यणुकस्य त्रसरेणोश्च परिमाणं प्रति परमाणुपरिमाणं द्व्यणुकपरिमाणं वा न कारणं–परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिमाणजनकत्वनियमात्। द्व्यणुकपरिमाणं तु परमाण्वणुत्वापेक्षया नोत्कृष्टम्। त्रसरेणुपरिमाणं तु न सजातीयम्। अतः परमाणौ द्वित्वसङ्ख्या द्व्यणुकपरिमाणस्य, द्व्यणुके त्रित्वसङ्ख्या च त्रसरेणुपरिमाणस्यासमवायिकारणमित्यर्थः॥ १११॥

परिमाणजन्यं परिमाणमुदाहरति—

परिमाणं घटादौ तु परिमाणजमुच्यते ।

परिमाणं घटादाविति। घटादिपरिमाणं कपालादिपरिमाणजन्यम्॥

प्रचयजन्यमुदाहर्तुं प्रचयं निर्वक्ति—

प्रचयः शिथिलाख्यो यः संयोगस्तेन जन्यते ॥ ११२ ॥

परिमाणं तूलकादौ,

प्रचय इति॥

परिमाणं चाश्रयनाशादेव नश्यतीत्याह—

नाशस्त्वाश्रयनाशतः ।

नाश इति। अर्थात्परिमाणस्यैव।

न चावयविनाशः कथं परिमाणनाशकः सत्यप्यवयविनि त्रिचतुरपर-

अणुमहदिति। **यद्यप्यणुत्वमेव ह्रस्वत्वमस्तु महत्त्वमेव दीर्घत्वमस्तु कृतं परिमाणचातुर्विध्येन यथापि तदवधिकतयाणुत्वेन प्रतीयमानेऽपि तदवधिकह्रस्वत्वस्याव्यवहारात्, यदवधिकमहत्त्ववत्तया प्रतीयमानेऽपि तदवधिकदीर्घत्वस्याव्यहारात्परिमाणचातुर्विध्यमिति ध्येयम्।**

परमाणौ द्वित्वसङ्ख्येति। **नन्वेवं घटगतमहत्परिमाणस्यापि कपालगतद्वित्वसङ्ख्यैव कारणमस्त्विति चेन्न, द्वित्वसङ्ख्याया महत्त्वाजनकत्वात् अन्यथा द्व्यणुकपरिमाणस्य परमाणुगतद्वित्वजन्यतया महत्त्वं स्यात्। नचोक्तापत्तिभिया द्वित्वत्वेन द्वित्वस्याजनकत्वेऽपि कपालगतद्वित्वत्वेन घटपरिमाणजनकत्वमस्त्विति वाच्यम्। कपालगतमहत्त्वोत्कर्षेण घटगतमहत्त्वोत्कर्षस्यानुभविकतया कपालगतमहत्त्वस्यैव घटपरिमाणजनकत्वौचित्यादिति तत्त्वम्॥ ११०–११२॥**

अर्थादिति। **प्रकरणादित्यर्थः।**

द्वितीयक्षणे चोत्पद्यते। **इत्यनन्तरं स्वाश्रयावयवगतैकत्वासमवायिकारणकं चेति पूरणीयम्।**

वह परिमाण अनित्य द्रव्य में अनित्य और नित्य द्रव्य में नित्य होता है। संख्याजन्य, परिमाणजन्य और प्रचयजन्य इस प्रकार तीन प्रकार का अनित्य परिमाण होता है। ११०½।

संख्याजन्य का उदाहरण—

द्व्यणुक आदि में संख्याजन्य परिमाण होता है। १११।

द्व्यणुक समवेत परिमाण के प्रति परमाणु परिमाण कारण नहीं है, इसी प्रकार त्रसरेणु समवेत परिमाण के प्रति द्व्यणुक परिमाण कारण नहीं है। क्योंकि 'परिमाण का स्वसमान जातीय जो स्वोत्कृष्ट परिमाण उसका जनक होना नियम है। अतः द्व्यणुक का परिमाण है मध्याणु वह परमाणु के अणुत्व की अपेक्षा उत्कृष्ट (अणुतर) नहीं है। त्रसरेणु परिमाण तो सजातीय नहीं है। क्योंकि त्रसरेणु में अपकृष्ट महत् परिमाण है वह द्व्यणुकनिष्ठ अणुत्व सजातीय नहीं है। अतः द्व्यणुक परिमाण में परमाणु की द्वित्व संख्या और त्रसरेणु परिमाण में द्व्यणुक की त्रित्व संख्या ही असमवायिकारण है। १११।

परिमाणजन्य का उदाहरण—

घट आदि में समवायसम्बन्ध से जन्य महत्परिमाण कपालद्वयनिष्ठ परिमाण से जन्य कहा जाता है। शिथिल संयोग को प्रचय कहते हैं। उससे तूलक (रूई) आदि में परिमाण उत्पन्न होता है। परिमाण का नाश भी आश्रय (अवयवी) के नाश से ही होता है ११२½।

मीमांसकों का मत है कि अवयवी के नाश से परिमाण का नाश मानना ठीक नहीं। क्योंकि अवयवी के बने रहने तथा तीन, चार परमाणुओं के झड़ जाने या बढ़ जाने पर

माणुविश्लेषे तदुपचये वावयविनः प्रत्यभिज्ञानेऽपि परिमाणान्तरस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वादिति वाच्यम् ।

परमाणुविश्लेषे हि द्व्यणुकस्य नाशोऽवश्यमभ्युपेयस्तन्नाशे च त्रसरेणुनाशः । एवं क्रमेण महावयविनो नाशस्यावश्यकत्वात्, सति च नाशकेऽनभ्युपगममात्रेण नाशस्यापलपितुमशक्यत्वात्, शरीरादावयवोपचयेऽसमवायिकारणनाशस्यावश्यकत्वादवयविनाश आवश्यकः ।

न च पटाद्यनाशेऽपि तन्त्वन्तरसंयोगात्परिमाणाधिक्यं न स्यादिति वाच्यम्,

तत्रापि वेमाद्यभिघातेनासमवायिकारणतन्तुसंयोगनाशात्पटनाशस्यावश्यकत्वात् ।

किञ्च तन्त्वन्तरस्य तत्पटावयवत्वे पूर्वं तत्पट एव न स्यात्, तन्त्वन्तररूपकारणाभावात्, तन्त्वन्तरस्यावयवत्वाभावे च न तेन परिमाणाधिक्यं संयुक्तद्रव्यान्तरवत् ।

तस्मात्तत्र तन्त्वन्तरसंयोगे सति पूर्वं पटनाशस्ततः पटान्तरोत्पत्ति-

---

वहाँ घट है प्रतीति तो होती है किन्तु परिमाण तो घट या बढ़ जाता है यह प्रत्यक्ष देखा गया है। किन्तु वह मीमांसकों का मत ठीक नहीं। क्योंकि परमाणु के निकल जाने से द्व्यणुक का नाश अवश्य मानना चाहिए। द्व्यणुक के नाश मान लेने पर त्रसरेणु का नाश मानना पड़ता है। मीमांसक यह कह सकते हैं कि मैं इस प्रकार नाश नहीं मानता तो उचित नहीं। क्योंकि नाशक के रहते न मानने से किसी के नाश का अपलाप करना अशक्य है। शरीर आदि में भी अवयवों की वृद्धि में असमवायिकारण का नाश अवश्य मानना है। अतः अवयवी का नाश मानना आवश्यक भी है।

यदि कहें कि अन्य परमाणु के अथवा अन्यतन्तु के संयोग होने पर भी पट का नाश देखा नहीं जाता न तो पूर्वपरिमाण का नाश अथवा न तो परिमाण की उत्पत्ति ही होती है। किन्तु यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि ऐसे पटों में भी 'वेमा' आदि के प्रहार से असमवायिकारण (तन्तुसंयोग) के नाश से पट का नाश मानना आवश्यक है।

एक पक्ष यह है कि जिस तन्तु से वस्त्र सिला गया वह तन्तु यदि सिले हुए वस्त्र का अवयव माना जाय तो सीने के पूर्व वह अन्य तन्तु रूप कारण के अभाव में पट ही सिद्ध न होगा। यदि अन्य तन्तु को अवयव नहीं मानते तो वस्त्र का परिमाण बढ़ ही नहीं सकता। जैसे अन्य द्रव्य के संयोग से किसी एक वस्तु का परिमाण नहीं बढ़ता। इसलिए जहाँ अन्य तन्तु का वस्त्र में संयोग है वहाँ भी पहिले पट का नाश। तब अन्य

रित्यवश्यं स्वीकार्यम् । अवयविनः प्रत्यभिज्ञानं तु साजात्येन दीपकलिकावत् ।

न च पूर्वतन्तव एव तन्त्वन्तरसहकारात्पूर्वपटे सत्येव पटान्तरमारभन्तामिति वाच्यम्,

मूर्तयोः समानदेशताविरोधात्तत्र पटद्वयासम्भवात्, एकदा नानाद्रव्यस्य तत्रोपलम्भस्य बाधितत्वाच्च । तस्मात्पूर्वस्य द्रव्यस्य प्रतिबन्धकस्य विनाशे द्रव्यान्तरोत्पत्तिरित्यस्यावश्यमभ्युपेयत्वात् ॥ ११२ ॥

सङ्ख्यावत्तु पृथक्त्वं स्यात्पृथक्प्रत्ययकारणम् ॥ ११३ ॥

सङ्ख्यावदिति । पृथक्प्रत्ययासाधारणं कारणं पृथक्त्वम् । तन्नित्यता-

---

द्विपृथक्त्वमिति । ननु घटौ पटात्पृथगिति प्रतीतेः घटावधिकैकपृथक्त्वद्वयादिनाप्युपपत्तौ द्विपृथक्त्वादिकं नाङ्गीकर्तव्यमिति चेन्न । घटौ पटात्पृथगिति प्रतीत्या उभयसमवेतद्विपृथक्त्वे सिद्धे तेनैव घटः पटात्पृथगितिप्रतीत्युपपत्तौ एकपृथक्त्वे मानाभाव इत्यस्यापि वक्तुं शक्यतया विनिगमनाविरहेणोभयोरप्यवश्यमङ्गीकर्तव्यत्वादिति ।

पट की उत्पत्ति इत्यादि क्रम अवश्य मानना चाहिए। यदि कहा जाय कि नये अवयव की उत्पत्ति मान लेने पर पहचान नहीं होनी चाहिए यह कहना भी उचित नहीं। क्योंकि जैसे दीपक की कलायें प्रतिक्षण भिन्न हैं फिर भी सजातीय होने से 'सैवेयं दीपकलिका' व्यवहार होता है। वैसे ही अवयवी का भी सजातीय होने से 'सोऽयं देवदत्तः' प्रत्यभिज्ञा बन ही जायगी।

यदि कहें कि पूर्वपट में ही उसके तन्तु अन्य तन्तुओं के साथ सहकार प्राप्त करके अन्य महापट आरम्भ करते हैं तो ठीक नहीं क्योंकि मूर्त (परिच्छिन्न परिमाण वाले) द्रव्यों की एक समवायिकारण में वृत्तिता विरुद्ध है। अतः परस्पर में दो पटों की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। और एक पट में एक काल में अनेक द्रव्यों की उपलब्धि प्रत्यक्ष बाधित भी है। अतः प्रतिबन्धकीभूत पूर्वद्रव्य के विनाश हो जाने के बाद ही उत्तर द्रव्योत्पत्ति होती है। यह सिद्धान्त अवश्य मानना पड़ता है।

पृथक्त्व का निरूपण—

'अयमस्मात् पृथक्' इस व्यवहार के असाधारण कारण को पृथक्त्व कहते हैं। वह संख्या की भाँति अनेक प्रकार का होता है। ११३।

पृथक् प्रत्यय के असाधारण कारण को पृथक्त्व कहते हैं। उसके भेद संख्या के समान है। जैसे—संख्या में नित्य पदार्थों में एकत्व नित्य है, अनित्य में एकत्व अनित्य है। वे

दिकं सङ्ख्यावत । तथाहि—नित्येष्वेकत्वं नित्यम् , अनित्येऽनित्यमेकत्व-माश्रयद्वितीयक्षणे चोत्पद्यते आश्रयनाशान्नश्यति, तथैकपृथक्त्वमपि, द्वित्वादिवच्च द्विपृथक्त्वादिकमपीत्यर्थः ॥ ११३ ॥

अन्योन्याभावतो नास्य चरितार्थत्वमिष्यते ।
अस्मात्पृथगिदं नेति प्रतीतिर्हि विलक्षणा ॥ ११४ ॥

नन्वयमस्मात्पृथगित्यादावन्योन्याभावो भासते तत्कथं पृथक्त्वं गुणान्तरं स्वीक्रियते—

न चास्तु पृथक्त्वं न त्वन्योन्याभाव इति वाच्यम् , रूपं न घट इति प्रतीत्यनापत्तेः । न हि रूपे घटावधिकं पृथक्त्वं गुणान्तरमस्ति, न वा

आश्रय के द्वितीय (स्थिति) क्षण में उत्पन्न होते हैं, आश्रय के नाश से नष्ट होते हैं। वैसे एक पृथक्त्व भी नित्य पदार्थों में नित्य, अनित्य में अनित्य तथा आश्रय के द्वितीय (स्थिति) क्षण में उत्पन्न तथा आश्रय के नाश से नष्ट होते हैं। इसी प्रकार जैसे द्वित्वादि संख्या 'अयमेकः, अयमेकः' इस अपेक्षाबुद्धि से जन्य है और कभी अपेक्षाबुद्धि के नाश होने के बाद नष्ट होती है तथा कभी आश्रय के नाश से नष्ट होती है। वैसे द्विपृथक्त्व भी 'स्वाश्रयावयवगतैकपृथक्त्वासमवायिकारणकम्' स्वः एकपृथक्त्व का आश्रयः घट के अवयव कपाल तद्गत एकपृथक्त्व का असमवायिकारणक 'इदमेकपृथक् इदमेकपृथक्' इस प्रकार को अपेक्षाबुद्धि से जन्य है और वैसी अपेक्षाबुद्धि के नाश से अथवा आश्रय के नाश से द्विपृथक्त्व भी नष्ट होता है। ११३।

अन्योन्याभाव में पृथक्त्व गुण को गतार्थ नहीं किया जा सकता क्योंकि 'इदमस्मात् पृथक्' और 'घटो न पटः' इन दोनों प्रतीतियों में विलक्षणता है। ११४।

यहाँ शङ्का यह होती है कि 'अयमस्मात् पृथक्' इत्यादि प्रतीति में अन्योन्याभाव ही माना जाय, पृथक्त्व नामक गुण की कल्पना क्यों स्वीकार की जाय ? किन्तु इस पर यह भी कहा जा सकता है कि पृथक्त्व गुण ही माना जाय अन्योन्याभाव क्यों स्वीकार किया जाय तो ठीक नहीं, क्योंकि 'रूपं न घटः' इस प्रकार की प्रतीति नहीं बन पायेगी। रूप में घट को अवधि बनाकर पृथक्त्व नाम का गुणान्तर है भी नहीं। क्योंकि गुण में गुणान्तर नहीं होते। घट में घटावधिक पृथक्त्व भी नहीं है जिससे परम्परा सम्बन्ध की कल्पना की जाय। इन शङ्काओं के समाधान के लिए कहते हैं—**अस्मात्** इति।

यदि कहें कि इदमस्मात् पृथक् तथा घटो न पटः इन दोनों के शब्दों में ही भेद है अर्थ में नहीं। तो भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि दोनों में भेद न होता तो जैसे 'घटात् पृथक्' में पञ्चमी होती है वैसे 'घटो न पटः' में

घटे घटावधिकं पृथक्त्वमस्ति, येन परम्परासम्बन्धः कल्प्येत इत्यत आह—अस्मादिति ।

ननु शब्दवैलक्षण्यमेव न त्वर्थवैलक्षण्यमिति चेद्—

न, विनार्थभेदं घटात्पृथगितिवद्घटो न पट इत्यत्रापि पञ्चमी-प्रसङ्गात् । तस्माद्यदर्थयोगे पञ्चमी सोऽर्थो नञर्थान्योन्याभावतो भिन्नो गुणान्तरं कल्प्यत इति ॥ ११४ ॥

संयोगं निरूपयति—

अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोग ईरितः ।
कीर्तितस्त्रिविधस्त्वेष आद्योऽन्यतरकर्मजः ॥ ११५ ॥

परम्परासम्बन्ध इति । सामानाधिकरण्यरूपपरम्परासम्बन्धविषयकत्वमुक्तप्रतीतेः कल्प्यमित्यर्थः । किंच प्रतीतेः सामानाधिकरण्यरूपपरम्पराविषयकत्वमङ्गीकृत्या-न्योन्याभावानङ्गीकारे एतद्घटावधिकपृथक्त्वस्य एतद्रूपेऽसत्त्वेन समवायेन एतद्घटा-वधिकपृथक्त्वस्यैतद्घटेऽसत्त्वेन परम्परासम्बन्धेन च पृथक्त्वस्यैतद्घटरूपेऽसत्त्वेन एतद्घटरूपमेतद्घटात्पृथगिति प्रतीत्यनुपपत्तिः । न च रूपावधिकस्य तद्रूपावधिकस्य वा पृथक्त्वस्य घटे सत्त्वात् स्वाधिकरणवृत्तित्वसम्बन्धेन घटनिष्ठं पृथक्त्वं रूपे वर्तते इति न दोष इति वाच्यम्, तथासति एतद्रूपमेतद्रूपात्पृथगिति प्रतीत्यापत्तेः। अन्योन्याभावस्यातिरिक्तस्याभ्युपगमे तु पृथक्पदस्यान्योन्याभावलक्षणया सर्वमुप-पादनीयमिति भावः ।

गुणान्तरमिति । परे तु अन्योन्याभाव एव पृथक्त्वं न तु गुणान्तरम् । न च घटो नेत्यत्र पञ्चम्यापत्तिः, अन्योन्याभावविशिष्टार्थकपदयोग एव 'अन्यारादितरर्ते'—इति सूत्रेण पञ्चमीविधानात् नञस्त्वन्योन्याभावमात्रार्थकत्वस्य सिद्धान्तितत्वात्। यदि च घटाद् भेद इत्यत्र पञ्चम्युपपत्तये 'अन्यारादि'ति सूत्रे अन्यपदेन अन्योन्या-भावार्थकपदयोगेऽपि पञ्चमीप्रयोजकतया गृह्यत इति घटो नेत्यत्र पञ्चमी दुर्वारेत्यु-च्युते तदा निपातातिरिक्तान्योन्याभावार्थकपदयोगस्यैव पञ्चमीप्रयोजकत्वमभ्यु-पेयम् । अनुशासनस्य प्रयोगानुरोधित्वादित्यदोषादिति वदन्ति ॥ ११३–११४ ॥

अप्राप्तयोरिति । अप्राप्तयोः अपृथक्सिद्धयोः या प्राप्तिः यः सम्बन्धः स संयोग

भी घट पद के आगे पञ्चमी का प्रयोग होता। अतः जिस अर्थ के योग से पञ्चमी आती है वह अर्थ नञर्थ अन्योन्याभाव से भिन्न गुणान्तर है यह कल्पना की जाती है। ११४।

संयोग निरूपण—

पृथक् सिद्ध वस्तुओं की प्राप्ति में जो परस्पर सम्बन्ध है उसे संयोग कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है। (१) अन्यतरक्रियाजन्य, (२) उभयक्रियाजन्य, (३) संयोगजन्य।

अप्राप्तयोरिति । तं विभजते–कीर्तित इति । एषः–संयोगः ॥ ११५ ॥

तथोभयक्रियाजन्यो भवेत्संयोगजोऽपरः ।
आदिमः श्येनशैलादिसंयोगः परिकीर्तितः ॥ ११६ ॥
मेषयोः सन्निपातो यः स द्वितीय उदाहृतः ।

सन्निपातः—संयोगः । द्वितीयः—उभयकर्मजः ॥

कपालतरुसंयोगात्संयोगस्तरुकुम्भयोः ॥ ११७ ॥
तृतीयः स्यात्कर्मजोऽपि द्विधैव परिकीर्तितः ।
अभिघातो नोदनं च शब्दहेतुरिहादिमः ॥ ११८ ॥
शब्दाहेतुर्द्वितीयः स्याद्,

इत्यर्थः । घटकपालयोः समवायस्य संयोगत्ववारणाय अप्राप्तयोरिति । घटकपालौ न पृथक्सिद्धौ कपाले एव घटोपलम्भादिति भावः ।

संयोगजोऽपर इति । ननु संयोगजसंयोगे मानाभावः यत्र कपालक्रियया कपालतरुसंयोगः ततः कुम्भतरुसंयोगस्तत्र कपालक्रियाया एव कुम्भतरुसंयोगं प्रति कारणत्वं न तु कपालतरुसंयोगस्येति चेत् ;

न, समवायेन संयोगं प्रति समवायेन क्रियायाः कारणत्वम् कुम्भे समवायेन क्रियाया अभावेन कुम्भे तरुसंयोगानुपपत्तेः क्रियायाः सामानाधिकरण्येन हेतुत्वान्तरकल्पनापेक्षया समवायेन संयोगस्यैव हेतुत्वकल्पनौचित्यादित्यलम् ।

पूर्ववदिति । संयोगवदित्यर्थः ॥ ११५–११९ ॥

इनमें प्रथम अन्यतर कर्मजसंयोग है 'श्येनशैलसंयोग' शैल स्थिर है किन्तु श्येन की क्रिया से शैल संयोग हुआ । यहाँ अन्यतर (दोनों में से एक) की क्रिया से दोनों का संयोग हुआ है ।

दूसरा है 'दो भेड़ों का संयोग' जैसे दो भेड़े जब युद्ध के लिए पीछे हटते हैं और उछल कर दोनों भिड़ जाते हैं । इस प्रकार से होने वाले संयोग को 'उभयक्रियाजन्यसंयोग' कहते हैं ।

तीसरा है 'कपाल और तरु के संयोग से तरु और घट का संयोग ।

संयोग के इन तीन भेदों से आदिम कर्मज भेद भी दो प्रकार का है । एक अभिघात और दूसरा नोदन (प्रेरणा) । इनमें शब्दजनक संयोग को अभिघात कहते हैं ।

तृतीय इति । संयोगजसंयोग इत्यर्थः । तृतीयः स्यादिति पूर्वेणान्वितम् । आदिमः—अभिघातः । द्वितीयो नोदनाख्यः संयोग इति ॥

विभक्तप्रत्ययासाधारणं कारणं विभागं निरूपयति—

विभागोऽपि त्रिधा भवेत् ।
एककर्मोद्भवस्त्वाद्यो द्वयकर्मोद्भवोऽपरः ॥ ११९ ॥
विभागजस्तृतीयः स्यात्तृतीयोऽपि द्विधा भवेत् ।
हेतुमात्रविभागोत्थो हेत्वहेतुविभागजः ॥ १२० ॥

विभाग इति ।

एककर्मेति । तदुदाहरणं तु श्येनशैलविभागादिकं पूर्ववद् बोध्यम् । तृतीयोऽपि—विभागजविभागः कारणमात्रविभागजन्यः कारणाकारणविभागजन्यश्चेति द्विविधः ।

आद्यस्तावत्–यत्र कपाले कर्म ततः कपालद्वयविभागः, ततो घटारम्भकसंयोगनाशः, ततो घटनाशः, ततस्तेनैव कपालविभागेन

अर्थात् जिस संयोग से शब्द हो उसे अभिघात कहते हैं । और शब्द न उत्पन्न करने वाले संयोग को नोदन कहते हैं । ११५-११८ ।

'इमौ विभक्तौ' प्रतीति के असाधारण कारण को विभाग कहते हैं । वह तीन प्रकार का होता है । (१) एक की क्रिया से जन्य, (२) दो की क्रिया से जन्य, (३) विभाग से जन्य । विभागज विभाग भी दो प्रकार का होता है । (१) कारणमात्र विभागजन्य, (२) कारणाकारण विभाग जन्य । १२० ।

१ **एक कर्मजन्यविभाग** जैसे—श्येन की क्रिया से श्येन शैल का विभाग ।

२ **उभयकर्मजन्यविभाग** जैसे–दोनों भेड़ों का युद्ध के लिए पीछे हटना ।

३ **विभागज-विभाग** जो तृतीय है और दो प्रकार का होता है । १—कारणमात्र के विभाग से जन्य, २—कारणा-कारण विभाग से जन्य । इनमें **पहला** जैसे—किसी कपाल में कर्म तब दो कपालों में विभाग, तब घटारम्भक संयोग का नाश, तब घटनाश, तब उसी कपाल विभाग से कर्म वान कपाल के साथ आकाश से भी विभाग होता है । तब आकाश संयोग का नाश, तब उत्तरदेश संयोग, तब कर्मनाश होता है ।

यदि कहा जाय कि जिस कपाल की क्रिया से कपालों का विभाग होता है उसी क्रिया से कपाल का देशान्तर विभाग भी क्यों नहीं होता । ठीक है किन्तु एक ही कर्म आरम्भक संयोग के विरोधी विभाग का जनक हो और वही कर्म अनारम्भ संयोग के विरोधी विभाग

सकर्मणः कपालस्याकाशविभागो जन्यते, तत आकाशसंयोगनाशः, तत उत्तरदेशसंयोगः, ततः कर्मनाश इति।

न च तेन कर्मणैव कथं देशान्तरविभागो न जन्यत इति वाच्यम्, एकस्य कर्मण आरम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनकत्वस्यानारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनकत्वस्य च विरोधात्। अन्यथा विकसत्कमलकुड्मलभङ्गप्रसङ्गात्, तस्माद् यदीदमनारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागं जनयेत्तदारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागं न जनयेत्।

न च कारणविभागेनैव द्रव्यनाशात्पूर्वं कुतो देशान्तरविभागो न जन्यत इति वाच्यम्।

आरम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागवतोऽवयवस्य सति द्रव्ये देशान्तरविभागासम्भवात्।

आरम्भकेति। **आरम्भकसंयोगः कपालद्वयसंयोगादिः तत्प्रतिद्वन्द्वी तन्नाशक इति यावत्।**

विकसदिति। **तन्नाग्रावच्छेदेनारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनककर्मणः सत्त्वात्तेन कर्मणा मूलावच्छिन्नारम्भकसंयोगविरोधिविभागोत्पत्तिस्तेन चारम्भकसंयोगनाशस्तेन कमलनाशः स्यादिति भावः।**

द्रव्यनाशात्पूर्वमिति। **घटाद्यात्मकद्रव्यनाशात्पूर्वमित्यर्थः। तथाच पूर्वोक्तं 'ततो घटनाशः ततः कपालस्याकाशविभागो जन्यते' इत्यसङ्गतमिति भावः।**

सति द्रव्ये। **द्रव्यनाशं विनेत्यर्थः।**

देशान्तरविभागासम्भवादिति। **अन्यथा कारणमात्राविभागे संयोगविभागयोरनपेक्षं**

का जनक हो यह उचित नहीं है क्योंकि एक ही कर्म से परस्पर विरुद्ध दो कार्य उत्पन्न करना विरुद्ध है। यदि कहा जाय कि ऐसा मानने में कोई बाधक तो नहीं है, ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से कमल के कुड्मल के भङ्ग का प्रसङ्ग आ पड़ेगा, यतः कमल के कुड्मल के विकास में जो क्रिया है यदि वह आरम्भक संयोग विरोधी विभाग की जनक और अनारम्भक संयोग विरोधी विभाग की जनक भी है तो कमल का भंग आ पड़ेगा। अतः मानना पड़ता है कि यदि यह अनारम्भक संयोग के विरोधी विभाग का जनक है तो आरम्भकसंयोग के विरोधी विभाग का जनक नहीं हो सकता।

यदि कहा जाय कि कारण विभाग से ही द्रव्यनाश होने के पूर्व देशान्तर विभाग क्यों नहीं उत्पन्न होता तो ठीक नहीं क्योंकि आरम्भक संयोगविरोधी विभागयुक्तअवयवों का द्रव्य नाश न होने की दशा में देशान्तर विभाग सम्भव नहीं है।

द्वितीयस्तावत्—यत्र हस्तक्रियया हस्ततरुविभागस्ततः शरीरेऽपि विभक्तप्रत्ययो भवति, तत्र शरीरतरुविभागो हस्तक्रिया न कारणं—व्यधिकरणत्वात्। शरीरे तु क्रिया नास्त्येव—अवयविकर्मणो यावदवयवकर्मनियतत्वात्। अतस्तत्र कारणाकारणविभागेन कार्याकार्यविभागो जन्यत इति। अत एव विभागो गुणान्तरम्, अन्यथा शरीरे विभक्तप्रत्ययो न स्यात्। अतः संयोगनाशेन विभागो नान्यथासिद्धो भवति॥ ११९-१२०॥

परापरव्यवहारनिमित्ते परत्वापरत्वे निरूपयति—

परत्वं चापरत्वं च द्विविधं परिकीर्तितम्।
दैशिकं कालिकं चापि मूर्त एव तु दैशिकम्॥ १२१॥
परत्वं मूर्तसंयोगभूयस्त्वज्ञानतो भवेत्।
अपरत्वं तदल्पत्वबुद्धितः स्यादितीरितम्॥ १२२॥

कारणं कर्मेति कर्मलक्षणस्यातिव्याप्त्यापत्तेः। कारणमात्रविभागस्य द्रव्यनाशमनपेक्ष्य विभागजनकत्वादिति भावः॥ १२०॥

मूर्त एव तु दैशिकमिति। **विभुद्रव्ये विप्रकृष्टदेशमात्रवृत्तित्वसन्निकृष्टदेशमात्रवृत्तित्वबुद्धेर्निमित्तकारणस्य दिक्संयोगस्यासमवायिकारणस्य चाभावादिति भावः।**

दूसरा जैसे—हस्त की क्रिया से हाथ और तरुका विभाग तब 'शरीर वृक्ष से विभक्त है' यह प्रतीति होती है। यहाँ शरीर और तरु के विभाग में हाथ की क्रिया कारण नहीं है क्योंकि अवयवी के जितने भी कर्म हैं सब अवयवों के कर्म पर नियत हैं। अतएव कारण और अकारण के विभाग से कार्य और अकार्य का विभाग उत्पन्न होता है। यही कारण है कि विभाग एक गुण माना जाता है। और शरीर में विभक्त प्रतीति भी होती है। इसी लिये 'संयोग नाश मान लेने से कार्य बन जाता है विभाग नहीं मानना चाहिए क्योंकि वह अन्यथा सिद्ध है' यह कहना खण्डित हो जाता है।

पर और अपर व्यवहार के निमित्तकारण परत्व और अपरत्व के लक्षण का निरूपण करते हैं—

"परत्व और अपरत्व दो दो प्रकार के होते हैं जैसे—देशकृत परत्व, कालकृत परत्व, और देशकृत अपरत्व और कालकृत अपरत्व। इनमें देशकृत परत्व अथवा अपरत्व मूर्तद्रव्य में होता है। क्योंकि विभुद्रव्य में विप्रकृष्टदेशमात्रवृत्तित्व अथवा सन्निकृष्टदेशमात्रवृत्तित्व बुद्धि ही दैशिक परत्वापरत्व में निमित्त कारण होगी

परत्वमपरत्वं चेति। दैशिकमिति। दैशिकपरत्वं बहुतरमूर्तसंयोगान्तरितत्वज्ञानादुत्पद्यते, एवं तदल्पीयस्त्वज्ञानादपरत्वमुत्पद्यते। अत्रावधित्वार्थं पञ्चम्यपेक्षा, यथा पाटलिपुत्रात्काशीमपेक्ष्य प्रयागः परः, पाटलिपुत्रात्कुरुक्षेत्रमपेक्ष्य प्रयागोऽपर इति॥ १२१–१२२॥

तयोरसमवायी तु दिक्संयोगस्तदाश्रये।

तयोर्दैशिकपरत्वापरत्वयोः। असमवायी—असमवायिकारणम्। तदाश्रये–दैशिकपरत्वापरत्वाश्रये॥

दिवाकरपरिस्पन्दभूयस्त्वज्ञानतो भवेत्॥ १२३॥
परत्वमपरत्वं तु तदीयाल्पत्वबुद्धितः।
अत्र त्वसमवायी स्यात्संयोगः कालपिण्डयोः॥ १२४॥

और दिक्संयोग असमवायिकारण होगा किन्तु उभयविध कारणों के अभाव में दैशिक परत्व अथवा अपरत्व विभुद्रव्य में नहीं रह सकता। अतः मूर्तद्रव्य में ही रहता है। दैशिक परत्व अनेक मूर्तों के संयोग से अन्तरित ज्ञान होने से होता है। अपरत्व अल्पतर मूर्तसंयोगान्तरित ज्ञान से होता है॥ १२२॥

दैशिकपरत्व की बहुतर मूर्तसंयोगान्तरितत्व ज्ञान से उत्पत्ति होती है। और दैशिक अपरत्व की अल्पतर मूर्तसंयोगान्तरितत्व ज्ञान से उत्पत्ति होती है। यहाँ 'ज्ञानतः' में पञ्चमी अर्थ में तसि प्रत्यय है। और पञ्चमी का अर्थ अवधित्व है (अपेक्षा)। उदाहरण जैसे—पाटलिपुत्र (पटना) से काशी की अपेक्षा प्रयाग पर है अथवा पाटलिपुत्र से कुरुक्षेत्र की अपेक्षा प्रयाग अपर।

दैशिक परत्व और अपरत्व के आश्रय (प्रयाग आदि) में दिक्संयोग। दैशिक परत्व और अपरत्व का असमवायि कारण है

कालिक परत्व दिवाकर के बहुतर परिस्पन्दज्ञान से होता है। इसी प्रकार दिवाकर के अल्पतर परिस्पन्दज्ञान से अपरत्व की उत्पत्ति होती है। कालिकपरत्व अथवा अपरत्व की उत्पत्ति में काल और देह पिण्ड का संयोग असमवायिकारण है॥ १२३–१२४॥

यह परत्व और अपरत्व का कालिक विवेचन है। यहाँ भी ज्ञानतः में पञ्चमी का अर्थ अपेक्षा है; जैसे–सूर्यपरिस्पन्द की अपेक्षा जिसका सूर्यपरिस्पन्द अधिक है वह ज्येष्ठ है और जिसका सूर्यपरिस्पन्द की अपेक्षा सूर्यपरिस्पन्द न्यून है वह कनिष्ठ है। कालिकपरत्व का आश्रय ज्येष्ठ और अपरत्व का आश्रय कनिष्ठ कहा जाता है। यह कालिकपरत्व और

दिवाकरेति। अत्र परत्वमपरत्वं च कालिकं ग्राह्यम्। यस्य सूर्यपरिस्पन्दापेक्षया यस्य सूर्यपरिस्पन्दोऽधिकः स ज्येष्ठः, यस्य न्यूनः स कनिष्ठः। कालिकपरत्वापरत्वे जन्यद्रव्य एव। अत्र—कालिकपरत्वापरत्वयोः॥ १२३–१२४॥

अपेक्षाबुद्धिनाशेन नाशस्तेषां निरूपितः।

तेषां–कालिकदैशिकपरत्वापरत्वानाम्॥

क्रमप्राप्तां बुद्धिं निरूपयितुमाह—

बुद्धेः प्रपञ्चः प्रागेव प्रायशो विनिरूपितः॥ १२५॥

जन्य एवेति। अत्र जन्यपदं सप्तम्यन्तम्, नित्ये तत्पूर्वोत्पन्नत्वरूपज्येष्ठत्वबुद्धेः तदनन्तरोत्पन्नत्वरूपकनिष्ठत्वबुद्धेर्निमित्तकारणस्य, कालसंयोगरूपासमवायिकारणस्य चाभावादिति भावः।

अपेक्षाबुद्धिनाशेनेति। **स्वनिमित्तकारणविप्रकृष्टत्वादिबुद्धीनां नाशेनेत्यर्थः।**

परे तु बहुतरसंयोगान्तरितत्वरूपविप्रकृष्टत्वाल्पसंयोगान्तरितत्वरूपसंनिकृष्टत्वाभ्यां दैशिकपरत्वापरत्वव्यवहारस्य, बहुतरस्पन्दान्तरितजन्यत्वरूपज्येष्ठत्वाल्पतरस्पन्दान्तरितजन्यत्वरूपकनिष्ठत्वाभ्यां च कालिकपरत्वव्यवहारस्योपपत्तेर्न तयोर्गुणान्तरत्वम्। अत्र च यत्काले ज्येष्ठत्वबुद्धिरुत्पद्यते तत्कालमादाय स्पन्दन्यूनाधिकते अवसेये। अतो न कनिष्ठेऽधिकजीविनि परत्वव्यहारापत्तिरिति वदन्ति॥ १२१–१२२॥

अपरत्व जन्यद्रव्य में ही होता है। **अत्र**—कालिक परत्व और अपरत्व में काल का देह पिण्ड के साथ संयोग असमवायिकारण है। कालद्रव्य है अतः देहद्रव्य के साथ संयोग होता है। क्योंकि संयोग द्रव्य में ही होता है॥ १२३–१२४॥

कालिक तथा दैशिक परत्व अथवा अपरत्व की अपेक्षा बुद्धि के नाश होने से नाश होता है। स्वनिमित्तकारण से विप्रकृष्टत्व अथवा सन्निकृष्टत्व बुद्धि दैशिकपरत्व अथवा दैशिक अपरत्व के सम्बन्ध में अपेक्षाबुद्धि है। इसी प्रकार बहुतरस्पन्दान्तरितत्व अथवा अल्पतरस्पन्दान्तरितत्व बुद्धि कालिक परत्व अथवा कालिक अपरत्व के सम्बन्ध में अपेक्षाबुद्धि है। यहाँ जिस काल की अपेक्षा में ज्येष्ठबुद्धि होती है उसी काल की अपेक्षा ज्येष्ठ तथा कनिष्ठ व्यवहार होता है। अत एव चिरंजीवी कनिष्ठ को ज्येष्ठ नहीं कहा जाता है।

क्रम के अनुसार बुद्धि गुण का निरूपण करते हैं—

प्रायः बुद्धि के सम्बन्ध में जो कुछ कहना था वह आत्मा का निरूपण करते हुए विस्तार से कहा जा चुका है। तथापि कुछ अवशिष्ट भाग का प्रदर्शन किया जा रहा है।

अथावशिष्टोऽप्यपरः प्रकारः परिदर्श्यते ।

बुद्धेरिति ॥

अप्रमा च प्रमा चेति ज्ञानं द्विविधमिष्यते ॥ १२६ ॥

तच्छून्ये तन्मतिर्या स्यादप्रमा सा निरूपिता ।

तत्प्रपञ्चो विपर्यासः संशयोऽपि प्रकीर्तितः ॥ १२७ ॥

तत्राप्रमां निरूपयति—तच्छून्य इति । तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानं भ्रम इत्यर्थः ।

तत्प्रपञ्चोऽप्रमाप्रपञ्चः ॥ १२५ ॥ १२६ ॥ १२७ ॥

आद्यो देहेष्वात्मबुद्धिः शङ्खादौ पीततामतिः ।

भवेन्निश्चयरूपा या,

आद्य इति । विपर्यास इत्यर्थः । शरीरादौ निश्चयरूपं यदात्मत्वप्रकारकं ज्ञानं गौरोऽहमित्याकारकम्, एवं शङ्खादौ पीतः शङ्ख इत्याकरकं यज्ज्ञानं निश्चयरूपं तद्भ्रम इति ॥

तदभाववतीति । तत्प्रकारकं ज्ञानमित्येतन्मात्रोक्तौ पमायामतिव्याप्तिरतस्तदभाववतीति । तदभाववद्विशेष्यकतदभावप्रकारकप्रमायामतिव्याप्तिवारणाय तत्प्रकारकमिति । इच्छायामतिव्याप्तिवारणाय ज्ञानमिति ॥ १२६–१२८ ॥

बुद्धि और ज्ञान पर्यायवाचक हैं यह कहा जा चुका है। ज्ञान दो प्रकार का है एक प्रमा और दूसरा अप्रमा। प्रमा का निरूपण किया जा चुका है। अब अप्रमा का निरूपण करते हैं। तत् शून्य में तत् बुद्धि को अप्रमा बुद्धि कहते हैं। यहाँ तत् पद तद्धर्म परक है। अतः 'तद्धर्माभाववत् में तद्धर्म प्रकारक ज्ञान अप्रमा है' यह अप्रमा का लक्षण होगा। इसे ही भ्रम कहते हैं। अप्रमा के विपर्य और संशय दो भेद हैं॥ १२५–१२७ ॥

इनमें प्रथमतः विपर्यास का लक्षण है देह में आत्मा होने का निश्चयात्मक बुद्धि होना, अथवा शंख का पीला होने की निश्चयात्मक बुद्धि होना।

यहाँ आद्य शब्द से प्रथम पठित विपर्यास को समझना चाहिए। शरीर आदि में जो 'गौरोऽहम्' इस अनुभव के आधार पर निश्चयात्मक आत्मत्वप्रकारक 'मैं (देह) आत्मा हूँ' इस रूप में ज्ञान को विपर्यास कहते हैं। इसी प्रकार शङ्ख आदि श्वेत द्रव्यों में 'पीतः शंखः' इस रूप में निश्चयात्मक ज्ञान को भी अप्रमा कहते हैं। यह अप्रमाबुद्धि भ्रमात्मिका है। अतः इसे भ्रम कहा जाता है।

—संशयोऽथ प्रदर्शयते ॥ १२८ ॥

किंस्विन्नरो वा स्थाणुर्वेत्यादिबुद्धिस्तु संशयः ।

तदभावाप्रकारा धीस्तत्प्रकारा तु निश्चयः ॥ १२९ ॥

किंस्विदिति । किंस्विदिति वितर्के ।

निश्चयस्य लक्षणमाह—तदभावेति । तदभावाप्रकारकं तत्प्रकारकं ज्ञानं निश्चयः ॥ १२८ ॥ १२९ ॥

संशयं लक्षयति—

स संशयो मतिर्या स्यादेकत्राभावभावयोः ।

साधारणादिधर्मस्य ज्ञानं संशयकारणम् ॥ १३० ॥

स संशय इति एकधर्मिकविरुद्धभावाभावप्रकारकं ज्ञानं संशय इत्यर्थः ।

तदभावाप्रकारकमिति : संशयेऽतिव्याप्तिवारणायेदम् । अत्र च तद्विशेष्यकत्वावच्छिन्नतदभावप्रकारताशून्यतद्विशेष्यकत्वावच्छिन्नतत्प्रकारकत्ववज्ज्ञानत्वं यत्र तत्र तन्निश्चयत्वमवसेयम् नतु यथाश्रुतम् । 'महानसोऽयं वह्निमान्नवा, पर्वतो वह्निमान्' इत्यस्य पर्वते वह्निनिश्चयत्वानापत्तेः । ज्ञानपदमिच्छायामतिव्याप्तिवारणाय ।

अब संशय का आकार प्रदर्शन करते हैं 'क्या यह नर है अथवा स्थाणु है' इस प्रकार की बुद्धि को संशय कहते हैं। जिसके धर्म का अभाव प्रकार (विशेषण) नहीं किन्तु धर्म ही प्रकार (विशेषण) हो उस ज्ञान को निश्चय कहते हैं।

यहाँ किंस्वित् शब्द वितर्क अर्थ में है। विविधि प्रकार के तर्क को वितर्क कहते हैं॥

संशय का लक्षण कहते हैं—

वह संशय बुद्धि है जो एक ही वस्तुमें भाव और अभाव रूप से हो। दोनों (भाव तथा अभाव) कोटि में रहने वाले साधारण धर्म का ज्ञान संशय का कारण है। १३०

एक धर्मी (वस्तु) में परस्पर विरुद्ध भावाभाव प्रकारक ज्ञान को संशय कहते हैं। 'घटः द्रव्यं पृथिवी च' इस ज्ञान में अतिव्याप्ति वारण के लिए 'भावाभाव' पद है। 'ह्रदपर्वतौ वह्नि तदभाववन्तौ' इस ज्ञान में अतिव्याप्ति वारण के लिए एकधर्मिक पद है। 'वृक्षः संयोगवांस्तदभाववांश्च' इस समुच्चय में अतिव्याप्ति वारण के लिए विरुद्ध पद है। इच्छा में अतिव्याप्ति वारण के लिए ज्ञान पद है।

साधारणेति। उभयसाधारणो यो धर्मस्तज्ज्ञानं संशयकारणम्। यथोच्चैस्तरत्वं स्थाणुपुरुषसाधारणं ज्ञात्वायं स्थाणुर्न वेति सन्दिग्धे।

एवमसाधारणधर्मज्ञानमपि। यथा शब्दत्वस्य नित्यानित्यव्यावृत्तत्वं शब्दे गृहीत्वा शब्दो नित्यो न वेति सन्दिग्धे।

एकधर्मिकेति। एकधर्मिकं ज्ञानं संशय इत्युक्तौ घटो द्रव्यं पृथिवी चेति ज्ञानेऽतिव्याप्तिरतो भावाभावेति। ह्रदपर्वतौ वह्नितदभाववन्तौ इत्यत्रातिव्याप्तिवारणाय एकधर्मिकेति। वृक्षः संयोगवांस्तदभाववांश्चेति समुच्चयवारणाय विरुद्धेति। इच्छाव्युदासार्थं विशेष्यदलम्। तथा च एकधर्मिकेत्यस्य एकधर्मितावच्छेदकविशिष्टविशेष्यकत्वावच्छिन्नेत्यर्थः. तेन पर्वतो वह्निमान् द्रव्यं वह्न्यभाववदिति ज्ञानव्युदासः।

वस्तुतस्तु एकधर्मावच्छिन्नविशेष्यकत्वानिवेशे पर्वतो वह्निमान् द्रव्यं वह्न्यभाववदिति ज्ञानेऽतिव्याप्तिः, निवेशे च निरवच्छिन्नविशेष्यतावच्छेदकताकसंशयासङ्ग्रहः इति स्वीयैककोटिप्रकारतावच्छिन्नप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकतावच्छेदकीभूतापरकोटिप्रकारताशालिज्ञानत्वं संशयत्वमिति ध्येयम्।

भाव और अभाव कोटि में रहने वाले असाधारण धर्म ज्ञान को संशय का कारण माना जाता है। जैसे—ऊँचाई स्थाणु और पुरुष में समान रूप की होने पर संशय होता है कि 'यह ऊंची वस्तु स्थाणु है अथवा पुरुष'। इसी प्रकार असाधारण धर्म ज्ञान भी संशय में कारण है। जैसे—शब्दत्व धर्म नित्य = आकाश आदि और अनित्य = घट आदि में नहीं रहता किन्तु शब्द में रहता है 'अतएव शब्दो नित्यो न वा' संशय होता है। इस प्रकार शब्द के असाधारण धर्म शब्दत्व के ज्ञान होने पर भी संशय बनता है।

गौतम ने—'समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः' सूत्र में 'विशेषापेक्षो विमर्शः' संशय का लक्षण माना है तात्पर्य यह है कि 'एकधर्मिकभावाभावप्रकारकत्वरूप विशेषवान् = विशेषापेक्ष विमर्श ज्ञान को संशय कहते हैं। संशय के कारणों में भावाभाव कोटिद्वय सहचरित साधारणधर्म ऊर्ध्वत्व आदि, अनेकों = (सपक्षों तथा विपक्षों) से व्यावृत्त असाधारण धर्म नित्यानित्यव्यावृत्तशब्दत्व आदि के ज्ञान से संशय उत्पन्न होता है। अर्थात् साधारण धर्म ज्ञान और असाधारण धर्म ज्ञान संशय का कारण है। इसी तरह विप्रतिपत्ति = विरुद्ध कोटिद्वयप्रतिपादक वाक्य 'शब्दो नित्यो न वा' भी संशय का जनक है। इसी प्रकार उपलब्धि = प्रामाण्य, अनुपलब्धि = अप्रामाण्य की अव्यवस्था भी संशय का कारण है, चकारात् व्याप्य के संशय भी व्यापकसंशय में कारण होता है। इस प्रकार संशय के अनेककारणों का उल्लेख किया है। किन्तु मुक्तावली में केवल साधारण धर्म तथा असाधारण धर्म ज्ञान को ही संशय

विप्रतिपत्तिस्तु शब्दो नित्यो न वेत्यादिशब्दात्मिका न संशयकारणम्, शब्दव्याप्तिज्ञानादीनां निश्चयमात्रजनकत्वस्वभावात्। किन्तु तत्र शब्देन कोटिद्वयज्ञानं जन्यते संशयस्तु मानस एवेति।

एवं ज्ञाने प्रामाण्यसंशयाद्विषयसंशय इति। एवं व्याप्यसंशयादपि

न संशयकारणमिति। समानानेकधर्मोपपत्तेविप्रतिपत्तिरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः इति हि गौतमं सूत्रम्। अयमर्थः-समानधर्मः कोटिद्वयसहचरितधर्मः, साधारणो धर्मः ऊर्ध्वत्वादिकमिति यावत्, अनेकस्मात् सपक्षाद् विपक्षाच्च व्यावृत्तो धर्मः असाधारणो धर्मः नित्यानित्यव्यावृत्तशब्दत्वादिकमिति यावत्, तयोरुपपत्तेर्ज्ञानात् संशयः अर्थात् साधारणधर्मज्ञानमसाधारणधर्मज्ञानं च संशयजनकं, विप्रतिपत्तिः विरुद्धकोटिप्रतिपादकं वाक्यं शब्दो नित्यो नवेति रूपं संशयजनकम्, उपलब्धिः प्रामाण्यम्, अनुपलब्धिरप्रामाण्यं तयोरव्यवस्था संशयः। प्रामाण्यसंशयः अप्रमाण्यसंशयश्च विषयसंशयकरणम्। चात् व्याप्यसंशयजन्यो व्यापकसंशय इत्यादेः संग्रहः। विशेषापेक्षो विमर्श इति लक्षणम् एकधर्मिकभावाभावप्रकारकत्वरूपविशेषवान् विशेषापेक्षः विमर्शः ज्ञानमिति। एवं च साधारणासाधारणधर्मज्ञानस्यैव संशयजनकत्वे विप्रत्तिपत्तेः संशयाजकत्वेन सूत्रविरोध इत्यत आह किंत्विति—

मानस एवेति। तथा च विप्रतिपत्तेरित्यत्र पञ्चम्या न जन्यत्वमर्थः, किन्तु प्रयोज्यत्वमिति न सूत्रविरोध इति भावः।

प्रामाण्यसंशयादिति। प्रामाण्यपदमप्रामाण्यस्याप्युपलक्षणम् तेन अप्रामाण्यसंशयादपि विषयसंशय इति लभ्यते।

का जनक माना है। इस प्रकार सूत्रकार से विपरीत ग्रन्थकार का मत है यह कहना ठीक नहीं क्योंकि—

विप्रतिपत्तिवाक्य से उत्पन्न ज्ञान 'शब्दो नित्यो न वा' यह शब्दात्मक है। अतः संशय का कारण नहीं है। यतः शब्दज्ञान, व्याप्तिज्ञान और अतिदेश वाक्यार्थज्ञान में स्वभावतः निश्चयमात्र जनकत्व ही रहता है। हाँ, विप्रतिपत्ति स्थल में शब्द से भावाभावात्मककोटिद्वय का स्मारणत्मक ज्ञान होता है। अनुभूयमान संशय तो मानस है। अतः विप्रतिपत्तेः में पंचमी का जन्यत्व अर्थ नहीं किन्तु 'प्रयोज्यत्व' अर्थ मान लेने से सूत्र कार से और ग्रन्थकार से विरोध भी नहीं रहता।

इसी प्रकार 'इदं जलम्' ज्ञान में 'इदं जलत्वप्रकारक ज्ञानं प्रमा न वा' अथवा इदं जलत्व प्रकारकं ज्ञानं अप्रमा न वा' इस प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य संशय से विषय में संशय होता है।

व्यापकसंशय इत्यादिकं बोध्यम्। किन्तु संशये धर्मिज्ञानं धर्मीन्द्रियसन्निकर्षो वा कारणमिति ॥ १३० ॥

दोषोऽप्रमाया जनकः, प्रमायास्तु गुणो भवेत् ।

दोष इति । अप्रमां प्रति दोषः कारणम्, प्रमां प्रति गुणः कारणम्। तत्रापि पित्तादिरूपा दोषाः अननुगताः तेषां कारणत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां

व्याप्यसंशयादिति। **ननु व्याप्यसंशयस्य व्यापकसंशयहेतुत्वे मानाभावः कोटिद्वयस्मरणादित एव तत्सम्भवादिति चेन्न महानसे हुताशो न जलहदे इति स्मरणवतः पर्वतमपि पश्यतः धूमसंशयसत्त्वासत्त्वाभ्यां हुताशनसंशयसत्त्वासत्त्वदर्शनाद् व्याप्यसंशयस्य व्यापकसंशयहेतुत्वसिद्धेरिति।**

न च साधारणधर्मज्ञानादेः संशयजनकत्वे परस्परं व्यभिचार इति वाच्यम् कार्यतावच्छेदकेऽव्यवहितोत्तरत्वनिवेशेनादोषात्।

ननु साधारणधर्मज्ञानादेरिव धर्मिज्ञानस्यापि संशयजनकत्वात् तत्कृतः संशयविभागः कुतो न कृत इत्यत आह—किन्त्विति।

संशये—**संशयमात्रे। तथा च संशयत्वसमव्याप्तत्वात् धर्मिज्ञानजन्यतावच्छेदकस्य न संशयविभाजकतावच्छेदकत्वमिति भावः।**

ननु धर्मिज्ञानस्य संशयजनकत्वे मानाभावः। न च धर्मिज्ञानमन्तरेण संशयापत्तिरेव मानमिति वाच्यम्, इन्द्रियसन्निकर्षे सतीष्टापत्तेरित्यताह—इन्द्रियसन्निकर्षो वेति **॥ १३० ॥**

इसी प्रकार व्याप्य धूम में 'पर्वतो धूमवान्नवा' इस संशय से 'पर्वतो वह्निमान्नवा' इस रूप में व्यापक का संशय होता है। यदि कहा जाय कि व्याप्य संशय से व्यापक संशय होता है इस कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है। तो ठीक नहीं क्योंकि 'महानसे हुताशो न जलहदे' इस प्रकार स्मरण वाले को जो पर्वत भी देख रहा है उसे धूमसंशय के होने अथवा न होने से हुताशन संशय का होनो अथवा न होना देखा जाता है। अतः यह सिद्ध होता है कि व्याप्य संशय व्यापक संशय में कारण है।

इसी प्रकार संशय मात्र में धर्मी का ज्ञान अथवा धर्मी के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष भी कारण है।

अप्रमात्मक ज्ञान का जनक दोष तथा प्रमात्मक ज्ञान का जनक गुण है।

अप्रमात्मक ज्ञान होने में दोष कारण है। प्रमात्मक ज्ञान होने में गुण कारण है। इनमें 'पीतः शंखः' इस प्रकार के अप्रामाणिक ज्ञान में पित्त आदि दोष अननुगत हैं। किस अप्रामाण्यज्ञान के प्रति क्या दोष कारण हैं यह तो अन्वयव्यतिरेक के द्वारा ही निर्णय किया जा सकता है। अप्रमात्मक ज्ञान के जनक गुण तो अनुमान से ही सिद्ध किये जा सकते हैं।

सिद्धम्। गुणस्य प्रमाजनकत्वं तु अनुमानात्सिद्धम्। यथा प्रमा ज्ञानसाधारणकारणभिन्नकारणजन्या जन्यज्ञानत्वात् अप्रमावत्।

न च दोषाभाव एव कारणमस्त्विति वाच्यम्, पीतः शङ्ख इति ज्ञानस्थले पित्तदोषसत्त्वाच्छङ्खत्वप्रमानुत्पत्तिप्रसङ्गात्, विनिगमनाविरहादनन्तदोषाभावस्य कारणत्वमपेक्ष्य गुणस्य कारणताया न्याय्यत्वात्।

न च गुणसत्वेऽपि पित्तेन प्रतिबन्धाच्छङ्खे न श्वैत्यज्ञानमतः पित्तादिदोषाभावानां कारणत्वमवश्यं वाच्यं तथाच किं गुणस्य हेतुत्वकल्पनयेति वाच्यम्, तथाप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां गुणस्यापि हेतुत्वसिद्धेः। एवं भ्रमं प्रति गुणाभावः कारणमित्यस्यापि सुवचत्वात्।

भगवज्ज्ञाने व्यभिचारवारणाय हेतौ जन्येति।

दोषाभाव एवेति। **तथा चार्थान्तरमिति भावः।**

ननु पित्तात्मकदोषाभावः श्वैत्यप्रमायामेव कारणं न शङ्खप्रमायामत आह-विनिगमनाविरहादिति। **प्रमायां दोषाभावः गुणो वा कारणमित्यत्र विनिगमनाविरहादिति भावः।**

वस्तुतो गुणहेतुतायामेव विनिगमकमस्तीत्याह—न्याय्यत्वादिति।

गुणस्यापीति। **तथा च पित्तादिदोषाभावसत्वेऽपि विशेषणवद्विशेष्यरूपगुणाभावान्न शङ्खे पीतत्वप्रमेति दोषाभावेन न गुणस्यान्यथासिद्धिरिति भावः।**

जैसे—'प्रमा ज्ञानसाधारण कारण भिन्न कारण जन्या जन्यज्ञानत्वात् अप्रमावत्। अर्थात् प्रमात्मकज्ञान ज्ञान के साधारण कारण में से भिन्न कारण से जन्य है जैसे अप्रमाज्ञान।

यदि कहा जाय कि दोषाभाव ही प्रमाज्ञान का जनक है गुण नहीं, तो ठीक नहीं क्योंकि 'पीतः शंखः' ज्ञान में पीतत्व प्रकारक शंख विशेष्यक ज्ञान के अप्रामाणिक होने पर भी शंखत्व प्रकारक शंख विशेष्यक ज्ञान प्रामाणिक माना जाता है। जो पित्त दोष के कारण दोषाभाव न होने से प्रमात्मक नहीं कहा जा सकेगा। यदि कहा जाय कि पित्तात्मकदोषाभाव श्वैत्यप्रमा में ही कारण है शंख प्रमा में नहीं, तो ठीक नहीं क्योंकि गुण को प्रमा के प्रति कारण माना जाय या दोषाभाव को इसमें कोई भी निर्णायक युक्ति नहीं है। अतः अनन्तदोषाभावों को कारण मानने में गौरव होने से गुण को कारण मानना लाघव है तथा अभाव की अपेक्षा भाव को कारण मानना न्याय भी है।

यदि कहा जाय कि प्रमाज्ञानोत्पादक गुण के रहने पर भी पित्तदोष के कारण 'श्वेतः शंखः' ज्ञान नहीं होता। अतः मानना चाहिए कि 'श्वेतः शंखः' इस प्रमात्मक ज्ञान के प्रति पित्तादि दोषाभाव कारण है। फिर इतने से ही प्रमाज्ञान उत्पन्न होगा। गुण को कारण मानना उचित नहीं है। यह पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि रूपवाले वस्त्र में पीतरूपात्मक

पित्तदूरत्वादिरूपो दोषो नानाविधः स्मृतः ॥ १३१ ॥

तत्र दोषाः के इत्याकाङ्क्षायामाह-पित्तेति । क्वचित्पीतादिभ्रमे पित्तं दोषः, क्वचिच्चन्द्रादेः स्वल्पपरिमाणभ्रमे दूरत्वं दोषः, क्वचिच्च वंशोरगभ्रमे मण्डूकवसाञ्जनमित्येवं रूपा दोषा अननुगता एव भ्रान्तिजनका इत्यर्थः ॥ १३१ ॥

अथ के गुणाः ? इत्याकाङ्क्षायां प्रत्यक्षादौ क्रमशो गुणान्दर्शयति—

प्रत्यक्षे तु विशेष्येण विशेषणवता समम् ।
सन्निकर्षो गुणस्तु स्यादथ त्वनुमितौ पुनः ॥ १३२ ॥
पक्षे साध्यविशिष्टे तु परामर्शो गुणो भवेत् ।
शक्ये सादृश्यबुद्धिस्तु भवेदुपमितौ गुणः ॥ १३३ ॥
शाब्दबोधे योग्यतायास्तात्पर्यस्याथ वा प्रमा ।

शक्ये इति । गवयो गवयपदवाच्य इत्युपमितौ गवयत्वावच्छिन्ने शक्ये सादृश्यज्ञानं कारणम् शाब्दबोधे योग्यताप्रमा तात्पर्यप्रमा वा कारणमित्यर्थः ॥१३१-१३४॥

विशेषण वाले विशेष्य वस्त्र से इन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर 'पीतः पटः' यह प्रमात्मक ज्ञान होता है और पित्तादिदोष के न होने पर भी **विशेषणवद् विशेष्य** रूप गुण के अभाव में शंख में पीतत्वप्रमा नहीं होती । इस अन्वयव्यतिरेक के द्वारा गुण को प्रामत्मक ज्ञान के प्रति कारण माना गया है ।

इसी प्रकार जैसे प्रमा के प्रति गुण की भांति दोषाभाव भी कारण है वैसे भ्रम के प्रति दोष की भांति गुणाभाव भी कारण माना जाना चाहिए ।

दोष अनेक प्रकार के हैं । जैसे पित्त, दूरत्व आदि ! वे दोष कौन है इस आकांक्षा पर उत्तर है कि कहीं श्वेत को पीत समझने पर पित्तदोष है । कहीं चन्द्रमा के छोटा दिखाई पड़ने में दूरत्व दोष है । कहीं वाँस में सर्प भ्रम होने में मेढक की वसा से बने हुए अंजन रूप दोष है । इस प्रकार विभिन्न भ्रमों में विभिन्न प्रकार के दोषों के होने से भ्रान्ति के कारणों का अनुगम होना कठिन ही है । १६१ ।

अब गुणों के स्वरूप क्या हैं इस आकांक्षा पर कौन प्रमा में क्या गुण हैं यह प्रदर्शित करते हैं—

प्रत्यक्षप्राम के जनक विशेषणवद्विशेष्यसन्निकर्षगुण है । और अनुमिति प्रमा का जनक साध्यविशिष्ट पक्षमें परामर्श गुण है । उपमितिप्रमा का जनक शक्य = गवय आदि में सादृश्यबुद्धि गुण है । शाब्दप्रमा का जनक योग्यता प्रमा अथवा तात्पर्यप्रमा गुण है ।

गुणः स्याद्, अपभिन्नं तु ज्ञानमत्रोच्यते प्रमा ॥ १३४ ॥

प्रत्यक्षे त्विति । प्रत्यक्षे विशेषणवद्विशेष्यसन्निकर्षो गुणः । अनुमितौ साध्यवति साध्यव्याप्यवैशिष्ट्यज्ञानं गुणः । एवमग्रेऽप्यूह्यम् ।

प्रमां निरूपयति-भ्रमभिन्नमिति ॥ ३२-१३४ ॥

ननु यत्र शुक्तिरजतयोरिमे रजते इति ज्ञानं जातं तत्र रजतांशेऽपि प्रमा न स्यात् तज्ज्ञानस्य भ्रमभिन्नत्वाभावादत आह—

अथ वा तत्प्रकारं यज्ज्ञानं तद्वद्विशेष्यकम् ।
तत्प्रमा, न प्रमा नापि भ्रमः स्यान्निर्विकल्पकम् ॥१३५॥
प्रकारतादिशून्यं हि सम्बन्धानवगाहि तत् ।

अथवेति । तद्वद्विशेष्यकत्वे सति तत्प्रकारकं ज्ञानं प्रमेत्यर्थः । अथैवं स्मृतेरपि प्रमात्वं स्यात्, ततः किमिति चेत्, तथासति तत्करणस्यापि

तद्वद्विशेष्यकत्वे सतीति । तद्वद्विशेष्यकत्वावच्छिन्नतत्प्रकारकत्ववज्ज्ञानमित्यर्थः । सति सप्तम्या अवच्छिन्नार्थकत्वात् । तत्प्रकारकभ्रमेऽतिव्याप्तेस्तद्वद्विशेष्यकेति । रजते एव द्रव्यमिति बुद्धे रजतत्वप्रमात्वापत्तिरतस्तत्प्रकारकेति । ज्ञानपदं तादृशेच्छाया-मतिव्याप्तिवारणाय । एवं-तत्प्रकारकत्वनिवेशे इत्यर्थः ।

प्रमा का लक्षण बताते हैं—

भ्रमभिन्न ज्ञान को प्रमा कहते हैं । १३२-१३४ ।

यदि भ्रमभिन्न ज्ञान को ही प्रमा कहा जाय तो जहां शुक्ति तथा रजत दोनों में 'इमे रजते' ज्ञान है । वहां शुक्ति अंश में भ्रम तथा रजत अंश में प्रमा है । किन्तु ज्ञान के एक होने से भ्रमभिन्न नहीं कहा जा सकता यतः रजतांश में भी प्रमा नहीं बनेगी । अतः लक्षणान्तर कहते हैं—**अथवा**

तद्वद्विशेष्यक तत्प्रकारक ज्ञान को प्रमा कहते हैं । निर्विकल्पकज्ञान न तो प्रमा है न तो भ्रम ही है । क्योंकि वह प्रकारतादि सम्बन्ध से रहित होता है । १३५½ ।

तद्वद् (घटत्ववत्) विशेष्यकत्वे सति तत् (घटत्व) प्रकारक ज्ञान को प्रमा कहते हैं । 'तत्प्रकारकं ज्ञानं प्रमा' मात्र लक्षण करने पर 'रङ्ग में रजत बुद्धि भी रजतत्वप्रकारक होने से प्रमा कहा जायगी । अतः अतिव्याप्ति वारण के लिए तद्वद्विशेष्यक पद है । रजत में द्रव्यं' ज्ञान होने पर रजतत्वप्रमा वारण के लिए तत्प्रकारक पद है । रजतत्व प्रकारक रजतत्ववद्विशेष्यक इच्छा में अतिव्याप्ति वारण के लिए ज्ञान पद है ।

यहां शङ्का होती है कि घटत्ववद्विशेष्यक घटत्व प्रकारक स्मृतिज्ञान में भी प्रमा के

प्रमाणान्तरत्वं स्यादिति चेद्—न यथार्थानुभवकरणस्यैव प्रमाणत्वेन विवक्षितत्वात् ।

इदं तु बोध्यम् । येन सम्बन्धेन यद्वत्ता तेन सम्बन्धेन तद्विशेष्यकत्वं तेन सम्बन्धेन तत्प्रकारकत्वं च वाच्यम्, तेन कपालादौ संयोगादिना घटादिज्ञाने नातिव्याप्तिः ।

एवं सति निर्विकल्पकं प्रमा न स्यात्, तस्य सप्रकारकत्वाभावादत आह-न प्रमेति ।

ननु वृक्षे कपिसंयोगज्ञानं भ्रमः प्रमा च स्यादिति चेद् न-प्रतियोगिव्यधिकरणसंयोगाभाववति संयोगज्ञानस्य भ्रमत्वात् ।

लक्षण की अतिव्याप्ति होगी । यदि इष्टापत्ति कहें तो ठीक नहीं क्योंकि यदि स्मृति प्रमा होगी तो स्मृतिकाकरण अनुभव अथवा संस्कार भी चार प्रमाणों के अतिरिक्त पांचवां प्रमाण होने लगेगा । किन्तु यह शंका ठीक नहीं । क्योंकि यथार्थानुभवजन्य स्मृति यथार्थज्ञान तो मानी जाती है किन्तु यथार्थानुभवकरण ही प्रमाण माना गया है ।

प्रमा के लक्षण में यह और समझ लेना चाहिए कि जिस वस्तु में जिस सम्बन्ध से जो धर्म रहता है उस वस्तु में उस सम्बन्ध से तद्विशेष्यकत्व तथा उस सम्बन्ध से तत्प्रकारकत्व होना चाहिए । अतः **'संयोगेन घटवत्, कपालम्'** इस भ्रम में अतिव्याप्ति नहीं हुई । अन्यथा प्रमालक्षण में सम्बन्ध का निवेश न होने पर समवाय सम्बन्ध से घटवत्कपालविशेष्यकघटप्रकारकत्व होने से अतिव्याप्ति होती । उक्त प्रकार से सम्बन्ध घटित लक्षण मान लेने पर कपाल में संयोगेन घटवत्ता भ्रम में अतिव्याप्ति नहीं है क्योंकि संयोगेन कपाल में घटवत्ता बुद्धि होती ही नहीं है अर्थात् अप्रसिद्ध है ।

किन्तु उक्त प्रकार से प्रमा का लक्षण मान लेनेपर निर्विकल्पकप्रमा न बनेगी क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान में प्रकारकत्व नहीं होता । अतः मूल कारिका में लिखा कि निर्विकल्पकज्ञान न तो प्रमा है और न तो भ्रम ही । इस प्रकार प्रमा के दूसरे लक्षण के पक्ष में ज्ञान के तीन विभाग मानने पड़ते हैं ।

१—अप्रमा, २—प्रमा, ३—निर्विकल्पक (प्रमा और भ्रम (अप्रमा) से भिन्न) जो इष्ट ही हैं ।

अब शङ्का होती है कि 'तदभाववति तत्प्रकारक ज्ञान भ्रम' है तथा 'तद्विशेष्यक तत्प्रकारक ज्ञान' प्रमा है । भ्रम और प्रमा के दोनों लक्षणों का 'वृक्षः कपिसंयोगी' इस ज्ञान में समन्वय होता है । जैसे मूलावच्छेदेन कपिसंयोगाभाववान् वृक्ष में कपिसंयोग प्रकारक ज्ञान भ्रम होगा । तथा वृक्ष विशेष्यक कपिसंयोगत्व प्रकारक ज्ञान होने से प्रमात्मक ज्ञान

न च वृक्षे कपिसंयोगाभावावच्छेदेन संयोगज्ञानं भ्रमो न स्यात्तत्र संयोगाभावस्य प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वादिति वाच्यम्, तत्र संयोगाभावावच्छेदेन संयोगज्ञानस्य भ्रमत्वात् । लक्ष्यस्याननुगमाल्लक्षणाननुगमेऽपि न क्षतिः ॥ १३५ ॥

(अथ प्रामाण्यवादः)

प्रमात्वं न स्वतो ग्राह्यं संशयानुपपत्तितः ॥ १३६ ॥

संयोगाभावावच्छेदेनेति । मूलावच्छेदेन संयोगाभाववति वृक्षे मूलावच्छेदेन संयोगवान् इति बुद्धेर्भ्रमत्वं न स्यादित्यर्थः ।

भ्रमत्वादिति । तदर्थं संयोगाभावावच्छेदकावच्छेदेन संयोगज्ञानं भ्रम इति लक्षणान्तरस्य स्वीकर्तव्यत्वादिति भावः ।

नन्वेवं लक्षणाननुगम इत्यत आह—लक्ष्यस्येति ।

अथ पाकघटे श्यामरूपवत्ताप्रतीतेः प्रमात्वं स्यादिति चेदिष्टापत्तेः । घटस्य कदाचिच्छ्यामत्वात् वर्तमानत्वस्य च प्रमात्वाघटकत्वादित्यलम् ॥ १३५ ॥

प्रमात्वं—तद्वति तत्प्रकारकत्वम् ।

न स्वतो ग्राह्यमिति ।

होता है । इस प्रकार वृक्षः कपिसंयोगी 'ज्ञान में भ्रम तथा प्रमाज्ञान के लक्षण समन्वय से ज्ञान सांकर्य आ पड़ता है । किन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि प्रतियोगिव्यधिकरणकपिसंयोगाभाववति संयोगज्ञान को भ्रम कहते है ।

यदि कहा जाय कि मूलावच्छेदेन संयोगाभाववान् वृक्ष में मूलावच्छेदेन संयोगवान बुद्धि में भ्रम लक्षण की अव्याप्ति होगी । क्योंकि संयोगाभाव प्रतियोगिसमानाधिकरण है व्यधिकरण नहीं । तो ठीक नहीं क्योंकि ऐसे स्थलों में संयोगाभावावच्छेदन संयोग ज्ञान को ही भ्रम माना जायगा ।

इस प्रकार व्याप्यवृत्ति, अव्याप्यवृत्ति लक्ष्यों के भेद से भ्रम के लक्षणों में भेद होना स्वाभाविक है । अर्थात् जब लक्ष्य का अनुगम नहीं होगा तो लक्षणों का अनुगम न होना दोष नहीं है । अर्थात् असमाधेय दोष है । जो दोष असमाधेय होता है वह दोष नहीं माना जाता । १३५ ।

(प्रामाण्यवाद)

[इस प्रकार प्रमात्व का निरूपण करने के बाद यह जिज्ञासा होती है कि प्रत्यक्षादि ज्ञानों में जो प्रमात्व 'तद्वति तत्प्रकारकत्व' है वह किस करण से गृहीत होता है । अथवा ज्ञान में अप्रमात्व (अप्रामाण्य) का ग्राहक कौन हो सकता है । इस पर मीमासकों

प्रमात्वमिति। मीमांसका हि प्रमात्वं स्वतो ग्राह्यमिति वदन्ति।

प्रामाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः साङ्ख्याः समाश्रिताः।
नैयायिकास्ते परतः सौगताश्चरमं स्वतः॥
प्रथमं परतस्त्वाहुः प्रामाण्यं, वेदवादिनः।
प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम्॥

इति मतसङ्ग्रहः सर्वदर्शनसङ्ग्रहे।

स्वतोग्राह्यमित्यत्र स्वपदमात्मपरमात्मीयपरं च। तत्र गुरुः प्रभाकरः तन्मते स्वपदमात्मपरम्। तन्मते हि घट इति ज्ञानं ज्ञाता ज्ञेयं चेति त्रितयं भासते। अत एव ते त्रिपुटीप्रतिभासवादिन इत्युच्यन्ते। इति एतन्मते ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वात् स्वनिष्ठप्रामाण्यं तद्वतितत्प्रकारकत्वरूपं स्वेन गृह्यते। तदाहुर्गुरुमतानुयायिनः—

अर्थक्रियाज्ञानात्संवादाद् गुणवत्कारणज्ञानाद्वा ज्ञानप्रामाण्यनिश्चय इति पूर्वपक्षः।

सिद्धान्तस्तु न ज्ञानमव्यभिचारनिश्चयमुखेनार्थं निश्चिनोति किन्तु स्वत एव। यदि स्वतो निश्चेतुं न शक्नुयात् तदा निश्चयस्यात्यन्तासम्भव इत्यान्ध्यमशेषस्य जगतो भवेत्। नहि स्वतोऽनिश्चितोऽर्थः परतोऽपि निश्चेतुं शक्यते, परस्यापि पूर्ववदेवासामर्थ्यात्। यथा घटज्ञानमसत्यपि घटे दृष्टमित्यनिश्चायकं तथार्थक्रियाज्ञानमपि स्वप्नावस्थायामसत्यामेव च तस्यां दृष्टमिति न केनापि निश्चेतुं शक्यते तया घटनिश्चयस्तु दूरत एव। तथा संवादो नाम तद्विषयं ज्ञानान्तरम् तस्य पूर्वज्ञानात्को विशेषः येन तेनानिश्चितमनेन निश्चीयेत। तथा गुणज्ञानादपि गुणो निश्चेतुं न शक्यते किं पुनः पूर्वज्ञानप्रामाण्यम् तस्मात्स्वत एव प्रामाण्यम् परतस्त्वप्रामाण्यं दोषज्ञानाद्बाधकज्ञानाद्वा वेदे तु दोषाभावात् स्वतः प्राप्तं प्रमाणत्वं सुस्थमिति।

का मत है कि अनवस्था न हो इसलिए प्रमात्वं स्वतः ग्राह्य है अप्रमात्व परतः ग्राह्य है। प्रमात्व की ग्राह्यता के सम्बन्ध में निम्नलिखित मत हैं।

शास्त्र	प्रमात्व	अप्रमात्व
१ सांख्य	स्वतोग्राह्य	स्वतोग्राह्य
२ नैयायिक	परतोग्राह्य	परतोग्राह्य
३ सौगत	परतोग्राह्य	स्वतोग्राह्य
४ मीमांसक	स्वतोग्राह्य	परतोग्राह्य

इन चार पक्षों में अपने पक्ष के समर्थन में ग्रन्थकार का मत इस प्रकार है।]

प्रमात्व स्वतो ग्राह्य नहीं है क्योंकि संशय नहीं बनेगा। १३६

मीमांसकों का मत है कि प्रमात्व स्वतोग्राह्य है। स्वतः पद के स्वशब्द का आत्मा, आत्मीय, ज्ञाति और धन चार अर्थों में से आरम्भ के दो अर्थात् आत्मा और आत्मीय दो ही अर्थ विवक्षित हैं। जिनमें गुरु के मत में स्वपद केवल आत्मा अर्थ का बोधक

तत्र गुरूणां मते ज्ञानस्य स्वप्रकाशरूपत्वात्तज्ज्ञानप्रमाण्यं तेनैव गृह्यते।

भट्टानां मते ज्ञानमतीन्द्रियम्, ज्ञानजन्या ज्ञातता प्रत्यक्षा, तया च ज्ञानमनुमीयते।

तेनैव गृह्यते इति। ज्ञाने गृह्यमाणे ज्ञाननिष्ठज्ञानत्वादिधर्मवत् तन्निष्ठप्रामाण्यमपि ज्ञानग्राहकसामग्र्यैव गृह्यते इति तन्मते अयं घटो घटमहं जानामीत्याद्याकारकं ज्ञानमिति भावः।

भट्टानां—कुमारिलभट्टानां मते ज्ञानजन्यया प्राकट्यापरपर्यायया विषयनिष्ठया ज्ञाततया ज्ञानप्रामाण्यमनुमेयमिति एतन्मते स्वतोग्राह्यमित्यत्रत्य स्वपदमात्मीयपरं ततश्च स्वीयया ज्ञाततया प्रामाण्यं गृह्यते इत्यर्थः।

तया चेति। इयं ज्ञातता घटविशेष्यकघटत्वप्रकारकज्ञानजन्या घटवृत्तिघटत्वप्रकारकज्ञाततात्वात् या यद्वृत्तियत्प्रकारिका ज्ञातता सा तद्विशेष्यकतत्प्रकारकज्ञानसाध्या यथा पटे पटत्वप्रकारिका ज्ञाततेति।

तथा चाहुः शास्त्रदीपिकाकाराः। ज्ञानक्रिया हि सकर्मिका कर्मभूतेऽर्थे फलं जनयति पाकादिवत्। तच्च फलमैन्द्रियकं ज्ञानजन्यमापरोक्ष्यम् लिङ्गादिज्ञानजन्यं तु पारोक्ष्यम्। अस्ति हि विषयाविषयविभागः सार्वजनीनः। न च फलमन्तरेणायं विभागः सम्भवतीति तदाश्रीयते। तदेव च फलं कार्यभूतं कारणभूतं विज्ञानमुपकल्पयति इति सिध्यस्यप्रत्यक्षमपि ज्ञानमिति। अर्थगतो वा ज्ञानजन्योतिशयः कल्पयति ज्ञानम्। अवश्यमङ्गीकरणीयश्चायमतिशयस्त्रितयप्रतिभासवादिभिरपीति।

माना गया है। इनके मत मे 'घटः' इस ज्ञान में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानं तीन का आभास होता है। इसीलिए इन्हें **त्रिपुटी प्रतिभासवादी** कहा जाता हैं। इनके मत में ज्ञानस्वप्रकाश है अर्थात् उसका प्रकाशक कोई अन्य नहीं है। अतएव ज्ञान निष्ठ प्रामाण्य (तद्वति तत्प्रकारकत्व) का ग्रहण स्वयं अर्थात् अपने आप ज्ञानग्राहक सामग्री से ही होता है।

कुमारिल भट्ट का मत है कि ज्ञान अतीन्द्रिय है। अतः ज्ञान से जन्य ज्ञातता (प्राकट्य) द्वारा जो विषय में रहती है और प्रत्यक्ष है ज्ञान और ज्ञान के प्रामाण्य की अनुमिति होती है। अनुमान का क्रम—घटदर्शन के पश्चात 'घटो ज्ञातः' यह ज्ञातता उत्पन्न होती है। तब 'घटद्विशेष्यकघटत्वप्रकारकज्ञानजन्यत्वव्याप्या ज्ञातता' यह व्याप्तिस्मरण, तब इयं ज्ञातता घटविशेष्यकघटत्वप्रकारकज्ञानजन्या घटवृत्तिघटत्वप्रकारकज्ञाततात्वात्, या यद् वृत्तियत्प्रकारिका ज्ञातता सा तत्प्रकारकज्ञानसाध्या यथापटे पटत्वप्रकारिका ज्ञातता' इस प्रकार अनुमिति होती है। इनके मत में 'स्वतोग्राह्य' में स्थित स्वशब्द का केवल आत्मीय अर्थ है। तब 'अपनी ज्ञातता से ज्ञान का प्रामाण्य गृहीत होता है' माना जाता है।

मुरारिमिश्राणा मतेऽनुव्यवसायेन ज्ञानं गृह्यते। सर्वेषामपि मते तज्ज्ञानविषयकज्ञानेन तज्ज्ञानप्रामाण्यं गृह्यते। विषयानिरूप्यं हि ज्ञानम् अतो ज्ञानवित्तिवेद्यो विषयः।

मुरारिमिश्राणां **मते ज्ञानमनुव्यवसायेन गृह्यते इति विषयनिरूप्यं ज्ञानमतो ज्ञाने गृह्यमाणे घटत्वप्रकारत्वं गृह्यते इति एतन्मतेऽपि स्वतोग्राह्यमित्यत्रत्यं स्वपदमात्मीयपरं स्वीयेन स्वविषयकज्ञाने स्वप्रामाण्यं गृह्यते इत्यर्थः; अत एव मुरारेस्तृतीयः पन्था इति लोकोक्तिः। इतीमे त्रयोपि मीमांसकाः। तत्र मुरारिमिश्राणां मतप्रतिपादकः कोऽपि ग्रन्थो न मिलतीति महान् खेदः।**

अनुव्यवसायेनेति । **व्यवसायः ज्ञानम् अनुव्यवसायः ज्ञानानन्तरं जायमानं ज्ञानविषयकं ज्ञानम्।**

ननु ज्ञानज्ञानस्य विषयाविषयकत्वात् कथं विषयघटितप्रामाण्यं तस्य विषय इत्यतो ज्ञानज्ञानस्य विषयविषयकत्वे प्रमाणमाह—विषयनिरूप्यमिति। **तथा च ज्ञानं विषयविषयताकनियतस्वविषयताकप्रत्यक्षकं विषयाविषयकप्रत्यक्षाविषयत्वे सति प्रत्यक्षविषयत्वादित्यनुमानं ज्ञानप्रत्यक्षविषयविषयकत्वे प्रमाणमिति भावः।**

मुरारिमिश्र के मत में ज्ञान अनुव्यवसाय से गृहीत होता है। व्यवसाय ज्ञान को कहते हैं। ज्ञान के बाद उत्पन्न ज्ञान विषयक ज्ञान को अनुव्यवसाय कहते हैं। जैसे—अयं घटः ज्ञान के बाद 'घटविषयकज्ञानवानहम्' ज्ञान अनुव्यवसायात्मक ज्ञान कहा जाता है।

समस्त स्वतस्त्ववादियों के मत में (जिनमें सांख्य, योग, विशिष्टाद्वैति प्रभृति वेदान्तियों का संग्रह है।) ज्ञानविषयकज्ञान से (अनुव्यवसायसे) व्यवसाय (ज्ञान) का प्रामाण्य गृहीत होता है। यदि कहा जाय कि अनुव्यवसाय तो व्यवसायमात्र को विषय बनाता है उसमें घटघटत्वविषय होते नहीं फिर घटत्ववति घटत्वप्रकारक विषय घटित प्रामाण्य का विषय न होने से अनुव्यवसाय से प्रामाण्य गृहीत होता है यह कहना उचित नहीं है। किन्तु यह शंका ठीक नहीं। क्योंकि विषयता सम्बन्ध से ज्ञान के प्रति अभेद सम्बन्ध से विषय कारण होता है अर्थात् निर्विषयक ज्ञान होता ही नहीं है। यतः ज्ञान सविषयक होता है अतः विषय भी ज्ञानवित्तिवेद्य है। अर्थात् ज्ञानको ज्ञान का विषय होना स्वाभाविक है।

क्योंकि जैसे घटघटत्व आदि व्यवसाय के साक्षात् विषय हैं वैसे अनुव्यवसाय के विषय भी होने में कोई बाधक नहीं है। अनुमान का आकार मयूख में देखें।

स्वतस्त्ववादियों के इस मत का निराकरण करने के लिए मूलकारिका में अपना पक्ष 'प्रामाण्यं न स्वतोग्राह्यम्' कहा गया है।

तन्मतं दूषयति—न स्वतो ग्राह्यमिति। संशयेति। यदि ज्ञानस्य प्रामाण्यं स्वतो ग्राह्यं स्यात्, तदाऽनभ्यासदशापन्नज्ञाने प्रामाण्यसंशयो न स्यात्। तत्र हि यदि ज्ञानं ज्ञातं तदा त्वन्मते प्रामाण्यं ज्ञातमेवेति कथं संशयः, यदि ज्ञानं न ज्ञातं तदा धर्मिज्ञानाभावात्कथं संशयः। तस्माज्ज्ञाने प्रामाण्यमनुमेयम्।

तथाहि—इदं ज्ञानं प्रमा संवादिप्रवृत्तिजनकत्वात्, यन्नैवं, तन्नैवं, यथाऽप्रमा। इदं पृथिवीत्वप्रकारकं ज्ञानं प्रमा गन्धवति पृथिवीत्वप्रकारकज्ञानत्वात्। एवमिदं जलत्वप्रकारकं ज्ञानं प्रमा स्नेहवति जलत्वप्रकारकज्ञानत्वात्।

न च हेतुज्ञानं कथं जातमिति वाच्यम्, पृथवीत्वप्रकारकत्वस्य

अनभ्यासदशेति। **अनवधृतप्रामाण्यकेत्यर्थः।**

ज्ञातमेव—**निश्चितमेव।** गन्धवतीति। **व्याप्यवति व्यापकप्रकारकत्वस्य व्यापकवति व्यापकप्रकारकत्वव्याप्यत्वादिति भावः।**

नैयायिकों का मत है कि प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य स्वतःग्राह्य नहीं हैं क्योंकि जिस ज्ञान में प्रामाण्य निश्चय नहीं है उसमें 'इदं ज्ञानं प्रमा न वा' यह संशय नहीं बनेगा। यदि ज्ञान ज्ञात है तो प्रामाण्य भी ज्ञात है तब संशय कैसा? यदि ज्ञान ज्ञात नहीं है तो संशय नहीं बनेगा। क्योंकि 'एक धर्मी में विरुद्ध अनेक धर्मावगाही ज्ञान ही संशय है' फिर जब धर्मी का ही ज्ञान नहीं है तो संशय बनेगा कैसे? अतः ज्ञान में प्रामाण्य की अनुमिति ही होती है।

अनुमान का प्रकार—जैसे—'इदं ज्ञानं प्रमा, सफलप्रवृत्तिजनकत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा अप्रमा' अथवा—इदं पृथिवीत्वप्रकारकं ज्ञानं प्रमा, गन्धवति पृथिवीत्वप्रकारकज्ञानत्वात्' इसी प्रकार—'इदं जलत्वप्रकारकं ज्ञानं प्रमा, स्नेहवति जलत्वप्रकारकज्ञानत्वात्'।

अब प्रश्न यह है कि हेतु का ज्ञान कैसे होगा? क्योंकि पृथ्वीत्वप्रकारकज्ञानत्वात्मक हेतु का पक्ष में निर्णायक होना आवश्यक है अतः अनुमिति नहीं बन सकती और हेतु—स्वरूपासिद्ध होगा। किन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि व्यवसायात्मक ज्ञान और अनुव्यवसायात्मक ज्ञान में भी पृथ्वीत्वप्रकारकत्व रहता ही है फिर हेतु का स्वतः ग्रहण होगा। अर्थात् प्रभाकर के मत में व्यवसायवेद्यत्व और मुरारि के मत में अनुव्यवसायवेद्यत्व रूप में स्वतो ग्राह्यत्व सिद्ध ही है। यदि कहा जाय कि गन्धवान वस्तु में पृथ्वीत्वप्रकारकज्ञान की

स्वतो ग्राह्यत्वात्। तत्र गन्धाग्रहेण गन्धवद्विशेष्यकत्वस्यापि सुग्रहत्वात्। तत्प्रकारकत्वावच्छिन्नतद्विशेष्यकत्वं परं न गृह्यते संश(१)यानुरोधात्।

ननु सर्वेषां ज्ञानानां यथार्थत्वात्प्रमालक्षणे तद्वद्विशेष्यकत्वं विशेषणं व्यर्थम्—

ननु सर्वेषां ज्ञानानां यथार्थत्वादिति। इदं हि प्रभाकरमतं तन्मते याथार्थ्यं सर्वज्ञानसाधारणं सर्वस्य ज्ञानस्यार्थाव्यभिचारित्वेन तन्नियमात्।

ननु कथमव्यभिचारः इदं रजतं पीतश्शङ्खः इत्यादिविपर्ययस्य, स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यादेः संशयस्य, स्वप्नस्य, वाऽतथात्वात्। रजतप्रतिपत्तिश्च पुरोगतां शुक्तिमेव रजतत्वेनाध्यवस्यति रजतमात्रगोचरत्वे च 'इदं रजतम्' इति सामानाधिकरण्यं न स्यात् रजतार्थिनः पुरोवर्तिनि शुक्तिशकले प्रवृत्तिर्न स्यात् अवगतिप्रतिपत्त्योरेकविषयत्वात्। एवं पीतः शङ्ख इत्यादिवित्तयोप्यन्यथाख्यातिरूपाः इति चेद्—

उच्यते; यस्यां संविदि योऽर्थोऽवभासते स तस्या विषयो नान्यः तस्य तत्रानवभासात्। अनवभासमानस्य विषयत्वेऽतिप्रसङ्गात्। तेनान्यस्यान्यथाभानं प्रतीतिविरुद्धमेव। ततोऽत्र न रजतप्रतीतिः शुक्तिगोचरा तत्र तस्यानवभाषात्। किन्तु रजतगोचरैव।

भाँति पृथ्वीत्ववान से पृथ्वीत्वप्रकारकत्व रूप प्रमात्व भा अनुव्यवसाय का विषय है और उससे प्रमात्व का अनुमान कहना भी निर्बीज है। किन्तु यह पक्ष भी ठीक नहीं। क्योंकि प्रथमतः दूर देशस्थित जल ज्ञान के अनन्तर 'जलत्ववद् विशेषकत्व विशिष्ट जलत्वप्रकारकम् जलज्ञानं प्रमा न वा' विशिष्ट धर्मप्रकारक संशय के अनुरोध से यह मानना पड़ता है कि तत्प्रकारकत्वावच्छिन्नतद्विशेष्यकत्व अनुव्यवसाय से गृहीत नहीं होता।

प्रभाकर का मत है कि समस्त ज्ञान यथार्थ होते हैं क्योंकि कोई भी ज्ञान अर्थाव्यभिचारी नहीं होता अर्थात् जिस ज्ञान से जो अर्थ भासित होता है वही अर्थ उस ज्ञान का विषय होता है दूसरा नहीं। फिर प्रमा के लक्षण में तद्वद्विशेष्यकत्व विशेषण देना व्यर्थ है।

---

१. **संशयानुरोधादिति।** एतदन्तरम्—न च प्रमात्वस्य प्रसिद्धिः कथमिति वाच्यम्, ज्ञातप्रमात्वस्य स्वतो ग्राह्यत्वात्।

न च प्रकारभेदेन प्रामाण्यभेदाद् घटत्वप्रकारकत्वादेः कथं प्रसिद्धिरिति वाच्यम्, घटत्वप्रकारकत्वस्य स्वविशेष्यकत्वस्य च स्वतो ग्राह्यत्वात्, घटस्य च पूर्वमुपस्थितत्वात्। घटविशेष्यकं घटत्वप्रकारकमिति ज्ञाने प्रमाण्यस्य बाधकाभावः, व्यवसायपरं तु प्रामाण्यं न गृह्यते। तत्र संशयसामग्रीसत्वे संशयस्यैवोपपत्तेः। किं चाभ्यासदशायां तृतीयानुव्यवसायादिना प्रामाण्यस्य स्वत एव ग्रहसम्भवात् प्रथमानुव्यवसायपरं न तद्ग्राहकमिति कल्प्यते संशयानुरोधात्।

ननु तर्हि पुरोवर्तिनि इदं रजतमिति विशिष्टधीनिर्वाहः कथम्? इत्थम् प्रथममिन्द्रियार्थसन्निकर्षे सति शुक्तिकामात्रमगृहीतविशेषधर्मकम् 'इदम्' इति सामान्येन गृह्यते तदनु दोषवशात् तदंशविकलं तत्सदृशं रजतमात्रं स्मर्यते। लोके च सदृशदर्शनात्सदृशस्मृतिर्दृष्टैव। तच्च स्मरणं तदंशप्रमोषादनुभवसमानाकारं एतावत्तावदावयोरविवादम्। तत्र गृह्यमाणस्मर्यमाणयोर्ग्रहणस्मरणयोर्वा भेदाग्रहात् केवलसामान्याकारोपलम्भाद्विशिष्टव्यवहारः न तु विशिष्टधीतः। तत एव प्रवृत्तिरपि युक्ता उत्तरकालं च भेदग्रहणे व्यवहारविसंवादाद्बाधोप्युपपन्नः। स च न पूर्वज्ञानविषयापहारः तयोर्यथार्थत्वात् किन्तु व्यवहारविसंवाद एव न हि ज्ञानं बाध्यं तस्य यथार्थत्वात् किन्तु व्यवहार एव।

ननु भवेन्नामेदमंशोऽनुभवः रजतांशस्य कथं स्मृतिः तत्तांशप्रमोषात्। न हि तत्र तदिति प्रतीतिरुदेति ततोनुभवत्वमेवोचितम् सत्यम्; न तावच्चाक्षुषोऽनुभवः तदसम्प्रयोगात्। नाप्यनुमितिर्लिङ्गाभावात्। परिशेषात् स्मृतिरेव। तदंशप्रमोषस्तु दोषवशात्। अत एव पामराणां तत्रानुभवव्यवहारः परीक्षकाणां त्वन्यथा।

ननु यद्गोचरं ज्ञानं तत्रैव प्रवृत्तिः। रजतज्ञानं च न शुक्तिगोचरम् अतः कथं तत्र प्रवृत्तिरिति चेत्सत्यम्; सम्यग्रजतस्थले तथैव। अत्र तु सा केवलभेदाग्रहनिबन्धना।

तथा पीतशङ्खबोधोऽपि यथार्थ एव। तथा हि नेत्रवर्तिनि स्वच्छे पित्तद्रव्ये तद्रश्मिभिः सह निर्गते तद्गतपीतिमाऽत्र गृह्यते तथा दोषवच्छङ्खमात्रं च परस्परसाकाङ्क्षयोस्तयोर्विद्यमानोऽप्यसम्बन्धो न बुध्यते, ततश्च तत्रासम्बन्धाग्रहाद्विशिष्टधीव्यवहारः प्रवृत्तिरपि तत एव।

इसका तात्पर्य यह है कि तद्वद्विशेष्यकत्व है तत्प्रकारज्ञानत्व का व्याप्य। जब सर्वत्र तत्प्रकारक ज्ञानत्व रूप प्रमात्व को स्वीकारा गया है तब तद्वद्विशेष्यकत्व विशेषण व्यर्थ है। प्रमात्व ज्ञान तो नैयायिकों के मत में भी स्वतो ग्राह्य मान लेना ही उचित है।' किन्तु **नैयायिक** इसे नहीं मानते। उनका मत है कि जब सब ज्ञान यथार्थ होंगे तो रजतार्थी पुरुष की भ्रमात्मिका जो प्रवृत्ति रंग में होती है वह भ्रमजन्य नहीं मानी जायगी।

अथ प्रामाण्यानुमितौ प्रामाण्यग्रहे न तस्य विषयनिश्चयरूपत्वार्थं तत्र प्रामाण्यग्रहो वाच्यः। सोऽप्यनुमित्यन्तरेणेति फलमुखी कारणमुखी वाऽनवस्थेति चेद्—न—अगृहीताप्रामाण्यग्राहकस्यैव निश्चयरूपत्वात्। यत्र च प्रामाण्यसंशयस्तत्रैव प्रामाण्यानुमितेरपेक्षा यावदाशङ्कं प्रामाण्यानुमितिरिष्यत एव। सर्वत्र तु न संशयः क्वचित्कोट्यनुपस्थितः क्वचिद्विशेषदर्शनादितः क्वचिद्विषयान्तरसञ्चारादिति संक्षेपः। इति विद्याविलाससुद्रिते **महामहोपाध्याय लक्ष्मणशास्त्रि** द्राविडसंशोधितेऽधिकः पाठः। स च दिनकरेणाव्याख्यातत्वात्प्रक्षिप्त इव प्रतिभाति।

न च रङ्गे रजतार्थिनः प्रवृत्तिर्भ्रमजन्या न स्यात्—तव मते भ्रमस्याभावादिति वाच्यम्, तत्र हि दोषाधीनस्य पुरोवर्तिनि स्वतन्त्रोपस्थितरजतभेदाग्रहस्य हेतुत्वात्।

द्विचन्द्रज्ञानेऽप्यङ्गुल्यवष्टम्भादिदोषाद्विधा प्रविभक्तो नायनरश्मिरेकस्मिंश्चन्द्रमसि द्वित्व जनयति। तत्र द्वित्वस्य चन्द्रमसश्चासम्बन्धाग्रहाद् द्वौ चन्द्राविस्येवं व्यवहारः। तथा सर्वतोदिशमाशुसञ्चारिण्यलातदण्डेऽपि निरन्तरधियो जायन्ते तत्रान्तरालाग्रहणाच्चक्रबुद्धिव्यवहारः। अलाते च चक्रव्यवहारः। तथादर्पणे नयनरश्मिर्निपतितः प्रथमं सविशेषं दर्पणं गृह्णाति पश्चात्तु प्रतिहतः परावृत्तो मुखमात्रम्। तत्र दर्पणस्य मुखस्य च भेदाग्रहाद्दर्पणे मुखव्यवहारः।

स्वप्नस्तु स्मृतिरेव न ह्यननुभूते स समुदेति दोषाच्च तत्ताप्रमोषः।

तथा संशयोऽपि नैकं ज्ञानं किन्तु द्वे एते स्थाणुत्वपुरुषगोचरे प्रमुष्टातत्तांशे परस्परविनिर्मुक्ते पुरस्थितोर्ध्ववस्तुदर्शनाज्जायमाने स्मृतिरूपे एतत्सर्वं यथार्थमेव परस्परविनिर्मुक्तयोस्तयोर्विशेषयोः पुरःस्थिते धर्मिणि एकस्यापि व्यवस्था नास्तीति व्यवस्थितव्यवहारं प्रवर्तयितुमशक्नुवन् संशेत इति भवति तत्र संशयव्यवहारोऽतः सर्वं ज्ञानं यथार्थमिति सिद्धम्।

अत एव श्रीभाष्यकारैरपि 'यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदांमतम्' इत्युक्तम्।

व्यर्थमिति तद्व्यावर्त्याया अन्यथाख्यातेरभावात्।

भ्रमजन्येति। न्यायनये भ्रमजन्या प्रवृत्तिस्त्वन्मते न स्यादिति भावः।

भ्रमस्य—अन्यथाख्यातेः। तत्र—रङ्गगोचरविसंवादिरजतार्थिप्रवृत्तौ। रजते 'इदं रजतम्' इति ज्ञानकाले रजतभेदाग्रहसत्त्वाद्विसंवादिप्रवृत्त्यापत्तिवारणाय दोषाधीनस्येत्युक्तं। न्यायनये दोषाधीनो यो रजतभ्रमस्तत्स्थानाभिषिक्तरजतभेदाग्रहस्यैव तन्मते दोषाधीनतया रजते रजतभेदाग्रहस्य दोषाधीनत्वादिति भावः।

हेतुत्वादिति। न्यायनयेऽपि 'इदं रजतम्' इति भ्रमे हेतुतया रजतभेदाग्रहस्य तत्रावश्यकतया तस्यैव हेतुत्वं युक्तं 'तद्धेतोरेव तत्त्वे किं तेनेति' न्यायादिति भावः।

क्योंकि मीमांसक के मत में तो भ्रम होता ही नहीं। यदि यह कहा जाय कि 'रंगे इदम् रजतम्' इस ज्ञान में इदम् अंश से ज्ञायमान जो सम्मुखस्थ 'रंग' पदार्थ उसकी चमचमाहट रूपी दोष के अधीन जो रजत की उपस्थिति हुई उसमें 'रजत भेदाग्रह' ही कारण है। लोक में भी सदृश के दर्शन से तत् सदृश दूसरे का स्मरण देखा गया है। वह स्मरण केवल 'तत्' अंश के हटा देने से अनुभव के समान प्रकार का होगा जो नैयायिकों और मीमांसकों के लिए समान रूप से है। केवल भेद इतना है कि गृह्यमाण और स्मर्यमाण का ग्रहण और स्मरण में भेद का ग्रहण न होना ही विशिष्ट व्यवहार में

सत्यरजतस्थले तु विशिष्टज्ञानस्य सत्त्वात्तदेव कारणम्, अस्तु वा त्रापि रजतभेदाग्रह एव कारणमिति।

(अथान्यथाख्यातिवादः)

न चान्यथाख्यातिः सम्भवति; रजतप्रत्यक्षकारणस्य रजतसन्निकर्षस्याभावाद्रङ्गे रजतबुद्धेरनुपपत्तेरिति चेद्—

न; सत्यरजतस्थले प्रवृत्तिं प्रति विशिष्टज्ञानस्य हेतुतायाः क्लृप्तत्वादन्यत्रापि तत्कल्पनात्।

न च संवादिप्रवृत्तौ तत्कारणं, विसंवादिप्रवृत्तौ च भेदाग्रहः कारणमिति वाच्यम्। लाघवेन प्रवृत्तिमात्रे तस्य हेतुत्वकल्पनात्।

नियामक है विशिष्ट बुद्धि नहीं। इसीलिए प्रवृत्ति भी उचित है और उत्तर काल में जब भेद ग्रहण हो जाता है तब व्यवहार से भिन्न होने पर बाध भी बन जाता है। यह बाध पूर्व ज्ञान के विषय का अपहारक नहीं है क्योंकि ज्ञान तो यथार्थ है किन्तु व्यवहार के विसंवाद से व्यवहार बाधित होता है और जहां सत्य रजत है वहां तो रजतत्व प्रकारक रजतत्ववद्विशेष्यक 'इदम् रजतम्' यह विशिष्ट ज्ञान ही प्रामाण्य ज्ञान का कारण है। यदि कहा जाय कि इस प्रकार दो कार्य-कारण भाव मानने पड़ेगे जो गौरव होगा तो ठीक नहीं। क्योंकि हम यहां (संवादि प्रवृत्ति स्थल में) भी रजत भेदाग्रह को ही कारण मानेंगे।

अन्यथाख्यातिवाद

किन्तु ऐसा मानने से अन्यथाख्याति (न यथाख्यातिः = अतद्धर्मवत्तया प्रतीतिः) न बन सकेगी क्योंकि रजत के प्रत्यक्ष का कारण जो रजत के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष वह है नहीं। अतः रङ्ग में रजत बुद्धि रूप अन्यथाख्याति नहीं बनेगी। यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि सत्य रजत स्थल में प्रवृत्ति के प्रति जब पूर्वोक्त विशिष्ट ज्ञान कारण माना जा चुका है तब अन्यत्र भी प्रवृत्ति में विशिष्ट ज्ञान को कारण मानना ही उचित है। यदि कहा जाय कि संवादि (सफल) प्रवृत्ति में विशिष्ट ज्ञान कारण है और विसंवादि (असफल) प्रवृत्ति में भेदाग्रह कारण है मान लेने में कोई आपत्ति तो नहीं है किन्तु यह प्राभाकरों का पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि प्रवृत्ति के प्रति संवादि प्रवृत्ति और विसंवादि प्रवृत्ति के लिए अलग-अलग दो कार्य कारण भावों की कल्पना की अपेक्षा प्रवृत्तिमात्र के प्रति केवल विशिष्ट ज्ञान को हेतु मान लेने में लाघव है।

इत्थं च रङ्गे रजतत्वविशिष्टबुद्ध्यनुरोधेन ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति- कल्पनेऽपि न क्षतिः, फलमुखगौरवस्यादोषत्वात् ।

किञ्च (यत्र) रङ्गरजतयोरिमे रजते रङ्गे वेति ज्ञानं जातं तत्र न कारणबाधोऽपि ।

अपि च यत्र रङ्गरजतयोरिमे रजतरङ्गे इति ज्ञानं तत्रोभयत्र युगपत्प्र-

---

ननु रजतत्वांशे सन्निकर्षाभावान्नान्यथाख्यातिः सम्भवति इत्यत आह इत्थं चेति। प्रवृत्तिमात्रे विशिष्टबुद्धेर्हेतुत्वसिद्धौ चेत्यर्थः। स्वसंयुक्तमनःसंयुक्तात्मसमवेत- स्मृतिविषयस्वरूपज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्त्या रजतत्वस्य भानमिति भावः।

फलमुखेति। निषादस्थपत्यधिकरणसिद्धान्तसिद्धोऽयं न्यायः। तथाहि 'वास्तुमयं रौद्रं चरुं निर्वपेत्' इति प्रकृत्य श्रूयते 'एतया निषादस्थपतिं याजयेत्'। अत्र संशयः निषादानां स्थपतिः इति षष्ठीतत्पुरुषेण निषादस्वामी कश्चित्त्रैवर्णिकः, निषादश्चासौ स्थपतिरिति कर्मधारयेण निषाद एव वा विवक्षितः। तत्र निषादस्य सङ्कीर्णजातिमतो वेदानधिकारात् षष्ठीतत्पुरुषेण त्रैवर्णिक एवेति पूर्वपक्षे षष्ठीतत्पुरुषे निषादपदस्य निषादसम्बन्धिनि लक्षणायां गौरवेण लाघवात् कर्मधारय एव। ततश्च एतद्यागोप- योगिमन्त्रेष्वधिकारः निषादस्य कल्प्यते इति सिद्धान्तः। अनेन आदौ लाघवमनु- सृत्यान्ते गौरवसहनं न दोषावहमिति स्पष्टमेवावगम्यत इति।

ननु ममापि प्रवृत्तिमात्रे भेदाग्रह एव कारणं न तु विसंवादिप्रवृत्तिस्थले भेदाग्रहः संवादिप्रवृत्तिस्थले च विशिष्टज्ञानं कारणमिति वैषम्यमित्यपरितोषादाह— किञ्चेति। यत्र रङ्गे रजते च युगपदिन्द्रियसन्निकर्षात् रजतरङ्गयोः इमे रजते रङ्गे वेति ज्ञानं जातं तत्र रजत्वेन रङ्गत्वेन च स्वसंयुक्तसमवायस्य सत्वात् रजते रङ्गत्वस्य रङ्गे रजतत्वस्य वा भानसम्भवात् अन्यथाख्यातिस्वीकारे बाधकाभावः। न चेदं प्रमेति भ्रमितव्यं विशेषणवद्विशेष्यसन्निकर्षरूपप्रमासामग्र्यभावादिति भावः।

ननु तत्तद्विशेष्ये तत्तद्विशिष्टबुद्धिं प्रति तत्तद्विशेषणे तत्तद्विशेष्यघटितसन्निकर्षो-

---

यदि कहा जाय कि रजतांश सन्निकर्ष न होने से अन्यथाख्याति न बन सकेगी तो ठीक नहीं क्योंकि रङ्ग में रजतत्व विशिष्ट बुद्धि होना देखकर स्व (चक्षुः) संयुक्त मनः संयुक्तात्मसमवेतस्मृतिविषयत्वरूप ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति से रजतत्व का भान मान लेने में कोई आपत्ति न होगी। यदि कहा जाय कि नैयायिक को परम्परा सम्बन्ध मानने से अधिक कल्पना करनी पड़ेगी तो ठीक नहीं क्योंकि फलोन्मुख गौरव भी दोषाधायक नहीं होता।

यदि कहा जाय कि प्राभाकरों के मत में यदि प्रवृत्तिमात्र के प्रति भेदाग्रह को ही कारण माना जाय तब तो दो कार्यकारण भाव मानने का गौरव नहीं होगा तो ठीक

वृत्तिनिवृत्ती स्यातां रङ्गे रङ्गभेदग्रहे रजते रजतभेदग्रहे चान्यथाख्याति- भयात्, त्वन्मते दोषादेव रङ्गे रजतभेदाग्रहस्य रजते रङ्गभेदाग्रहस्य च सत्त्वात्।

किञ्चानुमितिं प्रति भेदाग्रहस्य हेतुत्वे जलह्रदे वह्निव्याप्यधूमवद्भेदा-

---

हेतुः। तथा च रजतघटितसंयुक्तसमवायेन रङ्गे न रजतत्वभानसम्भव इति नान्य- थाख्यातिसम्भव इत्यत आह—अपि चेति।

प्रवृत्तिनिवृत्ती इति। रजते इष्टभेदाग्रहरूपा प्रवृत्तिसामग्रीसत्त्वेन प्रवृत्तिः, रङ्गे अनिष्टभेदाग्रहरूपनिवृत्तिसामग्रीसत्त्वेन च निवृत्तिः स्यादिति भावः।

रङ्गे रङ्गभेदग्रहे—इत्यस्य रङ्गे रङ्गभेदाग्रहस्य रजते रजतभेदाग्रहस्य च सत्त्वेने- त्यादिः। तथा च रङ्गभेदाग्रहे सति दोषादेव रङ्गभेदग्रहो वाच्य इति अन्यथाख्या- त्यापत्तिरिति भावः।

ननु रङ्गे रजतभेदाग्रहप्रयोजकदोषस्य प्रतिबन्धकस्य सद्भावान्न रङ्गे निवृत्तिः। एवं रजते रङ्गभेदाग्रहप्रयोजकदोषस्य प्रतिबन्धकस्य सद्भावान्न प्रवृत्तिरित्यत आह— किञ्चेति।

नहीं क्योंकि जिस रङ्ग और रजत में एक काल में इन्द्रिय सन्निकर्ष से रजत और रङ्ग में (इमे रजते) दोनों रजत हैं अथवा (इमे रङ्गे) दोनों रङ्ग है ज्ञान उत्पन्न हुआ वहां रङ्गत्वेन और रजतत्वेन इन्द्रिय संयुक्त समवाय के होने से रजत में रङ्ग और रङ्ग में रजत का भान (प्रतीति) बन जाती है फिर अन्यथाख्याति मानने में कोई बाधा न होगी। इस प्रकार की प्रतीति में प्रमा का भ्रम भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि विशेषणवद् विशेष्य सन्निकर्ष रूप प्रमाज्ञान की सामग्री ही नहीं है।

यदि कहा जाय कि तत्तद विशेष्य में तत् तत् विशिष्ट बुद्धि के प्रति तत्तत् विशेषण से तत्तत् विशेष्यघटित सन्निकर्ष कारण है। इस प्रकार रजतघटित संयुक्तसमवाय से रङ्ग में रजतत्वभान न बन सकेगा तथा अन्यथाख्याति नहीं बनेगी। यह प्राभाकरों का पक्ष भी ठीक नहीं; क्योंकि उनके मत में जहां रङ्ग और रजत में एक साथ रजत और रङ्ग बुद्धि हुई वहां एक साथ पुरुष की प्रवृत्ति और निवृत्ति होनी चाहिए। क्योंकि रजत में इष्टत्व को भेदाग्रह रूप प्रवृत्ति सामग्री होने से प्रवृत्ति तथा रङ्ग में अनिष्ट भेदाग्रह रूप निवृत्ति सामग्री के रहने से निवृत्ति होना अनिवार्य होगा। क्योंकि भय में बुद्धि ठीक रहता नहीं अतः प्राभाकरों को अन्यथाख्याति (भ्रम) सिद्धान्त स्वीकारना न पड़े इस भय से रङ्ग में रङ्गभेद ग्रह और रजत में रजत भेदग्रह होगा ही नहीं। तुम्हारे मत में तो दोषों के कारण ही रङ्ग में रजत भेदाग्रह और रजत में रङ्गभेदाग्रह है ही।

यदि कहा जाय कि रङ्ग में रजत भेदाग्रह प्रयोजक दोषरूप प्रतिबन्धक होने से रङ्ग से

ग्रहादनुमितिर्निराबाधा। यदि च विशिष्टज्ञानं कारणं तदाऽयोगोलके वह्निव्याप्यधूमज्ञानमनुमित्यनुरोधादापतितम्। (सेयमुभयतः पाशा रज्जुः)।

इत्थं चान्यथाख्यातौ प्रत्यक्षमेव प्रमाणं रङ्गं रजततयाऽवेदिषमित्यनुभवादिति सङ्क्षेपः ॥ १३६ ॥

पूर्वं व्याप्तिरुक्ता, तद्ग्रहोपायस्तु न दर्शित इत्यतस्तं दर्शयति—

भेदाग्रहस्य—व्याप्यवद्भेदाग्रहस्य।

ननु ह्रदे वह्निव्याप्यधूमवद्भेदाग्रहाच्च ह्रदो वह्निमान् इत्यन्यथाख्यातिरूपानुमितिः। किन्तु अनुभवस्मरणरूपं ज्ञानरूपमेवागृहीतसंसर्गकमित्यरुचेराह—इत्थं चेति। तथा चानुव्यवसाय एवान्यथाख्यातौ प्रमाणमिति भावः॥ १३६ ॥

ननु प्रामाण्यस्यानुमानगम्यत्वं प्रतिपादितं तच्चानुमानस्य प्रमाणत्वसिद्धौ स्यात् तदेतेन ग्राहकाभावेन व्याप्तिज्ञानाभावादतः प्रामाण्योपपादकत्वेनोपोद्घातसङ्गत्या व्याप्तिग्रहोपायमाह—पूर्वमिति।

निवृत्ति नहीं होगी और इसी प्रकार रजत में रङ्ग भेदाग्रह प्रयोजक दोषरूप प्रतिबन्धक के होने से प्रवृत्ति नहीं होती है तो ठीक नहीं क्योंकि आप पहले यह बताइए कि आप अनुमिति ज्ञान के प्रति व्याप्यवद् भेदाग्रह को कारण मानते है या विशिष्ट ज्ञान को कारण मानते हैं। यदि व्याप्यवद् भेदाग्रह को कारण मानते हैं तो जलह्रद में वह्निव्याप्य धूमवत् पर्वत के भेदाग्रह से 'ह्रदो वह्निमान' इस प्रकार की अन्यथाख्याति रूपा अनुमिति निर्बाध होगी। क्योंकि जबतक बाध ज्ञान नहीं है तब तक व्याप्यवद्भेदाग्रहरूप कारण बना ही रहेगा।

यदि इन दोषों के भय से विशिष्ट ज्ञान को अनुमिति का कारण मानते हैं तब 'अयोगोलकं वह्निमत्' इस अनुमिति की कारण सामग्री की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए 'वह्निव्याप्यधूमवदयोगोलकम्' इस रूप में अन्यथाख्याति (भ्रम) रूप परामर्शात्मक विशिष्ट ज्ञान अयोगोलक में मानना होगा। इस प्रकार दोनों प्रकारों में किसी एक का भी अवलम्बन करने से अन्यथाख्याति प्राभाकरों के गलेपतित होती है।

इस प्रकार ह्रद में वह्निव्याप्यधूमवद्भेदाग्रह होने से 'ह्रदो वह्निमान्' यह अन्यथाख्याति रूप अनुमिति नहीं होती किन्तु अनुभवस्मरणरूप 'रङ्गं रजततयाऽवेदिषम्' इस प्रकार का प्रत्यक्ष ही होता है। अर्थात् अनुव्यवसाय ही अन्यथाख्याति में प्रमाण है यह संक्षिप्त विचार प्रकट किया गया है॥ १३६ ॥

इस प्रकार प्रामाण्य को अनुमानगम्य मान लेने पर अनुमान को प्रमाण सिद्ध करना

व्यभिचारस्याग्रहोऽपि सहचारग्रहस्तथा।
हेतुर्व्याप्तिग्रहे, तर्कः क्वचिच्छङ्कानिवर्तकः ॥ १३७ ॥

व्यभिचारस्येति। व्यभिचाराग्रहः सहचारग्रहश्च व्याप्तिग्रहे कारणम्। व्यभिचारग्रहस्य व्याप्तिग्रहे प्रतिबन्धकत्वात्तदभावः कारणमित्यर्थः।

एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां सहचारग्रहस्यापि हेतुता। भूयोदर्शनं तु न कारणं—व्यभिचारास्फूर्तौ सकृद्दर्शनेऽपि क्वचिद्व्याप्तिग्रहात्। क्वचिद्व्यभिचारशङ्काविधूननद्वारा भूयोदर्शनमुपयुज्यते।

यत्र तु भूयोदर्शनादपि शङ्का नापैति तत्र विपक्षे बाधकस्तर्कोऽपेक्षितः। तथाहि—वह्निविरहिण्यपि धूमः स्यादिति यद्याशङ्का भवति, तदा सा वह्निधूमयोः कार्यकारणभावस्य प्रतिसन्धानान्निवर्तते। यद्ययं

प्रतिबन्धकत्वादिति। कारणीभूताभावप्रतियोगित्वं हि प्रतिबन्धकत्वम्।

यद्ययमिति। अयं—धूमवान् पर्वतः। कारणं विनेति। तथा च यदि धूमो वह्निव्य-

---

अनिवार्य है। जो अनुमान के प्रामाण्य ग्राहक व्याप्तिज्ञान के अभाव होने से बन नहीं सकता। अतः प्रामाण्य के उपपादक व्याप्तिग्रहोपाय का विवेचन करते हैं। व्याप्ति का स्वरूप (लक्षण) तो अनुमान खण्ड में बताया जा चुका है किन्तु व्याप्तिग्रह का उपाय नहीं बताया गया हैं जो निम्नलिखित कारिका से बताया जा रहा है।

व्यभिचार का अग्रह तथा सहचार के ग्रहण को व्याप्ति ग्रहण में कारण माना गया है। यदि कहीं व्यभिचार की मिथ्याशंका हो तो उसका निवर्तक तर्क होता है। १३७।

व्यभिचार का अग्रहण तथा सहचार का ग्रहण होना व्याप्तिग्रह में कारण है। व्याप्तिग्रह में व्यभिचारग्रह प्रतिबन्धक है। प्रतिबन्धकाभाव भी कारण होता है अतएव व्याप्तिग्रह में व्यभिचाराग्रह कारण होता है। इसी प्रकार अन्वय (तत्सत्वे तत्सत्व) और व्यतिरेक (तदभावे तदभाव) द्वारा सहचारग्रह भी व्याप्तिग्रह में हेतु है। भूयोदर्शन व्याप्तिग्रह का कारण नहीं है। क्योंकि व्यभिचार की स्फूर्ति न होने पर भी केवल एक बार देखने पर व्याप्तिग्रह होना देखा गया है। कहीं कहीं व्यभिचारशंका का निराकरण करने में भूयो दर्शन (बार बार देखना) का उपयोग होता है।

जब भूयोदर्शन से भी व्यभिचारशंका की निवृत्ति न हो तब व्यभिचारशंका के निवर्तक तर्क की अपेक्षा होती है। जैसे—वह्निशून्य देश में यदि वह्नि की शङ्का हो तो वह वह्नि और धूम के कार्यकारणभाव के प्रतिसन्धान (विचार) से निवृत्त हो जाती है। जैसे—'यदि यह धूमवान् पर्वत वह्निमान न होता तो धूमवान न होता' क्योंकि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति ही नहीं होती। यदि कहीं कारण के बिना भी कार्य होगा तो

वह्निमान्न स्यात्तदा धूमवान्न स्यात् कारणं विना कार्योनुत्पत्तेः। यदि च क्वचित्कारणं विनापि कार्यं भविष्यति तदाऽहेतुक एव भविष्यतीति तत्राप्याशङ्का भवेत्, तदा सा व्याघातादपसारणीया। यदि हि कारणं विना कार्यं स्यात, तदा धूमार्थं वह्नेस्तृप्त्यर्थं भोजनस्य वा नियमत उपादानं तवैव न स्यादिति। यत्र स्वत एव शङ्का नावतरति तत्र न तर्कापेक्षापीति तदिदमुक्तम्—तर्कः क्वचिच्छङ्कानिवर्तक इति ॥ १३७ ॥

इदानीं परकीयव्याप्तिग्रहप्रतिबन्धार्थमुपाधि निरूपयति—

भिचारी स्याद्वह्निजन्यो न स्यादिति तर्काकारो बोध्यः। यथाश्रुतं तु न युक्तं तस्य विषयपरिशोधकत्वेन व्याप्तिग्रहानौपयिकत्वादिति ध्येयम्।

व्याघातमेव दर्शयति—यदि हीति

ननु तर्कप्रत्थापाद्यापादकव्ताज्ञानं कारणम्। तत्र व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धकव्यभिचारशङ्कानिवर्तकस्तर्कोऽपेक्षित ॥ एवमग्रेपीत्यनवस्थेत्यत आह—यत्रेति। स्वत एव—शङ्कासामग्रीविरहादेव।

तर्कापेक्षेत्यनन्तरमतो नानवस्थेति शेषः। ननु तर्कस्य न व्यभिचारशङ्कानिवर्तकत्वं तर्ककारणीभूतव्याप्तिज्ञानेनैव तन्निरासादिति चेदत्र केचित्—अनाहार्यशङ्कानिवर्तनस्य तर्ककारणीभूतव्याप्तिज्ञानसाध्यत्वेऽपि आहार्यशङ्कानिवर्तनाय तर्कस्यापेक्षणात्। आहार्यज्ञानस्य व्याप्तिज्ञानाप्रतिबध्यत्वादनिष्टप्रसञ्जनात्मकतर्केण तु आपादकज्ञाने आपाद्यज्ञानरूपानिष्टसाधनत्वज्ञानजननद्वारा आपादकज्ञाने द्वेषो जन्यते तेन चापादकज्ञाने इच्छाप्रतिबन्धः क्रियते। एवं च इच्छारूपकारणाभावादेव नाहार्यशङ्कोत्पत्तिरिति अर्थात्सिद्धं तर्कस्य निवर्तकत्वम्।

तर्कश्च आहार्यारोपविशेषः। तर्कत्वं च मानसत्वव्याप्यो जातिविशेषो तर्कयामी-

---

वह अहेतुक होगा यह आशङ्का होगी तब वह भी व्यवहार व्याघात प्रदर्शन द्वारा दूर की जा सकती है। जैसे—यदि कारण के बिना भी कार्य होता तो धूम के लिए अग्नि की तथा तृप्ति के लिए भोजन का नियमतः उपादान (ग्रहण) तुम्हें भी न होता। जहां स्वतः = शङ्का सामग्री के अभाव में व्यभिचारशंका ही नहीं उतरती वहां तर्क की अपेक्षा भी नहीं होती अतः अनवस्था नहीं होती। इसी तात्पर्य से कहा गया है कि तर्कः क्वचिच्छङ्का निवर्तकः। तर्कः आहार्यारोपस्थल में होता है।

वह दो प्रकार का है। **एक** विषयपरिशोधक और **दूसरा** व्याप्तिग्राहक। **पहला**—निर्धूमः स्यात् निर्वह्निः स्यात् और **दूसरा**—धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्यात् वह्निजन्यो न स्यात्। १३७।

अब प्रतिपक्षी के द्वारा प्रदर्शित व्याप्तिग्रह के प्रतिबन्ध के लिए उपाधि का निरूपण करते हैं—

साध्यस्य व्यापको यस्तु हेतोरव्यापकस्तथा।
स उपाधिर्भवेत्तस्य निष्कर्षोऽयं प्रदर्श्यते ॥ १३८ ॥

साध्येस्यति। साध्यत्वाभिमतव्यापकत्वे सति साधनत्वाभिमताव्यापकत्वमुपाधित्वमित्यर्थः।

स श्यामो मित्रातनयत्वादित्यत्र शाकपाकजन्यत्वं नोपाधिः स्यात्—तस्य साध्यव्यापकत्वाभावाच्छ्यामत्वस्य घटादावपि सत्त्वात्,

एवं वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वादित्यत्रोद्भूतरूपवत्त्वं नोपाधिः स्यात्—प्रत्यक्षत्वस्यात्मादिषु सत्वात्तत्र च रूपाभावात्।

त्यनुभवसिद्धः। तर्कश्च द्विविधः। विषयपरिशोधकः व्याप्तिग्राहकश्चेति। आद्यः निर्धूमः स्यान्निर्वह्निः स्यादित्यादिः। द्वितीयः धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्याद्वह्निजन्यो न स्यादित्यादिः ॥ १३७ ॥

इदानीमिति। व्याप्तिग्रहोपायनिरूपणानन्तरं वैपरीत्यसम्बन्धेन व्याप्तिनिश्चयाभावप्रयोजकव्यभिचारशङ्काकारणज्ञानविषयत्वेन उपाधेः स्मरणात् स्मृतत्वे सत्युपेक्षानार्हत्वरूपप्रसङ्गसङ्गत्योपाधिनिरूपणमिति भावः।

स श्याम इति। काकः श्यामो मित्रातनयत्वादित्यादावित्यर्थः। अत एव ध्वंसो विनाशी जन्यत्वादित्यनेन न पौनरुक्त्यम्। अस्य साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वाद् ध्वंसो विनाशी इत्यस्य साधनरूपपक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वात्।

ननु साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वं विवक्षणीयमतो नोक्ताव्याप्तिरतः पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकोपाधावव्याप्तिमाह—एवं वायुरिति।

उद्भूतरूपवत्त्वमिति। ननु प्रत्यक्षं प्रति उद्भूतरूपस्याव्यापकत्वे रूपस्य सुतरामव्यापकत्वमिति उद्भूतपदं व्यर्थमिति चेन्न। उद्भूतपदस्य उपाधेः साध्यव्यापकत्वे कार्यकारणभावलक्षणानुकूलतर्कदर्शनार्थं सत्त्वात्।

साध्य का व्यापक और साधन का अव्यापक जो हो उसे उपाधि कहते हैं। अब हम उसका निष्कर्ष बता रहे हैं। १३८।

यद्यपि धूमवान् वह्नेः में धूम सिद्ध है तब उपाधि के लक्षण का समन्वय नहीं होना चाहिए तथापि साध्यरूप में अभिमत वस्तु का व्यापक और साधन रूप में अभिमत वस्तु का अव्यापक जो रूप हो उसे उपाधि कहते हैं यह अर्थ समझना चाहिए।

यद्यपि 'स (काकः) श्यामः मित्रातनयत्वात्' इस स्थल में 'शाकपाकजत्व' धर्म उपाधि नहीं बनेगा क्योंकि शाकपाकजत्व धर्म श्यामत्व का व्यापक नहीं है यतः घट में श्यामत्व है किन्तु शाकपाकजत्व नहीं है।

एवं ध्वंसो विनाशी जन्यत्वादित्यत्र भावत्वं नोपाधिः स्यात्— विनाशित्वस्य प्रागभावेऽपि सत्त्वात्तत्र च भावत्वाभावादिति चेद्—

न; यद्धर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वं तद्धर्मावच्छिन्नसाधनाव्यापकत्वमित्यर्थे तात्पर्यात् ।

मित्रातनयत्वावच्छिन्नश्यामत्वस्य व्यापक शाकपाकजत्वं, तदवच्छिन्नसाधनाव्यापकं च ।

एवं पक्षधर्मबहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्नप्रत्यक्षत्वस्य व्यापकमुद्भूतरूपवत्त्वम्, बहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्नसाधनस्याव्यापकं च ।

एवं ध्वंसो विनाशी जन्यत्वादित्यत्र जन्यत्वावच्छिन्नसाध्यव्यापकं भावत्वं बोध्यम् ।

'एवं वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्' स्थल में उद्भूतरूपवत्व उपाधि नहीं बनेगा। क्योंकि साध्य जो प्रत्यक्षत्व है वह आत्मा में भी है यतः आत्मा का मानस प्रत्यक्ष होता है और आत्मा में उद्भूतरूपवत्व नहीं है। अतः वह साध्यव्यापकधर्म नहीं है।

एवं ध्वंसो विनाशी जन्यत्वात्' में भावत्व उपाधि नहीं बनेगा क्योंकि। विनाशित्व प्रागभाव में है किन्तु भावत्व नहीं है।

तथापि 'स.ध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम्' का तात्पर्यार्थ है 'यद्धर्मावच्छिन्न साध्यव्यापकत्वे सति तद्धर्मावच्छिन्नसाधनाव्यापकत्वम्'। जैसे 'धूमवान् वह्नेः' में यद्धर्म पद से पर्वतायोगोलकान्यतरत्व धर्म ग्रहण करने से आधारता निरूपित अधियता सम्बन्ध से पर्वतायोगोलकान्यतरत्वावच्छिन्नधूमरूप साध्य के साथ आर्द्रेन्धनसंयोगरूप उपाधि की व्यापकता है तथा पर्वतायोगोलकान्यतरत्वावच्छिन्न वह्निरूप हेतु के साथ आर्द्रेन्धनसंयोगरूप उपाधि की अव्यापकता है।

वैसे 'काकः श्यामः मित्रातनयत्वात्' में समानाधिकरणसम्बन्ध से मित्रातनयत्वावच्छिन्नश्यामत्व साध्यव्यापक है क्योंकि मित्रातनय में श्यामत्व और शाकपाकजत्व है। तथा तादात्म्यसम्बन्ध से मित्रातनयत्वावच्छिन्न मित्रातनयत्व का अव्यापक शाकपाकजत्व रूप उपाधि है। क्योंकि गौरमित्रातनय में शाकपाकजत्व नहीं है।

वैसे—वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात् में बहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्न प्रत्यक्षत्वरूप साध्यका व्यापक है क्योंकि एतादृशप्रत्यक्षत्व घट में है वहां उपाधि भी है तथा बहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्नप्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वरूप हेतु का अव्यापक उद्भूतरूपवत्वरूप उपाधि है। क्योंकि हेतु वायु में है किन्तु उक्त उपाधि नहीं है।

वैसे ध्वंसो विनाशी जन्यत्वात् में जन्यत्व रूप धर्म से अवच्छिन्न विनाशित्वरूप

सद्धेतौ तु एतादृशो धर्मो नास्ति यदवच्छिन्नस्य साध्यस्य व्यापकं तदवच्छिन्नस्य साधनस्य चाव्यापकं किञ्चित्स्यात्;

व्यभिचारिणि तु उपाध्यधिकरणं यत्साध्याधिकरणं यच्चोपाधिशून्यं साध्यव्यभिचारनिरूपकमधिकरणं तदन्यतरत्वावच्छिन्नस्य साध्यस्य व्यापकत्वं साधनस्य चाव्यापकत्वमुपाधेरन्ततः सम्भवतीति ॥ १३८ ॥

व्यभिचारिणि त्विति। धूमवान् वह्नेरित्यत्रार्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः, उपाधेरार्द्रेन्धनसंयोगस्य, साध्यस्य धूमस्य, चाधिकरणं महानसादिकमुपाधिनाऽऽर्द्रेन्धनसंयोगेन शून्यं धूमव्यभिचारनिरूपकाधिकरणं च अयोगोलकं तदन्यतरत्वावच्छिन्नस्य साध्यस्य व्यापकत्वं वह्निरूपसाधनाव्यापकत्वं चार्द्रेन्धनसंयोगस्येति। वायुः प्रत्यक्षो द्रव्यत्वादित्यत्र प्रत्यक्षत्वरूपसाध्याधिकरणमात्मा उद्भूतरूपात्मकोपाधिशून्यं साध्यव्यभिचाराधिकरण गगनं तदन्यतरत्वावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वस्य उद्भूतरूपेऽभावादाह उपाध्यधिकरणमिति।

उद्भूतरूपाधिकरणपरमाण्वाकाशान्यतरत्वावच्छिन्नसाध्याप्रसिद्ध्या तद्दोषतादवस्थ्यमतः—साध्याधिकरणमिति।

उद्भूतरूपाधिकरणं यत्प्रत्यक्षत्वाधिकरणं घटादि तद्वृत्तिद्रव्यत्वात्मकधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वाभावादुक्तं यच्चेत्यादि।

तत्रापि साध्यव्यभिचाराधिकरणपरमाणुघटान्यतरत्वावच्छिन्नद्रव्यत्वात्मकसाधनव्यापकत्वादुपाधिकशून्यमिति।

तत्रवोपाध्यधिकरणं साध्याधिकरणं घट उपाधिशून्यमधिकरणमात्मा तदन्यतरत्वावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वाभावात् साध्यव्यभिचारनिरूपकमधिकरणमिति।

साध्य का व्यापक है क्योंकि घट में भावत्व है और जन्यत्व भी है तथा तादात्म्य सम्बन्ध से जन्यत्वावच्छिन्न जन्यत्व का अव्यापक भावत्वरूप उपाधि है। क्योंकि ध्वंस में जन्यत्व है भावत्व नहीं है।

सद्धेतुस्थल 'वह्निमान् धूमात्' में ऐसा कोई धर्म ही नहीं है जो उस धर्म से विशिष्ट साध्य का व्यापक तथा वैसे धर्म से विशिष्ट हेतु का अव्यापक हो।

व्यभिचारी (असद्धेतु) स्थल 'धूमवान् वह्नेः' में तो आर्द्रेन्धनसंयोगरूप उपाधि का अधिकरण जो साध्य (धूम) का अधिकरण महानस आदि हैं और जो आर्द्रेन्धनसंयोगरूप उपाधि से शून्य तथा साध्य (धूम) के व्यभिचार का अधिकरण अयोगोलक है इनको अन्यतरत्व (महानसायोगोलकान्यतरत्व) रूप धर्म को यद्धर्मपद से ग्रहण करें तो अन्यतरत्वावच्छिन्न (विशिष्ट) साध्यका व्यापक तथा ऐसे अन्यतरत्वावच्छिन्न वह्निरूप साधन का अव्यापक आर्द्रेन्धनसंयोग ही उपाधि धर्म अन्ततः हो सकता है। १३८।

अतएव लक्ष्यमप्युपाधिरूपमेतदनुसारेण दर्शयति—

सर्वे साध्यसमानाधिकरणाः स्युरुपाधयः ।

हेतोरेकाश्रये येषां स्वसाध्यव्यभिचारिता ॥ १३९ ॥

सर्व इत्यादिना । स्वसाध्येति । स्वम्—उपाधिः स्वं च साध्यं च स्वसाध्ये तयोर्व्यभिचारितेत्यर्थः ॥ १३६ ॥

उपाधेर्दूषकताबीजमाह—

व्यभिचारस्यानुमानमुपाधेस्तु प्रयोजनम् ।

उद्भूतरूपाधिकरणं यत्प्रत्यक्षत्वाधिकरणं घटः यच्चोद्भूतरूपशून्यं प्रत्यक्षत्वाभावाधिकरणमतीन्द्रियरूपादि तदन्यतरत्वावच्छिन्नद्रव्यत्वरूपसाधनाव्यापकत्वस्य उद्भूतरूपेऽभावात्साध्याभावाधिकरणमिति परित्यज्य साध्यव्यभिचारनिरूपकमाधिकरणमित्युक्तं तदर्थश्च साधननिष्ठसाध्यव्यभिचारनिरूपकाधिकरणमिति ॥ १३८ ॥

सर्वे इति । साध्यसमानाधिकरणास्ते सर्वे उपाधयः स्युः । ते के इत्याकाङ्क्षायामाहयेषां एकस्मिन्नाश्रय एकाधिकरणावच्छेदेन स्वमुपाधिः साध्यं च तयोर्व्यभिचारित्वं हेतौ स्यादित्यर्थः ।

अयंभावः-धूमवान् वह्नेरित्यत्र अयोगोलके धूमरूपसाध्यसमानाधिकरणस्यार्द्रेन्धनसंयोगस्य अयोगोलकावच्छेदेन वह्नौ आर्द्रेन्धनसंयोगरूपोपाधेर्धूमरूपसाध्यस्य च व्यभिचारो वर्तते इति ॥ १३९ ॥

अतएव (साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः का यद्धर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकत्वे सति तद्धर्मावच्छिन्नसाधनाव्यापकत्वमुपाधिः में तात्पर्य मान लेने पर ही) इसी लक्षण के अनुसार उपाधि का लक्ष्य भी कारिकावली में प्रदर्शित करते हैं ।

समस्त उपाधियाँ साध्यसमानाधिकरण होती हैं । जैसे धूमवान् वह्नेः में आर्द्रेन्धनसंयोग रूप उपाधि और धूमरूप साध्य के समान अधिकरणों में विद्यमान है । इसी प्रकार हेतु के किसी एक आश्रय में उपाधि और साध्य दोनों ही नहीं रहते हैं । जैसे हेतुभूत वह्नि के अधिकरण अयोगोलक में न तो आर्द्रेन्धनसंयोगरूप उपाधि ही है और न तो धूमरूप साध्य ही है । १३९ ।

स्वसाध्यव्यभिचारिता का अर्थ है कि स्व = (उपाधि) और साध्य (धूम) की हेतु के एक अधिकरण में व्यभिचारिता होनी ही चाहिए ।

उपाधि को दूषक होने में बीज बताया जा रहा है—

उपाधि के व्यभिचार से हेतु में साध्य के व्यभिचार का अनुमान होना ही उपाधि का प्रयोजन है ।

व्यभिचारस्येति । उपाधिव्यभिचारेण हेतौ साध्यव्यभिचारानुमानमुपाधेः प्रयोजनमित्यर्थः ।

तथाहि—यत्र शुद्धसाध्यव्यापक उपाधिस्तत्र शुद्धेनैवोपाधिव्यभिचारेण साध्यव्यभिचारानुमानम् । यथा धूमवान्वह्नेरित्यादौ वह्निर्धूमव्यभिचारी तद्व्यापकार्द्रेन्धनसंयोगव्यभिचारित्वादिति, व्यापकव्यभिचारिणो व्याप्यव्यभिचारावश्यकत्वात् ।

यत्र तु किञ्चिद्धर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापक उपाधिस्तत्र तद्धर्मवति उपाधिव्यभिचारेण साध्यव्यभिचारानुमानम् । यथा स श्यामो मित्रातनयत्वादित्यादौ मित्रातनयत्वं श्यामत्वव्यभिचारि मित्रातनये शाकपाकजत्वभिचारित्वादिति ।

तद्धर्मवत्युपाधिव्यभिचारेणेति । तद्धर्माधिकरणीभूतं यदुपाध्यभावाधिकरणं तद्वृत्तित्वेनेत्यर्थः । वायुः प्रत्यक्षः प्रमेयत्वादित्यादौ तु प्रमेयत्वं प्रत्यक्षत्वव्यभिचारि बहिर्द्रव्ये उद्भूतरूपव्यभिचारित्वादित्यादि द्रष्टव्यम् ।

ननु पक्षेतरत्वेऽतिव्याप्तिः, न च तस्य लक्ष्यत्वमेव, एकाश्रये येषामित्यादिमूलेन प्रदर्शितस्य लक्ष्यतावच्छेदकस्य तत्राभावात् । तत्र हेतौ पक्षेतरत्वव्यभिचारस्य पक्षमादायैव सत्त्वात् । साध्यव्यभिचारस्य च पक्षमादायासम्भवादत आह—बाधानुन्नीतेति ।

जैसे—जहां शुद्ध साध्य का व्यापक उपाधि है वहां शुद्ध उपाधिव्यभिचार से साध्य के व्यभिचार का अनुमान होता है । उदाहरण—जैसे धूमवान् वह्नेः में वह्निरूप हेतु, धूम रूपसाध्य के अनधिकरण अयोगोलक में रहने के कारण ही व्यभिचारी है और तत (धूम) व्यापक जो आर्द्रेन्धनसंयोग उसका भी व्यभिचारी है 'क्योंकि जो हेतु साध्य के व्यापक उपाधि का व्यभिचारी है तो सुतरां व्याप्य भूत साध्य का व्यभिचारी होगा ही । यतः व्यापक का व्यभिचारी व्याप्य का व्यभिचारी अवश्य होता है ।

जिस स्थल में किसी धर्म से विशिष्ट साध्य का व्यापक उपाधि है वहां पर उसी धर्मवाले उपाधि के व्यभिचार से साध्य के व्यभिचार का अनुमान होता है । जैसे 'स श्यामः मित्रातनयत्वात्' में मित्रातनयत्व ही श्यामत्व का व्यभिचारी है क्योंकि मित्रा के अन्य तनयों में श्यामत्व नहीं है अतः मित्रातनयत्वरूपधर्म से विशिष्ट जो साध्य (श्यामत्व) उसका व्यापक शाकपाकजत्व उपाधि है अतः शाकपाकजत्वरूप उपाधि के व्यभिचाररूप हेतु के द्वारा मित्रातनयत्वरूप हेतु में साध्यव्यभिचारानुमान हो जाता है । जैसे मित्रातनयत्वं श्यामत्वव्यभिचारी, मित्रातनये शाकपाकजत्व व्यभिचारित्वात् ।

बाधानुन्नीतपक्षेतरस्तु साध्यव्यापकताग्राहकप्रमाणाभावात्स्वव्याघातकत्वाच्च नोपाधिः ।

बाधोन्नीतस्तूपाधिर्भवत्येव । यथा वह्निरनुष्णः कृतकत्वादित्यादौ प्रत्यक्षेण वह्नेरुष्णत्वग्रहे वह्नीतरत्वमुपाधिः ।

यस्य तूपाधेः साध्यव्यापकता सन्दिह्यते स सन्दिग्धोपाधिः ।

बाधानुन्नीतपक्षेतर इति । **बाधेन पक्षे साध्याभाववत्तया न उन्नातः न साध्यव्यापकत्वेन निश्चितः इत्यर्थः ।**

स्वव्याघातकत्वाच्चेति । **उपाधिमात्रस्य दूषकताव्याघातकत्वादित्यर्थः । पक्षेतरत्वस्योपाधित्वे पक्षेतरत्वस्य सर्वत्र सत्त्वेनानुमानमात्रोच्छेदापत्त्या व्यभिचारानुमानाधीनस्योपाधेर्दूषकत्वस्यासम्भवादिति भावः ।**

ननु यत्र साध्यव्यापकताग्राहकं प्रमाणमस्ति तत्र पक्षेतरत्वे लक्षणातिव्याप्तिदुर्वारेत्यत आह—बाधोन्नीतस्त्विति **। तथा चेष्टापत्तिरिति भावः ।**

अब प्रश्न यह है कि उपाधि के उपर्युक्त लक्षण स्वीकार करने पर तो 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' में पक्षेतरत्व में उपाधिलक्षण की अतिव्याप्ति होगी । क्योंकि निश्चित साध्यवान महानस में पक्षेतरत्व है यतः सन्दिग्धसाध्यवान ही पक्ष होता है । और साधनीभूत धूम आदि तो पक्ष में रहते हैं वहां पक्षेतरत्व नहीं है । किन्तु यह दोष ठीक नहीं क्योंकि जिस पक्ष में साध्याभाववत्स्वरूप बाध निश्चय नहीं है वहां पक्षेतरत्व उपाधि नहीं बन सकती । एक तो ऐसी उपाधि का साध्यव्यापकता ग्राहक कोई प्रमाण ही नहीं है । क्योंकि पक्ष में साध्याभावनिर्णय ही पक्षेतरत्व में साध्यव्यापकता निर्णायक होगा । यहां तो पक्ष में साध्य का सन्देह है और पक्ष में पक्षेतरत्व रहना सम्भव भी नहीं है । दूसरे यदि पक्ष में साध्यसन्देह होने तथा पक्षेतरत्व में साध्यव्यापकत्व सन्देह होने से उपाधि लक्षण के सन्देह होने के कारण सन्दिग्धोपाधि होना मान भी लिया जाय तो उपाधि मात्र का विलोप हो जायगा । क्योंकि समस्त अनुमानों में ऐसी उपाधि का रहना अनिवार्य होगा । फिर तो उपाधि दूषण ही नहीं मानी जायगी । अतः बाध असहकृत पक्षेतरत्व को उपाधि मानना ठीक नहीं है ।

बाध का निश्चय जिस पक्ष में हो वहां पक्षेतरत्व को उपाधि माना ही जाता है । जैसे—'वह्निः अनुष्णः कृतकत्वात्' इत्यादि स्थलों में वह्नि में उष्णत्व का प्रत्यक्ष हो जाने पर वह्नीतरत्व को उपाधि कहते हैं ।

जिस उपाधि का साध्य व्यापकत्व सन्दिग्ध हो वह सन्दिग्धोपाधि कहा जाता है ।

पक्षेतरस्तु सन्दिग्धोपाधिरपि नोद्भावनीयः कथकसम्प्रदायानुरोधादिति ।

केचित्तु सत्प्रतिपक्षोत्थापनमुपाधिफलम् । तथाहि—अयोगोलकं धूमवद्वह्नेरित्यादावयोगोलकं धूमाभाववदार्द्रेन्धनाभावादिति सत्प्रतिपक्षसम्भवात् । इत्थं च साधनव्यापकोऽपि कश्चिदुपाधिः । यथा करका पृथ्वी कठिनसंयोगवत्त्वादित्यादावनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वम् । न चात्र स्वरूपासिद्धिरेव दूषणमिति वाच्यम्, सर्वत्रोपाधेर्दूषणान्तरसाङ्कर्यात् । अत्र च साध्यव्यापकः पक्षावृत्तिरुपाधिरित्याहुः ।

शब्दोपमानयोर्नैव पृथक्प्रामाण्यमिष्यते ॥ १४० ॥
अनुमानगतार्थत्वादिति वैशेषिकं मतम् ।
तन्न सम्यग्; विना व्याप्तिबोधं शाब्दादिबोधतः ॥१४१॥

पक्षावृत्तिरिति । **पक्षवृत्तित्वे तु पक्षे तदभावेन साध्याभावासाधनादिति भावः ।**

पक्षेतरत्व को तो संदिग्धोपाधि होने पर भी कहीं उद्भावित नहीं करना चाहिए । क्योंकि कथक (विचारकों) के सम्प्रदाय में इस प्रकार की उपाधियों के प्रयोग न करने का निर्णय किया गया है ।

कुछ विद्वानों का मत है कि सत्प्रतिपक्ष का उत्थापन मात्र उपाधि का फल है । जैसे 'अयोगोलकं धूमवत् वह्नेः' में अयोगोलकं धूमाभाववत्, आर्द्रेन्धनसंयोगाभावात् इस प्रकार सत्प्रतिपक्ष का उत्थापन होता है । जैसे साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वं उपाधिः है वैसे कहीं-कहीं साधनव्यापक भी उपाधि है । जैसे—करका पृथिवी कठिनसंयोगवत्वात् में अनुष्णाशीतस्पर्शवत्व उपाधि है । यहाँ अनुष्णाशीतस्पर्शवत्व पृथिवी मात्र में है और सर्वत्र कठिनसंयोगवत्व भी है ।

यदि कहा जाय कि यह तो स्वरूपासिद्धि होगी तो ठीक नहीं । क्योंकि सर्वत्र उपाधि के साथ दूसरे दूषणों का रहना स्वाभाविक है । इनके मत में साध्यव्यापकः पक्षावृत्तिरुपाधिः, यह उपाधि का लक्षण माना गया है ।

वैशेषिकों के मत में शब्द तथा उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव करके अलग प्रमाण नहीं माना गया है ॥ १४० ॥

किन्तु ऐसा मानना उचित नहीं क्योंकि व्याप्तिज्ञान के बिना भी शाब्दबोध होता है ॥

शब्दोपमानयोरिति । वैशेषिकाणां मते प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणम् । शब्दोपमानयोस्त्वनुमानविधयैव प्रामाण्यम् ।

तथाहि—दण्डेन गामानयेत्यादिलौकिकपदानि यजेतेत्यादिवैदिकपदानि वा तात्पर्यविषयस्मारितपदार्थसंसर्गप्रमापूर्वकाणि आकाङ्क्षादिमत्पदकदम्बत्वाद् घटमानयेतिपदकदम्बवत् ।

यद्वा एते पदार्था मिथः संसर्गवन्तः योग्यतादिमत्पदोपस्थापितत्वात् तादृशपदार्थवत् । दृष्टान्तरेऽपि दृष्टान्तान्तरेण साध्यसिद्धिरिति ।

एवं गवयव्यक्तिप्रत्यक्षानन्तरं गवयपदं गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकम् । असति वृत्त्यन्तरे वृद्धैस्तत्र प्रयुज्यमानत्वात् । असति च वृत्त्यन्तरे वृद्धैर्यत्र यत्प्रयुज्यते तत्र तत्तत्प्रवृत्तिनिमित्तकम्, यथा गोपदं गोत्वप्रवृत्तिनिमित्तकम् ।

प्रभाकरमते लौकिकः शब्दोऽनुवादकः वैदिक एव प्रमाणं तन्मतदूषणायाह—वैदिकेति ।

नन्वनुमितेर्व्यापकतावच्छेदकप्रकारकत्वनियमात् प्रमापूर्वकत्वेन प्रमापूर्वकत्वसिद्धावपि रजतत्वप्रकारकज्ञानस्य तस्मादनुपपत्तिरतः शब्दप्रामाण्यस्वीकार आवश्यक इत्यरुचेराह—यद्वेति ।

ननु दृष्टान्ते साध्यसिद्ध्यभावात् कथं व्याप्तिग्रह इत्यत आह—दृष्टान्तेऽपीति ।

वैशेषिकों के मत में प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो ही प्रमाण हैं, शब्द और उपमान का तो अनुमान के द्वारा ही बोध होता है । जैसे 'दण्डेन गामानय' ये लौकिक पदसमूह अथवा यजेत इत्यादि वैदिक पदसमूह तात्पर्यविषयस्मारित पदार्थ संसर्गप्रमापूर्वक हैं, आकांक्षादि युक्त पदसमूह होने के कारण घटमानय पदसमूहवत् इस प्रकार के अनुमान से शाब्दबोध बन जाता है ।

अथवा ये पदार्थ परस्पर संसर्गवाले है क्योंकि योग्यतादियुक्तपदों से उपस्थापित हैं तादृश पदार्थत्वात् । यदि किसी को दृष्टान्तस्थल में साध्यसिद्धि न हो तो उसे ही पक्ष बनाकर किसी प्रसिद्ध दृष्टान्त द्वारा साध्यसिद्धि की जा सकती है ।

इसी प्रकार उपमान भी अनुमान में गतार्थ हो जाता है । जैसे—गवय व्यक्ति के प्रत्यक्ष के बाद गवयपद, गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तक है क्योंकि बिना किसी अन्यवृत्ति के वृद्धों ने वैसा प्रयोग किया है, दूसरी वृत्ति के बिना वृद्ध लोग जहाँ जैसा प्रयोग करते हैं वहाँ वह प्रवृत्तिनिमित्त होता है जैसे गोपद गोत्वप्रवृत्तिनिमित्तक है । प्रवृत्तिनिमित्त से तात्पर्य शक्यतावच्छेदक का है जो शक्यवृत्ति धर्म होता है ।

यद्वा गवयपद सप्रवृत्तिनिमित्तकं साधुपदत्वादित्यनुमानेन पक्षधर्मताबलाद्गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्वं सिद्ध्यति ।

तन्मतं दूषयति—तन्न सम्यगिति । व्याप्तिज्ञानं विनापि शाब्दबोधस्यानुभवसिद्धत्वात् । न हि सर्वत्र शब्दश्रवणानन्तरं व्याप्तिज्ञाने प्रमाणमस्तीति ।

किञ्च सर्वत्र शाब्दस्थले यदि व्याप्तिज्ञानं कल्प्यते तदा सर्वत्रानुमितिस्थले पदज्ञानं कल्पयित्वा शाब्दबोध एव किं न स्वीक्रियतामिति ध्येयम् ॥ १४०–१४१ ॥

त्रैविध्यमनुमानस्य केवलान्वयिभेदतः ।
द्वैविध्यं तु भवेद् व्याप्तेरन्वयव्यतिरेकतः ॥ १४२ ॥
अन्वयव्याप्तिरुक्तैव व्यतिरेकादिहोच्यते ।

त्रैविध्यमिति । अनुमानं हि त्रिविधं—केवलान्वयिकेवलव्यतिरेक्यन्वयव्यतिरेकिभेदात् ।

ननु सर्वत्र शब्दश्रवणानन्तरं व्याप्तिज्ञानं कल्प्यतामित्यत आह—किञ्चेति । असद्विपक्षः अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यक इत्यर्थः ।

अथवा 'गवयपदं, सप्रवृत्तिनिमित्तकम्, साधुपदत्वात्' इस अनुमान में पक्षधर्मता के बल से गवयत्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्वसिद्ध होता है । इस प्रकार अनुमान में ही उपमान की गतार्थता हो जाती है ।

किन्तु यह पक्ष उचित नहीं, क्योंकि व्याप्तिज्ञान के बिना भी शाब्दबोध अनुभवसिद्ध है । सर्वत्र शब्दश्रवण के बाद व्याप्तिज्ञान होने में कोई प्रमाण भी नहा है ।

यदि सर्वत्र शाब्दबोध में व्याप्तिज्ञान की कल्पना की जाय तो उचित नहीं क्योंकि ऐसा करने से कहा जा सकता है कि जहाँ अनुमिति होती है वहाँ भी पदज्ञान की कल्पना करके शाब्दबोध ही क्यों न स्वीकार किया जाय ॥ १४०–१४१ ॥

अनुमान तीन प्रकार का होता है—१. केवलान्वयी, २. केवल व्यतिरेकि ३. अन्वयव्यतिरेकी । व्याप्ति तो दो प्रकार की होती है—१. अन्वयव्याप्ति, २. व्यतिरेकव्याप्ति । इनमें अन्वयव्याप्ति का स्वरूप बताया जा चुका है । आगे व्यतिरेकव्याप्ति का लक्षण यहाँ कहा जा रहा है ॥ १४२½ ॥

अनुमान तीन प्रकार का है—१. केवलान्वयी. २. केवलव्यतिरेकि, ३. अन्वयव्यतिरेकि ।

तत्रासद्विपक्षः केवलान्वयी, यथा घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वादित्यादौ, तत्र हि सर्वस्यैवाभिधेयत्वाद्विपक्षासत्त्वम्[1]।

असत्सपक्षः केवलव्यतिरेकी, यथा पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वादित्यादौ, तत्र हि जलादित्रयोदशभेदस्य पूर्वमनिश्चततया निश्चितसाध्यवतः सपक्षस्याभाव इति।

सत्सपक्षविपक्षोऽन्वयव्यतिरेकी, यथा—वह्निमान्धूमादित्यादौ, तत्र सपक्षस्य महानसादेर्विपक्षस्य जलह्रदादेश्च सत्त्वमिति।

तत्र व्यतिरेकिणि व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानं कारणं तदर्थं व्यतिरेकव्याप्तिं निर्वक्ति—

इनमें केवलान्वयी वह अनुमान है जिसके साध्य का विपक्ष (अभाव) अप्रसिद्ध हो उसकी अनुमिति। जैसे 'घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्' यहाँ घट पक्ष है अभिधेयत्व साध्य है, प्रमेयत्व हेतु है। अभिधेयत्वरूपसाध्य के अभाव का कोई अधिकरण प्रसिद्ध नहीं अतः यह असद्विपक्षसाध्य कहा जाता है। जिसे अत्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्य कहते हैं अर्थात् अभिधेयत्वाभाव का अधिकरण उपलब्ध न होने से यह अभाव ही अप्रसिद्ध होगा तब अभिधेयत्व किसी भी अभाव का प्रतियोगी नहीं होगा। क्योंकि सब तो अभिधेय है अतः अभिधेयत्व का विपक्ष है ही नहीं।

केवल व्यतिरेकि अनुमान वह है जिसके साध्य का सपक्ष न हो वह साध्य जिस अनुमितिकरण में हो वह अनुमान केवलव्यतिरेकि कहा जाता है। जैसे—पृथिवी, इतरेभ्यो-भिद्यते, गन्धवत्वात्—१. जल, २. तेज, ३. वायु, ४. आकाश, ५. काल, ६. दिक्, ७. आत्मा, ८. मन एवं गुणकर्म सामान्य विशेष समवाय इन पाँचों के साथ जो जलादि त्रयोदशों का भेद पृथ्वी में पहिले निश्चित है नहीं अतः 'निश्चित साध्यवान् सपक्ष' अप्रसिद्ध है।

जिस अनुमान में सपक्ष और विपक्ष दोनों वर्तमान हों वह अन्वयव्यतिरेकी है। जैसे वह्निमान् धूमात् में वह्निरूप साध्य का निश्चित साध्यवान् सपक्ष महानस है और निश्चित साध्याभाववन (वह्न्यभाववान्) विपक्ष महाह्रद प्रसिद्ध है।

व्यतिरेकि अनुमान में व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान कारण है इसलिए व्यतिरेक व्याप्ति का निर्वचन करते हैं—

१. ननु सर्वेषां धर्माणां व्यावृत्तत्वात् केवलान्वय्यसिद्धिरिति चेन्न व्यावृत्तत्वस्य सर्वसाधारण्ये केवलान्वयित्वात्। किञ्च वृत्तिमदत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं केवलान्वयित्वं तच्च गगनाभावादौ प्रसिद्धम्; इति क्वचित्पुस्तकेऽधिकः पाठः।

साध्याभावव्यापकत्वं हेत्वभावस्य यद्भवेत् ॥ १४३ ॥

साध्याभावेति। साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वमित्यर्थः।

अत्रेदं बोध्यम्। यत्सम्बन्धेन यदवच्छिन्नं प्रति येन सम्बन्धेन येन रूपेण व्यापकता गृह्यते तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकतद्धर्मावच्छिन्नाभाववत्ताज्ञानात्तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकतद्धर्मावच्छिन्नाभावस्य सिद्धिरिति[1] इत्थं च यत्र विशेषणतादिसम्बन्धेनेतरत्वव्यापकत्वं गन्धाभावे गृह्यते तत्र गन्धाभावाभावेनेतरत्वात्यन्ताभावः सिध्यति।

यत्र तु तादात्म्यसम्बन्धेनेतरव्यापकता गन्धाभावस्य गृह्यते तत्र तादात्म्यसम्बन्धेनेतरस्याभावः सिध्यति। स एवान्योन्याभावः।

इतरव्यापकतात। **इतरस्य व्यापकता इतरव्यापकता इतरनिष्ठव्याप्यतानिरूपितव्यापकतेत्यर्थः।**

साध्याभाव का व्यापक यदि हत्वाभाव हो तो व्यतिरेकि व्याप्ति होता है ॥ १४३ ॥

साध्याभाव का व्यापकीभूत जो अभाव उसका प्रतियोगित्व जिसमें हो वह व्यतिरेक-व्याप्ति है।

यहाँ यह समझना चाहिए कि जिस सम्बन्ध से यद्धर्मावच्छिन्न के प्रति जिसकी जिस सम्बन्ध से जिस रूप में व्यापकता गृहीत हो उस सम्बन्ध से अवच्छिन्न (विशिष्ट) प्रतियोगिताक तद्धर्मावच्छिन्नाभाववत्ताज्ञान से तत् सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक तद्धर्मावच्छिन्नाभाव की सिद्धि होती है। जैसे वह्निमान् धूमात् में संयोगसम्बन्ध से धूमत्वावच्छिन्न के प्रति जिस संयोग सम्बन्ध से जिस रूप में (वह्नित्वरूप में) वह्नि में व्यापकता ग्रह होने पर संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक वह्नित्वावच्छिन्न के अभाववत्ताज्ञान से संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक धूमत्वावच्छिन्न के अभाव की सिद्धि जलह्रद में होती है। जैसे पृथिवी इतरभिन्ना गन्धवत्त्वात् में यदि विशेषणता (स्वरूप) सम्बन्ध से इतरत्व की व्यापकता का गन्धात्यन्ताभाव में ग्रहण होता है तो वहाँ गन्धाभावाभाव से इतरत्वात्यन्ताभाव सिद्ध होता है और पृथिवी इतरत्वात्यन्ताभाववती गन्धात् यह अनुमिति होती है।

जहाँ तादात्म्य सम्बन्ध से इतरत्व व्यापकत्व गन्धाभाव में गृहीत होता है वहाँ

१. येन रूपेण येन सम्बन्धेन यत्र व्यापकता गृह्यते तेन रूपेण तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकतदभाववत्ताज्ञानात् यत्सम्बन्धेन यं प्रति यस्य व्याप्यता गृह्यते तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकतद्धर्मावच्छिन्नभावस्य सिद्धिरिति **पाठान्तरं क्वचित्पुस्तके।**

एवं यत्र संयोगसम्बन्धेन धूम प्रति संयोगसम्बन्धेन वह्नेर्व्यापकता गृह्यते तत्र संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकवह्न्यभावेन जलह्रदे संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकधूमाभावः सिध्यति, अत्र च व्यतिरेकव्याप्तिग्रहे व्यतिरेकसहचारज्ञानं कारणम्।

केचित्तु व्यतिरेकसहचारेणान्वयव्याप्तिरेव गृह्यते न तु व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानमपि कारणम्। यत्र व्यतिरेकसहचाराद् व्याप्तिग्रहस्तत्र व्यतिरेकीत्युच्यते। साध्यप्रसिद्धिस्तु घटादावेव जाता पश्चात्पृथिवीत्वावच्छेदेन साध्यत इति वदन्ति ॥ १४२–१४३ ॥

आचार्यमतमाह—केचित्विति। व्यतिरेकसहचारेण—**अन्वयसहचारनिरपेक्षव्यतिरेकसहचारेण। अन्वयव्याप्तिरेवेत्यत्रैवकारेण व्यतिरेकव्याप्तेर्व्यवच्छेदः।**

ननु घटादौ साध्यनिर्णये कथमितरभेदानुमितिः सिद्धेः प्रतिबन्धकत्वादत आह—पश्चादिति। **अवच्छेदकावच्छेदेनानुमितौ सामानाधिकरण्येन सिद्धेरप्रतिबन्धकत्वादिति भावः ॥ १४२–१४३ ॥**

तादात्म्य सम्बन्ध से इतराभाव सिद्ध होता है। यह ही तादात्म्य सम्बन्ध से सिद्ध होने वाला अभाव अन्योन्याभाव (इतरभेद) कहलाता है।

इसी प्रकार जहाँ संयोग सम्बन्ध से धूम के प्रति संयोग सम्बन्ध से वह्नि की व्यापकता गृहीत होती है वहाँ संयोग सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक वह्न्यभाव रूप हेतु से जलह्रद में संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक धूमाभाव रूप साध्यसिद्ध हो जाता है, जैसे धूमाभाववान् वह्न्याभावात्। इस व्यतिरेकव्याप्तिग्रह में व्यतिरेक के सहचार का ज्ञान कारण है। अर्थात् जहाँ साध्याभाव है वहाँ हेत्वभाव कारण है।

आचार्य उदयन का मत है कि अन्वय-सहचार निरपेक्ष व्यतिरेक सहचार से अन्वय व्याप्ति ही गृहीत होती है। व्यतिरेकव्याप्ति नहीं। और न तो इसमें व्यतिरेकव्याप्ति ज्ञान कारण ही है, अर्थात् अनुमिति सामान्य के प्रति अन्वयव्याप्तिज्ञान ही कारण है। व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान कारण नहीं है। यतः अन्यथा सिद्ध है। जहाँ व्यतिरेक सहचार से व्याप्ति ग्रह है वहाँ व्यतिरेकी कहा जाता है। साध्य की प्रसिद्धि तो घट आदि में हो जाती है बाद में पृथिवी मात्र में इतरभेद सिद्ध करते हैं। अतः यह कहना ठीक नहीं कि घट में साध्यसिद्धि हो जाने पर इतरभेदानुमिति नहीं होगी क्योंकि सिद्धिअनुमिति की प्रतिबन्धक है। क्योंकि अवच्छेदकावच्छेदेन अनुमिति के प्रति सामानाधिकरण्येन साध्यसिद्धि प्रतिबन्धक नहीं होती ॥ १४२–१४३ ॥

अर्थापत्तिस्तु नैवेह प्रमाणान्तरमिष्यते।
व्यतिरेकव्याप्तिबुद्ध्या चरितार्था हि सा यतः ॥ १४४ ॥

अर्थापत्तिरिति। अर्थापत्तिः प्रमाणान्तरमिति केचन मन्यन्ते। तथाहि—यत्र देवदत्तस्य शतवर्षजीवित्वं ज्योतिःशास्त्रादवगतं जीविनो गृहासत्त्वं च प्रत्यक्षादवगतं तत्र शतवर्षजीविनो गृहासत्त्वं बहिःसत्त्वं विनाऽनुपपन्नमिति बहिसत्त्वं कल्पयति, इति तदप्यनुमानेन गतार्थत्वान्नेष्यते। तथाहि—यत्र जीवित्वस्य बहिःसत्त्वगृहसत्त्वान्यतरव्याप्यत्वं गृहीतं तत्रान्यतरसिद्धौ जायमानायां गृहसत्त्वबाधाद्बहिःसत्त्वमनुमित्तौ भासते।

एवं 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यादौ पीनत्वस्य भोजनव्याप्यत्वावगमाद्भोजनसिद्धौ दिवाभोजनबाधे रात्रिभोजनं सिध्यतीति।

केचनेति। **मीमांसका इत्यर्थः।** दिवा न भुङ्क्ते इत्यादा**वित्यादिना मयूरः पर्वतेतरस्मिन् न नृत्यति नृत्यति चेत्यस्य सङ्ग्रहः। नन्वेतद्वाक्यान्मयूरः पर्वते नृत्यतीति ज्ञानमुत्पद्यते नत्वेतद्व्यतिरेकिणः सम्भवति पर्वतनृत्यस्य साध्यस्याप्रसिद्धौ व्यतिरेकव्याप्त्यभावादिति, अर्थापत्तेः प्रमाणान्तरत्वमावश्यकमिति चेन्न मयूरनृत्यं पर्वताधिकरणकं पर्वतेतरानधिकरणत्वे सति साधिकरणत्वात् पर्वतत्ववदित्यन्वयव्यतिरेकिणैव पर्वताधिकरणकमयूरनृत्यज्ञानसम्भवादिति ध्येयम्।**

नैयायिक लोग अर्थापत्ति को अलग प्रमाण नहीं मानते। क्योंकि वह व्यतिरेकव्याप्तिज्ञान में ही गतार्थ हो जाती है ॥ १४४ ॥

मीमांसकों ने अर्थापत्ति को प्रमाणान्तर माना है। उनका पक्ष है कि जब देवदत्त का शतवर्षजीवित्व ज्योतिः शास्त्र से जाना गया है, तथा जीवित्व रहने पर भी देवदत्त का घर में न होना प्रत्यक्ष करलेने के बाद यहाँ शतवर्षजीवी का घर में न होना वाह्यसत्ता के बिना अनुपपन्न है इसलिए वाह्यसत्ता की कल्पना होती है। किन्तु यह मीमांसकों का मत ठीक नहीं है क्योंकि यह अर्थापत्ति अनुमान में ही गतार्थ है। जैसे यहाँ जीवित्व में वहिः सत्व अथवा गृहसत्व अन्यतर की व्याप्यता का निश्चय हो जाने पर देवदत्त में वहिः सत्व गृहसत्व अन्यतर की सिद्धि हो जाती है। इनमें से गृहसत्व का प्रत्यक्षतः बाध होने पर वहिः सत्व ही अनुमिति में भासित होता है। जैसे देवदत्तो बहिरस्ति जीवित्वे सति गृहेऽसत्वात्।

इसी तरह पीनोऽयं देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते इत्यादि स्थलों में पीनत्व में भोजनव्याप्यता

अभावप्रत्यक्षस्यानुभविकत्वादनुपलम्भोऽपि न प्रमाणान्तरम्। किञ्चानुपलम्भस्याज्ञातस्य हेतुत्वे ज्ञानाकरणकत्वात्प्रत्यक्षत्वम्, ज्ञातस्य हेतुत्वे तु तत्राप्यनुपलम्भान्तरापेक्षेत्यनवस्था।

एवं चेष्टापि न प्रमाणान्तरं तस्या सङ्केतग्राहकशब्दस्मारकत्वेन लिप्यादिसमशीलत्वाच्छब्द एवान्तर्भावात्। यत्र च व्याप्त्यादिग्रहस्तत्रानुमितिरेवेति ॥ १४४ ॥

आनुभविकत्वादिति। **येन इन्द्रियेण या व्यक्तिर्गृह्यते तद्गताजातिस्तदभावश्च तेनैवेन्द्रियेण गृह्यते, इति नियमाद्विशेषणतासन्निकर्षेण चक्षुरादिभिरेव घटाभावादेर्ग्रहणसम्भवादिति भावः ॥ १४४ ॥**

का निश्चय होने से भोजन सिद्ध होता है किन्तु दिन में भोजन का बाध होने पर रात्रि भोजन सिद्ध होता है जैसे—देवदत्तः रात्रिभोजनवान् दिवाभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्।

मीमांसकों ने अनुपलब्धि अथवा अभाव को अलग एक प्रमाण माना है। उनका पक्ष है कि अभाव का प्रत्यक्ष नहीं होता किन्तु अनुपलब्धि प्रमाण से जन्य जो अनुपलम्भात्मकप्रमा उसी का विषय अभाव है। अतएव अभाव के प्रत्यक्ष के लिए विशेषणता सन्निकर्ष भी नहीं मानना चाहिए। किन्तु इनका यह पक्ष ठीक नहीं क्योंकि अभाव का प्रत्यक्ष द्वारा अनुभव हो रहा है तब अनुपलब्धि को प्रमाणान्तर मानना उचित नहीं। अतः इन्द्रियों से अभाव प्रत्यक्ष में योग्यानुपलब्धि सहकारी माना है। यदि कहा जाय कि योग्य की अनुपलब्धि को सहकारी मानने की अपेक्षा स्वतन्त्र प्रमाण मानने में कोई आपत्ति तो नहीं है। किन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि अनुपलम्भ स्वयं अज्ञात होकर प्रमाज्ञान का कारण है अथवा ज्ञात होकर? यदि अज्ञात अनुपलम्भ अभावप्रमा का हेतु है तो स्वरूपतः विद्यमान प्रतियोगी की अनुपलब्धि से अभावप्रत्यक्ष होने पर ज्ञानाकरणक ज्ञान प्रत्यक्ष इस प्रत्यक्ष लक्षण का लक्ष्य हो जाने से प्रतियोग्यनुपलब्धि प्रत्यक्षप्रमाण के अन्तर्भूत होगी। अतः उसमें प्रत्यक्ष से अतिरिक्त प्रमाणसिद्ध होना कठिन है। यदि ज्ञान अनुपलम्भ अभावप्रत्यक्ष से हेतु माना जाय तो वह ज्ञानाकरणक ज्ञान नहीं माना जायगा। और प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव भी नहीं होगा किन्तु अभाव प्रत्यक्ष में प्रतियोग्यनुपलब्धिज्ञान को कारण मानने पर प्रतियोग्युपलब्ध्यभावज्ञान भी अभावज्ञान है पुनः अनुपलम्भान्तर की अपेक्षा होगी। तब अनवस्था होती है। किन्तु इन्द्रियों को कारण मानने में ये दोष नहीं होगें। अतएव नैयायिकों ने अलग प्रमाण न मानकर विशेषणता सन्निकर्ष से अभाव का प्रत्यक्ष माना है।

इसी प्रकार चेष्टा भी अन्य प्रमाण नहीं है। क्योंकि चेष्टा तो सङ्केत ग्राहक शब्द की स्मारिका है। लिपि के समान ही वह चिह्न है अतः चेष्टा भी एक लपि में शब्द ही

सुखं निरूपयति—

सुखं तु जगतामेव काम्यं धर्मेण जायते।

सुखंत्विति। काम्यमभिलाषविषयः। धर्मेणेति। धर्मत्वेन सुखत्वेन कार्यकारणभाव इत्यर्थः।

दुःखं निरूपयति—

अधर्मजन्यं दुःखं स्यात्प्रतिकूलं सचेतसाम् ॥ १४५ ॥

अधर्मेति। अधर्मत्वेन दुःखत्वेन कार्यकारणभाव इत्यर्थः। प्रतिकूलमिति। दुःखत्वज्ञानादेव सर्वेषां स्वाभाविकद्वेषविषय इत्यर्थः ॥ १४५ ॥

इच्छां निरूपयति—

निर्दुःखत्वे सुखे चेच्छा तज्ज्ञानादेव जायते।
इच्छा तु तदुपाये स्यादिष्टोपायत्वधीर्यदि ॥ १४६ ॥

धर्मत्वेनेति। **समवायसम्बन्धावच्छिन्नकार्यतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नधर्मत्वावच्छिन्ना कारणता धर्मे स्वीक्रियते इति।**

इदं च प्राचां मतेनोक्तम्। नवीनमते तु नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति श्रुत्या भगवति नित्यसुखसिद्धौ धर्मस्य कार्यतावच्छेदकजन्यसुखत्वं बोध्यम्।

है। यदि कहीं व्याप्ति आदि का भी ग्रहण होता हो तो अनुमिति में अन्तर्भाव माना जा सकता है। जैसे नेत्र से बुलाया जाने वाला व्यक्ति अनुमान करता है कि—'अय मामाह्वयति तदनुकूलचेष्टावत्वात्' ॥ १४४ ॥

सुख का निरूपण करते हैं।

जगत् के अभिलाष का विषय सुख है। वह धर्म से जन्य है। काम्य का अर्थ है अभिलाष का विषय होना। 'समवायेन सुखत्वावच्छिन्नं प्रति समवायेन धर्मः कारणम्' यह कार्यकारणभाव होता है।

दुःख का निरूपण करते हैं—

समस्त प्राणियों को प्रतिकूल लगने वाला दुःख है ॥ १४५ ॥

यह दुःख अधर्मजन्य है। समवायेन दुःखं प्रति समवायेन अधर्मः कारणम्। यह कार्यकारणभाव है। दुःखत्वप्रकारकज्ञान होने से ही सबके स्वाभाविक द्वेष का विषय है इसीलिए सबके लिए प्रतिकूल है ॥ १४५ ॥

इच्छा का निरूपण करते हैं—

दुःखाभाव और सुख की इच्छा होती है। यह सुख तथा दुःखाभाव के ज्ञान से होती

निर्दुःखत्व इति। इच्छा द्विविधा फलविषयिणी उपायविषयिणी च। फलं तु सुखं दुःखाभावश्च। तत्र फलेच्छां प्रति फलज्ञानं कारणम्। अत एव पुरुषार्थः सम्भवति। यज्ज्ञातं सत्स्ववृत्तितयेष्यते स पुरुषार्थ इति तल्लक्षणात्। इतरेच्छानधीनेच्छाविषयत्वं फलितोऽर्थः।

उपायेच्छां प्रतीष्टसाधनताज्ञानं कारणम्॥ १४६॥

चिकीर्षा कृतिसाध्यत्वप्रकारेच्छा च या भवेत्।
तद्धेतुः कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमतिर्भवेत्॥ १४७॥

चिकीर्षेति। कृतिसाध्यत्वप्रकारिका कृतिसाध्यविषयिणीच्छा चिकीर्षा—पाकं कृत्या साधयामीति तदनुभवात्। चिकीर्षां प्रति कृति-

---

यज्ज्ञात सदिति। नन्वस्य स्वविषयज्ञानजन्येच्छा विषयत्वमर्थः। तत्रोपायेऽति-व्याप्तं फलविषयकं यदिष्टसाधनताज्ञानं तजन्या या उपायेच्छा तद्विषयत्वस्य फले सत्वादत आह—इतरेच्छानधीनेच्छेति। तथा च उपायेच्छायाः फलेच्छाधीनत्वेन तद्विषय उपाये नातिव्याप्तिः॥ १४६॥

है। यदि सुख और दुःखाभाव के उपाय (साधन) में 'इदं मदिष्टसाधनम्' इस रूप में इष्टोपायत्व (साधनत्व) प्रकारक ज्ञान हो तब इच्छा होती है॥ १४६॥

इच्छा दो प्रकार की होती है। एक फलविषयिणा (फलेच्छा) और दूसरी उपाय विषयिणी (उपायेच्छा)। फल तो सुख अथवा दुःखाभाव है। इनमें फलेच्छा के प्रति फलज्ञान कारण है। क्योंकि 'जानाति ततः इच्छति ततो यतते' इस प्रकार फलेच्छा के पूर्व फलज्ञान होना अनिवार्य है। फलेच्छा से नियत-पूर्ववर्ती होने के कारण फलज्ञान फलेच्छा में कारण होता है। इसीलिए पुरुषार्थ होता है। क्योंकि जो ज्ञात होकर आत्मवृत्तित्वेन इष्ट हो वही पुरुषार्थ होता है। यह ही पुरुषार्थ का लक्षण है। तात्पर्यार्थ है कि इतर की इच्छा के अनधीन इच्छा का विषय पुरुषार्थ है। उपायेच्छा फलेच्छाधीनेच्छा का विषय है अतः पुरुषार्थ नहीं है। उपायेच्छा के प्रति इष्टसाधनताज्ञान कारण होता है।

कृतिसाध्यत्वप्रकारिका अर्थात् कृतिसाध्यविषयिणी इच्छा जो होती है उसे ही चिकीर्षा कहते है। कृतिसाध्यत्वविशिष्टेष्टसाध्यत्वप्रकारकज्ञान चिकीर्षा का कारण होता है॥ १४७॥

कृतिसाध्यत्वप्रकारिका अर्थात् कृतिसाध्यविषयिणी 'इदं मत्कृतसाध्यम्' इस प्रकार की इच्छा को चिकीर्षा कहते हैं। पाकं कृत्या साधयाभि यह अनुभव भी है। चिकीर्षा के प्रति इष्टसाधनताज्ञान तथा कृतिसाध्यताज्ञान कारण है। अतएव वृष्टि आदि में कृतिसाध्यताज्ञान न होने से चिकीर्षा भी नहीं होती॥ १४७॥

साध्यताज्ञानमिष्टसाधनताज्ञानं च कारणम्। तद्धेतुरिति। अत एव वृष्ट्यादौ कृतिसाध्यताज्ञानाभावान्न चिकीर्षा॥ १४७॥

बलवद्द्विष्टहेतुत्वमतिः स्यात्प्रतिबन्धिका।

बलवदिति। बलवद्द्विष्टसाधनताज्ञानं तत्र प्रतिबन्धकम्, अतो मधुविषसम्पृक्तान्नभोजने न चिकीर्षा।

बलवद्द्वेषः प्रतिबन्धक इत्यन्ये।

तदहेतुत्वबुद्धेस्तु हेतुत्वं कस्यचिन्मते॥ १४८॥

तदहेतुत्वेति। बलवदनिष्टाजनकत्वज्ञानं कारणमित्यर्थः। कृतिसाध्यताज्ञानादिमतो बलवदनिष्टसाधनताज्ञानशून्यस्य बलवदनिष्टाजनकत्वज्ञानं विनापि चिकीर्षायां विलम्बाभावात् कस्यचिन्मत इत्यस्वरसो दर्शितः॥ १४८॥

द्वेषं निरूपयति।

द्विष्टसाधनताबुद्धिर्भवेद्द्वेषस्य कारणम्।

ननु अगम्यागमनं बलवद्द्विष्टस्य नरकस्य साधनमिति ज्ञानवतोऽपि तादृशद्वेष-शून्यदशायां चिकीर्षाप्रवृत्त्योर्दर्शनेन व्यभिचार इत्याशयेनाह—बलवद्द्वेष इति। तत्र

बलवत् द्विष्टसाधनत्वज्ञान चिकीर्षा में प्रतिबन्धक है। अत एव मधु और विष से सम्पृक्त अन्न भोजन की चिकर्षा नहीं होती।

यदि कहा जाय कि अगम्यागमन अत्यन्त द्विष्टनरक का साधन है यह जानते हुए भी द्वेष शून्यदशा में चिकीर्षा होती है अतः उक्त प्रतिबन्धक मानना उचित नहीं इसी लिए तो कतिपय आचार्यों ने बलवत् द्वेष को प्रतिबन्धक माना है।

किसी का मत है कि तत् (बलवदनिष्ट) के अजनकज्ञान को उक्त चिकीर्षा के प्रति कारण माना गया है।

चिकीर्षा के प्रति बलवदनिष्टाजनकत्वाज्ञान कारण है। यह मूल का तात्पर्य है। किन्तु जिसे कृतिसाध्यताज्ञान है किन्तु बलवत् अनिष्टसाधनज्ञान नहीं है और बलवदनिष्टा-जनकत्वज्ञान भी नहीं है इस स्थिति में चिकीर्षा होने में विलम्ब भी नहीं होता। अतएव 'कस्यचिन्मते' कहा गया है॥ १४८॥

द्वेष का निरूपण करते हैं—

द्वेषसाधकज्ञान द्वेष का कारण (निमित्तकारण) है। द्वेष दो प्रकार का है। एक

द्विष्टसाधनतेति। दुःखोपायविषयकं द्वेषं प्रति बलवद्द्विष्टसाधनताज्ञानं कारणमित्यर्थः। बलवदिष्टसाधनताज्ञानं च प्रतिबन्धकम्, तेन नान्तरीयकदुःखजनके पाकादौ न द्वेषः।

प्रयत्नं निरूपयति—

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च तथा जीवनकारणम् ॥ १४९ ॥

एवं प्रयत्नत्रैविध्यं तान्त्रिकैः परिकीर्तितम्।

प्रवृत्तिश्चेति। प्रवृत्ति-निवृत्ति-जीवनयोनियत्नभेदात्प्रयत्नस्त्रिविध इत्यर्थः॥

चिकीर्षा कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमतिस्तथा ॥ १५० ॥

उपादानस्य चाध्यक्षं प्रवृत्तौ जनकं भवेत्।

चिकीर्षेत्यादि। मधुविषसम्पृक्तान्नभोजनादौ बलवदनिष्टानुबन्धित्वज्ञानेन चिकीर्षाभावान्न प्रवृत्तिरिति भावः। कृतिसाध्यताज्ञानादिवद्बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानमपि स्वतन्त्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तौ कारणमित्यपि वदन्ति।

चिकीर्षायाम्—तथा च कृतिसाध्यताज्ञानमिष्टसाधनताज्ञानं बलवदनिष्टाजनकत्वज्ञानं च चिकीर्षायां कारणमित्यर्थः।

दुःखविषयक और दूसरा दुःखोपायविषयक। प्रथम में दुःखज्ञान कारण है। दूसरे में बलवत् द्वेषसाधनताज्ञान कारण है। और बलवद् इष्टसाधनताज्ञान प्रतिबन्धक है। अतएव अनिवार्य दुःखों के जनक पाक के प्रति द्वेष नहीं होता।

प्रयत्न का निरूपण करते हैं—

न्यायतन्त्र के आचार्यों ने प्रयत्न तीन प्रकार का माना है। १. प्रवृत्ति, २. निवृत्ति, और ३. जीवनयोनि ॥ १४९½ ॥

प्रवृत्ति के जनक हैं—१. चिकीर्षा, २. कृतिसाध्यत्वज्ञान, ३. इष्टसाधनत्वज्ञान, ४. उपादानाख्यसमवायिकारण का प्रत्यक्ष ये चार प्रवृत्ति के प्रति कारण है ॥ १५०½ ॥

मधु और विष से मिले हुए अन्न के भोजन आदि में बलवदनिष्टानुबन्धित्वज्ञान होने से चिकीर्षा नहीं उत्पन्न हुई अतः प्रवृत्ति भी नहीं होती। कुछ लोगों का मत है कि कृतिसाध्यताज्ञान की भाँति बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञान भी स्वतन्त्र रूप से अन्वय व्यतिरेक द्वारा प्रवृत्ति के प्रति कारण माना गया है।

कार्यताज्ञानं प्रवर्तकमिति गुरवः। तथा—ज्ञानस्य प्रवृत्तौ जननीयायां चिकीर्षातिरिक्तं नापेक्षितमस्ति। सा च कृतिसाध्यताज्ञानसाध्या इच्छायाः स्वप्रकारप्रकारकधीसाध्यत्वनियमात्। चिकीर्षा हि कृतिसाध्यत्वप्रकारिकेच्छा। तत्र कृतिसाध्यत्वं प्रकारः, तत्प्रकारकज्ञानं चिकीर्षायां तद्द्वारा च प्रवृत्तौ हेतुर्नत्विष्टसाधनताज्ञानं तत्र हेतुः—नित्ये तदभावात्।

ननु कृत्यसाध्येऽपि चन्द्रमण्डलानयनादौ प्रवृत्त्यापत्तेः न चिकीर्षाकारणं किन्तु कृत्यसाध्यताज्ञानं प्रतिबन्धकमिति चेद्—

प्रभाकरमतमाह—कार्यताज्ञानमिति। **अयं भावः—प्रवृत्तौ चिकार्षा कारणम्, तत्र च कार्यताज्ञानं कारणमिति परम्परया कार्यताज्ञानस्य प्रवृत्तौ कारणत्वमिति।**

इष्टसाधनताज्ञानं तु न प्रवृत्तौ कारणं नित्ये कर्मणि फलजनकत्वाभावेन तत्रेष्टसाधनताज्ञानाभावात्प्रवृत्त्यनापत्तेः।

प्रभाकरों का मत है कि कृतिसाध्यताज्ञान मात्र चिकीर्षा द्वारा प्रवृत्तिजनक है। जैसे—प्रवृत्ति में चिकीर्षा कारण है, उसमें कार्यताज्ञान कारण है इस प्रकार परम्परा द्वारा कार्यताज्ञान प्रवृत्ति के प्रति कारण होता है। ज्ञान से जब प्रवृत्ति की उत्पत्ति होती है तब चिकीर्षात्मक व्यापार से भिन्न कोई सहकारी कारण की अपेक्षा नहीं होती। चिकीर्षा भी कृतिसाध्यताज्ञान से साध्य है। क्योंकि यद्विशेष्यक यत्प्रकारक इच्छा होती है वह अवश्य तद्विशेष्यकतत्प्रकारक ज्ञान जन्या होती है। अर्थात् स्व = चिकीर्षा उसमें जो प्रकार = कृतिसाध्यत्व तत्प्रकारक जो ज्ञान उससे साध्य होती। यह नियम है। कृतिसाध्यत्वप्रकारिका इच्छा 'इदं मत्कृतिसाध्यम्' इस प्रकार की इच्छा को चिकीर्षा कहते हैं। तत्र = चिकीर्षा में कृतिसाध्यत्व प्रकार है। तत्प्रकारकज्ञान चिकीर्षा में है और चिकीर्षा द्वारा प्रवृत्ति में हेतु होता है। इष्टसाधनताज्ञान तो प्रवृत्ति के प्रति कारण नहीं है। क्योंकि नित्यकर्म में फलजनकत्व होता नहीं है। अतः इष्टसाधनताज्ञान भी नहीं होता फिर प्रवृत्ति नहीं बनती।

यदि कहा जाय कि कृति से असाध्य चन्द्रमण्डल के लाने में प्रवृत्ति होनी चाहिए क्योंकि चन्द्र यदि द्वार पर लग जाय तो रातभर प्रकाश रहेगा तेल की चिन्ता जाती रहेगी। किन्तु प्रवृत्ति का न होना बताता है कि इष्टसाधनताज्ञान मात्र से प्रवृत्ति नहीं होती है और न यह चिकीर्षा में कारण ही है किन्तु 'इदं न मत् कृतिसाध्यम्' इस प्रकार की कृति की असाध्यता का ज्ञान प्रवृत्ति में प्रतिबन्धक है। यह कहना ठीक नहीं क्योंकि प्रतिबन्धकाभाव को कारण मानने की अपेक्षा कृतिसाध्यताज्ञान लघु है। यदि दोनों को

न; तदभावापेक्षया कृतिसाध्यताज्ञानस्य लघुत्वात् ।

न च द्वयोरपि हेतुत्वं, गौरवात् ।

ननु त्वन्मतेऽपि मधुविषसम्पृक्तान्नभोजने चैत्यवन्दने च प्रवृत्त्यापत्तिः कार्यताज्ञानस्य सत्वादिति चेद्—

न; स्वविशेषणवत्ताप्रतिसन्धानजन्यकार्यताज्ञानस्य प्रवर्तकत्वात् । काम्ये हि यागपाकादौ कामना स्वविशेषणम्, ततश्च बलवदनिष्टाननुबन्धिकाम्यसाधनताज्ञानेन कार्यताज्ञानम् ततः प्रवृत्तिः । तृप्तश्च भोजने न प्रवर्तते-इदानीं कामनायाः पुरुषविशेषणत्वाभावात् । नित्ये च शौचादिकं पुरुषविशेषणम्, तेन शौचादिज्ञानाधीनकृतिसाध्यताज्ञानात्तत्र प्रवृत्तिः ।

स्वविशेषणेति । **स्वं प्रवर्तमानपुरुषः तद्विशेषणं काम्येकामना, नित्येकाल शौचादि तद्वत्ता—पद्वे तत्सम्बन्धः तस्य प्रतिसन्धानं ज्ञानं कार्यताज्ञाने हेतुः, तद्धेतुता च पाको मत्कृतिसाध्यः मत्कृति विनानुत्पद्यमानत्वे सति मदिष्टसाधनत्वादित्यनुमानेनावगम्यते इति ।**

कारण माना जाय तो ठीक नहीं क्योंकि कारणतावच्छेदक मानने में गौरव होगा । और कृतिसाध्यताज्ञानत्व की अपेक्षा कृत्यसाध्यताज्ञानाभावत्व में गौरव है ।

यदि कहा जाय कि तुम्हारे (प्रभाकर के) मत में कार्यताज्ञान (कृतिसाध्यताज्ञान) होने से मधु तथा विष सम्पृक्त अन्न भोजन तथा चैत्यवन्दन जैसे निरर्थक कृत्यों में भी प्रवृत्ति होने लगेगी तो ठीक नहीं । क्योंकि स्वविशेषणवत्ताप्रतिसन्धानजन्य कार्यताज्ञान ही प्रवर्तक है । स्व = प्रवर्तमानपुरुष, तद्विशेषण = काम्यकर्म में कामना, नित्यकर्म में तात्कालिक शौच आदि तदवत्ताप्रतिसन्धान = तादृशतत्तद्विशेषणवानहं इत्याकारकज्ञानजन्यकार्यता = कृतिसाध्यता ज्ञान ही प्रवर्तक माना गया है । काम्यकर्म याग और पाक आदि में कामना ही स्व (प्रसव) विशेषण है । तब बलवत् अनिष्ट का अजनक काम्यसाधनताज्ञान से कार्यताज्ञान होता है तब प्रवृत्ति बनती है । तृप्त पुरुष भोजन में प्रवृत्त नहीं होता अतः तृप्तिबेला में कामना पुरुष का विशेषण नहीं होती । नित्यकर्म मे शौच आदि पुरुष में विशेषण है । अतः शौच आदि के ज्ञानाधीन कृति साध्यताज्ञान से प्रवृत्ति होती है ।

यदि कहा जाय कि स्वविशेषणवत्ताप्रतिसन्धानजन्यकार्यताज्ञान से लब्ध बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनताज्ञानजन्य कार्यताज्ञान को कारण मानने की अपेक्षा जन्यत्व और ज्ञानत्व के न निवेश करने के कारण लाघव होने से बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनताज्ञानविशिष्टकार्यताज्ञान को ही कारण मान लिया जाय । बलवदनिष्टाननुबन्धित्व से

ननु तदपेक्षया लाघवेन बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनताज्ञानविशिष्टकार्यताज्ञानमेव हेतुरस्तु, बलवदनिष्टाननुबन्धित्वं चेष्टोत्पत्तिनान्तरीयकदुःखाधिकदुःखाजनकत्वं बलवद्द्वेषविषयदुःखाजनकत्वं वेति चेद्—

न-इष्टसाधनत्वकृतिसाध्यत्वयोर्युगपज्ज्ञातुमशक्यत्वात्साध्यत्वसाधनत्वयोर्विरोधात् । असिद्धस्य हि साध्यत्वं सिद्धस्य च साधनत्वम् । न चैकमेके नैकदा सिद्धमसिद्धं चेति ज्ञायते, तस्मात्कालभेदादुभयं ज्ञायत इति ।

मैवम्; लाघवेन बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वे सति कृतिसाध्यताज्ञानस्य हेतुत्वात् । न च साध्यत्वसाधनत्वयोर्विरोधो, यदा कदाचित् साध्यत्वसाधनत्वयोरविरोधादेकदा साध्यत्वसाधनत्वयोश्चाज्ञानात् ।

नव्यास्तु-ममेदं कृतिसाध्यमिति ज्ञानं न प्रवर्तकम्, अनागते तस्य

अनूदितं प्रभाकरमतं दूषयति—मैवमित्यदिना । **एककालीनयोः कृतीसाध्यत्वेष्टसाधनत्वयोर्विरोधात्तयोर्हेतुत्वं नास्माभिरङ्गीक्रियते किन्तु कृतिसाध्यत्वेष्टसाधनत्वज्ञानस्यैवहेतुत्वादिति भावः ।**

लाघवेनेति । **नियमादिघटितजन्यत्वापेक्षया विषयत्वस्य लघुत्वेनेति भावः ।**

प्रभाकरमतानुयायिनां नवीनानां मतमाह—नव्यास्त्विति ।

तात्पर्य है कि इष्ट की उत्पत्ति में अनिवार्य (नान्तरीयक) दुःख से अधिक दुःख का न होना । अथवा बलवान् द्वेषविषयदुःख का अजनक होना, किन्तु यह पक्ष उचित नहीं । क्योंकि इष्टसाधनत्व और कृतिसाधनत्व का ज्ञान एक साथ हो सकता नहीं । यतः साध्य और साधन का एक काल और एकदेश में रहना विरुद्ध है । असिद्ध को साध्य कहते हैं तथा सिद्ध को साधन कहते हैं । एकवस्तु को एकव्यक्ति एककाल में सिद्ध भी समझे और असिद्ध भी समझे यह हो नहीं सकता । किन्तु भिन्न-भिन्न कालों में एक-एक ज्ञान के उत्पन्न होने से दोनों प्रकार का ज्ञान होता है । किन्तु **प्रभाकर** का यह उपर्युक्त कहना ठीक नहीं । क्योंकि लाघव होने से बलवदनिष्टाननुबन्धी इष्टसाधनत्वे सति कृतिसाध्यता-को ही पवृत्ति में कारण मान लेना उचित है । इस प्रकार साध्यत्व ज्ञान और साधनत्वधर्म का विरोध भी नहीं होगा । क्योंकि भिन्नकालों में होनेवाले साध्यत्व और साधनत्व का विरोध होता भी नहीं है । एककाल में साध्यत्वज्ञान तथा साधनत्वज्ञान होता है ।

प्रभाकर के मतानुयायी **नव्यों** का मत है कि 'इद मत् कृतिसाध्यम्' यह ज्ञान प्रवृत्ति का कारण नहीं है । क्योंकि अनागत (भविष्यत्) पदार्थ में कृतिसाध्यत्वरूपज्ञान होना शक्य नहीं है । किन्तु जैसे पुरुष के प्रयत्न से जिस पदार्थ की सिद्धि जिसने देखी

ज्ञातुमशक्यत्वात् । किन्तु यादृशस्य पुंसः कृतिसाध्यं यद् दृष्टं यादृशत्वं स्वस्य प्रतिसन्धाय तत्र प्रवर्तते । तेनौदनकामस्य तत्साधनताज्ञानवत-स्तदुपकरणवतः पाकः कृतिसाध्यस्तादृशश्चाहमिति प्रतिसन्धाय पाके प्रवृत्तिरित्याहुः ।

तन्न, स्वकल्पितलिप्यादिप्रवृत्तौ यौवने कामोद्भेदादिना सम्भोगादि-प्रवृत्तौ च तदभावात् ।

इदं तु बोध्यम् । इदानीन्तनेष्टसाधनत्वादिज्ञानं प्रवर्तकं, तेन भावि-यौवराज्ये बालस्य न प्रवृत्तिः—तदानीं कृतिसाध्यत्वाज्ञानात् । एवं तृप्तश्च

ज्ञातुमशक्यत्वादिति । तैः सामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्यनङ्गीकारेण प्रत्यक्षस्य पक्षज्ञा-नाभावेनानुमितेश्चासम्भवादित्याशयः ।

ननु सिद्धान्ते इष्टसाधनत्वकृतिसाध्यत्वयोर्ज्ञानस्य प्रवृत्तौ हेतुत्वात् भावियौव-राज्ये काले कालान्तरीयकृतिसाध्यताज्ञानस्य, तृप्तस्य कालान्तरीयेष्टसाधनताज्ञा-नस्य च भोजने सत्त्वादत आह—इदन्त्वेति । अयमाशयः, इदानीन्तनकृतिसाध्य-ताज्ञानस्य इदानीन्तनेष्टसाधनताज्ञानस्य च हेतुत्वात् तत्र दोषाभावात् । आद्ये तत्कालिककृतिसाध्यताज्ञानस्य द्वितीये तत्कालिकेष्टसाधनताज्ञानस्य चाभावादिति ।

वह अपना सामर्थ्य वैसा समझकर उस कार्य में प्रवृत्त होता है। जैसे—भात (पकाया हुआ चावल) चाहने वाले तथा भात बनाने की विधि जानने वाले, और आवश्यक उपकरण वाले के लिए पाक करना कृतिसाध्य है वैसा ही भात चाहने वाला, विधि जानने वाला और आवश्यक उपकरण वाला मैं भी हूँ, ऐसा समझकर पाक में प्रवृत्त होता है। किन्तु यह मत भी ठीक नहीं। क्योंकि जिस व्यक्ति ने स्वयं किसी लिपि की कल्पना की हो, अथवा यौवन में कामवासना की प्रबलता में सम्भोग के लिए प्रवृत्ति होना और उपर्युक्त प्रवृत्ति के कारणों का न होना ही सिद्ध करता है कि नवीन प्राभाकरों का मत ठीक नहीं है।

यदि कहा जाय कि सिद्धान्त में इष्टसाधनत्व और कृतिसाधनत्वज्ञान प्रवृत्ति में कारण हैं, भविष्यत् यौवराज्यकाल में कालान्तरीय कृतिसाध्यताज्ञान का, और तृप्तिकाल में कालान्तरीय इष्टसाधनताज्ञान भोजन में तो है फिर प्रवृत्ति होना चाहिए। इस शङ्का का समाधान के लिए कहा कि **इदं तु बोध्यम्।**

तात्पर्य यह समझना चाहिए कि वर्तमानकाल का इष्टसाधनताज्ञान तथा वर्तमानकाल का कृतिसाध्यताज्ञान ही प्रवृत्ति के प्रति हेतु है। ऐसा मान लेने पर कोई दोष नहीं है। क्योंकि प्रथम पक्ष में तत्कालिक कृतिसाध्यताज्ञान नहीं है और द्वितीयपक्ष में तत्कालिक-इष्टसाधनताज्ञान का अभाव है। इसीलिए भाविग्यौवराज्य के लिए बालक की प्रवृत्ति नहीं

भोजने न प्रवर्तते—तदानीमिष्टसाधनत्वाज्ञानात् । प्रवर्तते च रोषदूषित-चित्तो विषादिभक्षणे—तदानीं बलवदनिष्टाननुबन्धित्वाज्ञानात् ।

न चास्तिककामुकस्यागम्यागमने शत्रुवधादिप्रवृत्तौ च कथं बलव-दनिष्टाननुबन्धित्वबुद्धिर्नरकसाधनत्वज्ञानादिति वाच्यम्, उत्कटरागादिना नरकसाधनताधीतिरोधानात् ।

वृष्ट्यादौ तु कृतिसाध्यताज्ञानाभावान्न चिकीर्षाप्रवृत्तिः किन्त्विष्टसा-धनताज्ञानादिच्छामात्रम् । कृतिश्च प्रवृत्तिरूपा बोध्या, तेन जीवनयोनि-यत्नसाध्ये प्राणपञ्चकसञ्चारे न प्रवृत्तिः ।

इत्थञ्च प्रवर्तकत्वानुरोधाद्विधेरपीष्टसाधनत्वादिकमेवार्थः ।

इत्थञ्च 'विश्वजिता यजेत' इत्यादौ यत्र फलं न श्रूयते तत्रापि स्वर्गः फलं कल्प्यते ।

इत्थं चेति । प्रवृत्तिं प्रतीष्टसाधनताधियो हेतुत्वे चेत्यर्थः । जलताडनादौ प्रवृत्त्य-भावाय इष्टसाधनताज्ञानस्य मधुविषसम्पृक्तान्नभोजने प्रवृत्त्यभावाय बलवदनिष्टा-ननुबन्धित्वज्ञानस्य सुमेरुशृङ्गाहरणे प्रवृत्त्यभावाय कृतिसाध्यताज्ञानस्य हेतुत्वमिति ।

स्वर्गः फलं कल्प्यत इति । तदुक्तं जैमिनिना पूर्वमीमांसायां 'स स्वर्गः स्यात् सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात्' अ० ४–पा० ३–सू० १५ । इति, अयमाशयः विश्वजिति प्रवृ-त्त्यर्थमिष्टसाधनताज्ञानमवश्यमपेक्षणीयं तच्च इष्टं किमिति नियामकं नास्ति विश्व-

---

होती। क्योंकि तत्काल में कृतिसाध्यत्वज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार तृप्त व्यक्ति की भोजन में प्रवृत्ति भी नहीं होती क्योंकि तत्काल में उसे इष्टसाधनताज्ञान नहीं होता। रोष से दूषित चित्तवाले लोग विष आदि खाने के लिए प्रवृत्त होते हैं क्योंकि उन्हें उस काल में बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञान नहीं होता।

यदि कहा जाय कि आस्तिककामुक की भी अगम्या में गमन करने की प्रवृत्ति, तथा शत्रु के वध की प्रवृत्ति में नरक साधनत्वज्ञान के रहते बलवदनिष्टाननुबन्धित्व बुद्धि कैसे हो सकती है, ठीक है, उत्कटराग आदि द्वारा नरकसाधनताज्ञान का तिरोधान भी होता है।

वृष्टि आदि में तो कृतिसाध्यताज्ञान—के न होने से चिकीर्षा और प्रवृत्ति भी नहीं होती। किन्तु इष्टसाधनताज्ञान से वृष्टि की इच्छामात्र होती है। यहाँ कृति भी प्रवृत्तिरूप समझना चाहिए। इसीलिए जीवन के कारणीभूत विलक्षण यत्न और उससे साध्य, प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान पाँच प्राणों के सञ्चार में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती।

इस प्रकार प्रवृत्ति के प्रति इष्टसाधनताज्ञान को कारण मान लेने पर प्रवृत्तिकारणता के अन्वयव्यतिरेक द्वारा जलताडन में प्रवृत्ति रोकने के लिए इष्टसाधनताज्ञान, मधु विष

ननु अहरहः संध्यामुपासीत, इत्यादाविष्टानुत्पत्तेः कथं प्रवृत्तिः ? न चार्थवादिकं ब्रह्मलोकादि प्रत्यवायाभावो वा फलमिति वाच्यम्, तथा सति काम्यत्वेन नित्यत्वहान्यापत्तेः, कामनाभावे चाकरणतापत्तेः; इत्थञ्च यत्र फलश्रुतिस्तत्रार्थवादमात्रमिति चेद्—

न; ग्रहणश्राद्धादौ नित्यत्वनैमित्तिकत्वयोरिव नित्यत्वकाम्यत्वयोरप्यविरोधात्।

जिता यजेतेति श्रुतौ फलविशेषानिर्देशादिति। किञ्चित्फलं स्वेच्छया कल्पनीयमिति पूर्वपक्षे स विश्वजिद्यागफलं स्वर्गः स्यात् सर्वपुंसामिष्टत्वादिति सिद्धान्तः। अयमत्र सङ्ग्रहः।

नैवास्ति विश्वजिद्यागे फलमस्त्युत नाश्रुतेः।
भाव्यापेक्षाद्विधेः कल्प्यं फलं पुंसः प्रवृत्तये॥
सर्वं फलमुतैकं स्यात् सर्वमस्त्वविशेषतः।
एकेन तन्निराकाङ्क्षमतोऽनेकं न कल्प्यते॥
एकं यत्किञ्चिदथवा नियतं न नियामकम्।
तस्मादाद्यः सर्वपुंसामिष्टत्वात् स्वर्ग एव तत्॥ इति।

मिश्रित अन्न के भोजन में प्रवृत्ति रोकने के लिए बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञान, और सुमेरुशृङ्ग लाने की प्रवृत्ति रोकने के लिए कृतिसाध्यताज्ञान को हेतु माना गया है। प्रवर्तकता समानरूप से होने के कारण 'अग्निष्टोमेन यजेत' इत्यादि विधि में भी इष्टसाधनत्वादि ही अर्थ है।

इस प्रकार 'विश्वजिता यजेत' इत्यादि स्थलों में जहाँ फल नहीं सुना गया है वहाँ भी 'स्वर्ग' फल की कल्पना की गई है।

यदि कहा जाय कि 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इत्यादि नित्यकर्मों में इष्ट की उत्पत्ति न होने से प्रवृत्ति कैसे होगी।

यदि 'सन्ध्यामुपासते ये तु सततं संशितव्रताः।
विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकं सनातनम्'॥

इत्यादि अर्थवादों से बोधित ब्रह्मलोक आदि अथवा प्रत्यवायाभाव फल माना जाय तो सन्ध्या काम्यकर्म होगा उसकी नित्यकर्मता का विलोप हो जायगा। कामना के अभाव में कोई उसे करेगा ही नहीं। इस प्रकार जहाँ फलश्रुति हो उसे केवल अर्थवाद (स्तुति) मान लेना चाहिए। किन्तु ऐसा मानना उचित नहीं। क्योंकि जैसे ग्रहणश्राद्ध आदि में नित्यत्व और नैमित्तिकत्व दोनों धर्ममीमांसकों ने माना है, इसी प्रकार भरणीश्राद्ध को काम्यकर्म और नैमित्तिककर्म माना है वैसे सन्ध्या को नित्यकर्म तथा काम्यकर्म मान लेने में कोई विरोध भी नहीं होता है।

न च कामनाभावेऽकरणतापत्तिः, त्रिकालस्तवपाठादाविव कामनासद्भावस्यैव कल्पनात्।

ननु वेदबोधितकार्यताज्ञानात्प्रवृत्तिः सम्भवत्येवेति चेन्न—इष्टसाधनत्वमविज्ञाय तादृशकार्यताज्ञानसहस्रेणापि प्रवृत्तेरसम्भवात्।

यदपि पण्डापूर्वं फलमिति, तदपि न—कामनाभावेऽकरणापत्तेस्तौल्यात्। कामनाकल्पनेत्वार्थवादिकफलमेव रात्रिसत्रन्यायात्कल्प्यते, अन्यथा प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तेनानुत्पत्तिमेव प्रत्यवायस्यान्ये मन्यन्ते। एवम्—

पण्डापूर्वमिति। पण्डो नपुंसकः स इवापूर्वम् पण्डापूर्वम्। नित्यकर्मणा स्वर्गादिफलाजनकमपूर्वं जायते इति कल्प्यते तदेव पण्डापूर्वमित्युच्यते इति प्रभाकरमतं दूषयति यदपीति।

रात्रिसत्रन्यायादिति। रात्रिसत्रशब्दवाच्यानां ज्योतिर्गौरित्यादिवाक्योत्पन्नकर्मणां फलजिज्ञासायामत्यन्ताश्रुतस्वर्गादिकल्पने गौरवाद्विश्वजिन्न्यायेन 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति' इति श्रुतौ प्रतिष्ठैव फलमिति सिद्धान्तितम्, तथात्रापि आर्थवादिकं ब्रह्मलोक एव फलं लाघवादित्यर्थः। तथा च न्यायमाला—

स्वर्गाय वा प्रतिष्ठायै रात्रिसत्रमिहादिमः। पूर्वंवत्स्यात्प्रतिष्ठा च श्रुता तेनाश्रुताद्वरम्॥

यदि कहा जाय कि कामना के अभाव में सन्ध्या न की जा सकेगी तो ठीक नहीं। क्योंकि त्रिकालस्तोत्रपाठ की भाँति नित्यकर्म में भी किसी कामना की सत्ता मानना ही उचित है।

यदि कहा जाय कि वेद द्वारा प्रतिपादित होने से अवश्य करणीयत्वज्ञान होगा तथा प्रवृत्ति सम्भव होगी। किन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं; क्योंकि जब तक अपना इष्टसाधनताज्ञान नहीं होगा तब तक ऐसे सहस्रों कृतिसाध्यताज्ञानों से प्रवृत्ति होना सम्भव नहीं है।

यदि प्रभाकर के अनुसार नित्यकर्मों से पण्डापूर्व ही फल माना जाय तो ठीक नहीं। क्योंकि पण्ड शब्द का नपुंसक अर्थ है। जो अपूर्व (फल) पण्ड (नपुंसक) हो उसे पण्डापूर्व कहते हैं। नित्यकर्मों से स्वर्ग आदि फलों को न उत्पन्न करने वाले अपूर्व उत्पन्न होते हैं यह ही प्रभाकर का तात्पर्य है। किन्तु इसमें भी किसी प्रकार की कामना के न होने पर नित्यकर्म करने की प्रवृत्ति न होना समान ही है। यदि किसी कामना की कल्पना करनी है तो अर्थवाद वाक्यों में श्रुतफलों की कामना की हा **'रात्रिसत्रन्याय'** की भाँति करनी होगी। अन्यथा नित्यकर्म के लिए प्रवृत्ति ही नहीं होगी। रात्रिसत्रन्याय का तात्पर्य यह है कि रात्रिसत्र शब्द से 'ज्योतिर्गौः—' इत्यादि वाक्यों से उत्पन्न कर्मों के फल की जिज्ञासा होने पर अत्यन्त अश्रुतस्वर्ग आदि फल कल्पना में गौरव होगा। अतः

सन्ध्यामुपासते ये तु सततं शंसितव्रताः ।
विधूतपापास्ते यान्ति ब्रह्मलोकमनामयम् ॥

एवम्—दद्यादहरहः श्राद्धं पितृभ्यः प्रीतिमावहन्—
इत्यादिवचनप्रतिपादितब्रह्मलोकादिकमेव फलमस्तु ।

न च पितृप्रीतिः कथं फलं ? व्यधिकरणत्वादिति वाच्यम्, गयाश्राद्धादाविवोद्देश्यत्वसम्बन्धेनैव फलजनकत्वस्य क्वचित्कल्पनात् ।

अत एवोक्तं—शास्त्रदर्शितं फलमनुष्ठानकर्तरीत्युत्सर्ग—इति ।

पितॄणां मुक्तत्वे तु स्वस्य स्वर्गादिफलं, यावन्नित्यनैमित्तिकानुष्ठानस्य सामान्यतः स्वर्गजनकत्वात् । पण्डापूर्वार्थं प्रवृत्तिश्च न सम्भवति । न हि तत्सुखदुःखाभाववत्स्वतः पुरुषार्थो, न वा तत्साधनम् । प्रत्यवायानु-

---

'प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एताः रात्रीरुपयन्ति' श्रुति से प्रतिष्ठा लाभ ही फल सिद्धान्तरूप में माना गया है । इसी प्रकार नित्यकर्मस्थल में भी अर्थवाद वाक्यों द्वारा ब्रह्मलोक ही फल माना जाने में लाघव है । इसीलिए कुछ लोग नित्यकर्मों के अनुष्ठान का फल प्रत्यवाय का उत्पन्न न होना ही मानते हैं । इसी प्रकार जो प्रशंसितव्रत करनेवाले लोग निरन्तर सन्ध्या करते हैं वे निष्पाप होकर दुःखरहित ब्रह्मलोक को जाते हैं ।

इसी प्रकार 'प्रीति पहुँचाते हुए प्रतिदिन पितरों को श्राद्ध दिया जाय ।' इन बचनों से प्रतिपादित ब्रह्मलोक प्राप्ति तथा पितरों की प्रीति आदि ही नित्यकर्मों तथा श्राद्धों का फल मान लेना चाहिए ।

यदि कहा जाय कि श्राद्ध का फल पितृप्रीति नहीं हो सकती । क्योंकि नियमानुसार कर्मकर्ता को ही फल प्राप्ति होती है यदि श्राद्ध चैत्र करें और फल उनके पिता मैत्र को हो तो कर्म और फल का सामानाधिकरण्य नहीं होगा किन्तु व्यधिकरण होगा । ठीक है, किन्तु जैसे गया में पितरों को उद्देश्य करके दिया गया पिण्डदान श्राद्ध उद्देश्यता सम्बन्ध से पितरों में है और प्रीतिफल भी पितरों में है व्यधिकरण न होने से व्यभिचार नहीं होगा । अतः मीमांसकों का उक्त नियम प्रायोवाद मात्र है । अर्थात् कर्मकर्ता के साथ कर्ता के उद्देश्य को भी फल की प्राप्ति होती है यह सिद्धान्त है । इसीलिए कहा गया है कि शास्त्रदृष्टफल तो अनुष्ठान कर्ता को होता है यह उत्सर्ग (प्रायोवाद) है ।

यदि किसी के पितर मुक्त हो गये हों तो उसके श्राद्ध का फल स्वर्ग ही होगा जो कर्ता को प्राप्त होगा । क्योंकि जितने भी नित्य या नैमित्तिक कर्म हैं सबका अनुष्ठान सामान्यतः स्वर्ग का ही जनक है । इनका फल पण्डा पूर्व यदि माना जाय तो प्रवृत्ति सम्भव नहीं होगी । क्योंकि पण्डा पूर्व न तो सुख है, न तो दुःखाभाव जिससे वह स्वतः पुरुषार्थ बनता तथा सुख या दुःखाभाव का साधन भी नहीं है । फिर तो नित्यकर्म से

त्पत्तौ कथं प्रवृत्तिरिति चेदित्थम्—यथा हि नित्ये कृते प्रत्यवायाभावस्तिष्ठति तदभावे तदभावः, एवं प्रत्यवायाभावस्य सत्त्वे दुःखप्रागभावसत्त्वं तदभावे तदभाव इति योगक्षेमसाधारणकारणताया दुःखप्रागभाव प्रत्यपि सुवचत्वात् । एवमेव प्रायश्चित्तस्यापि दुःखप्रागभावहेतुत्वमिति ।

ननु न कलञ्जं भक्षयेदित्यत्र विध्यर्थे कथं नञर्थान्वयः ? इष्टसाधनत्वाभावस्य कृतिसाध्यत्वाभावस्य च बोधयितुमशक्यत्वादिति चेद्—

तदभावे—**नित्यकर्माभावे** । तदभावः—**प्रत्यवायाभावः** । तदभावे—**प्रत्यवायाभावाभावे प्रत्यवायरूपे** । तद्भावः—**दुःखप्रागभावाभावो दुःखरूपः । एवं चान्वयव्यतिरेकाभ्यां दुःखप्रागभावं प्रति प्रत्यवायाभावस्य हेतुत्वं सिध्यति । ननु दुःखप्रागभावस्याजन्यतया कथं प्रत्यवायाभावस्य तं प्रति हेतुतेत्याह**—योगक्षेमेति । **दुःखप्रागभावपरिपालनमेव दुःखप्रागभावजनकत्वमिति भावः ।**

कलञ्जमिति । **शूल्यं मांसं कलञ्जमिति** केचित् । **विषदिग्धबाणाहतमृगमांसं कलञ्जमित्यन्ये** । **पलाण्डुः कलञ्जमिति** परे ।

वस्तु स्तु । **कलञ्जं रक्तलशुनम् । 'कलञ्जपलाण्डुपारीरका' इत्यापस्तम्बधर्मसूत्रव्याख्याने हरदत्तेन, वीरमित्रोदये वीरमिश्रेण, च कलञ्जं रक्तलशुनमिति व्याख्यातत्वादिति ।**

किसी प्रत्यवाय की उत्पत्ति भी नहीं होगी तब प्रवृत्ति भी कैसे बन सकेगी । इसके उत्तर में लिखा **इत्थम्** ।

जैसे—नित्यकर्म के करने पर प्रत्यवायाभाव रहता है अर्थात् प्रत्यवाय उत्पन्न नहीं होता । और नित्यकर्म के न करने पर प्रत्यवायाभावाभाव अर्थात् प्रत्यवाय होता है । वैसे प्रत्यवायाभाव के रहने पर दुःखप्रागभाव की सत्ता रहती है । इसी प्रकार प्रत्यवायरूप प्रत्यवायाभावाभाव के होने पर दुःखप्रागभावाभाव जो दुःखरूप है, होता है । इसी प्रकार अन्वय व्यतिरेक द्वारा दुःखप्रागभाव के प्रति प्रत्यवायाभाव को हेतु होना सिद्ध होता है । यद्यपि दुःखप्रागभाव अजन्य है क्योंकि प्रागभाव आनादि होता है फिर भी प्रत्यवायाभाव उसके प्रति कारण नहीं हो सकता । तथापि योगक्षेम साधारण कारणता दुःखप्रागभाव के प्रति भी कही जा सकती है । अर्थात् दुःखप्रागभाव का परिपालन ही दुःखप्रागभाव का जनकत्व है जो प्रत्यवायाभाव में है । इसी प्रकार प्रायश्चित्त भी दुःखप्रागभाव का हेतु है ।

यदि इष्टसाधनत्व तथा कृतिसाध्यत्व ही विध्यर्थ है तो 'न कलञ्ज भक्षयेत' इस वाक्य से बोध होगा कि 'कलञ्ज भक्षण में विध्यर्थ के साथ नञर्थ (अभाव) का अन्वय इष्टसाधनत्वाभाववत कृतिसाध्यत्वाभाववश्च' । किन्तु यह बोध बन नहीं सकता । क्योंकि भक्षण से तृप्तिरूप इष्टसाधनता तथा कृतिसाध्यता है ही । ठीक है । अतएव बाधित होने के

न; तत्र बाधादिष्टसाधनत्वं कृतिसाध्यत्वं च न विध्यर्थः किन्तु बलवदनिष्टाननुबन्धित्वमात्रं तदभावश्च नञा बोध्यते।

अथवा बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनत्वे सति कृतिसाध्यत्वं विध्यर्थः। तदभावश्च नञा बोध्यमानो विशिष्टाभावो विशेष्यवति विशेषणाभावे विश्राम्यति।

ननु–'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इत्यादौ कथं बलवदनिष्टाननुबन्धित्वं विध्यर्थः? श्येनस्य मरणानुकूलव्यापारस्य हिंसात्वेन नरकसाधनत्वात्।

न च वैधत्वान्न निषेध इति वाच्यम्, अभिचारे प्रायश्चित्तोपदेशात्।

न च मरणानुकूलव्यापारमात्रं यदि हिंसा, तदा खड्गकारस्य कूपकर्तुश्च हिंसकत्वापत्तिर्गललग्नान्नभक्षणजन्यमरणे स्वात्मवधत्वापत्तिश्चेति वाच्यम्, मरणोद्देश्यकत्वस्यापि विशेषणत्वात्,

---

अभिचरन्—मरणं कामयन्। वैधत्वात्—श्येनेनाभिचरन्यजतेति विधिसिद्धत्वात्। मा हिंस्यादिति निषेधस्तु अवैधहिंसाविषय इति भावः।

प्रायश्चित्तेति। 'अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति' इति वचनादिति शेषः। तथाच श्येनस्य बलवदनिष्टाजनकत्वे प्रायश्चित्तोपदेशवैयर्थ्यं स्यादिति मा हिंस्यादिति निषेधस्य श्येनातिरिक्तपरत्वं न सम्भवतीति भावः।

ननु मरणोद्देश्यकत्वनिवेशे यत्रान्योद्देश्येन क्षिप्तनाराचेन ब्राह्मणमरणं तत्र

कारण इष्टसाधनत्व अथवा कृतिसाध्यत्वज्ञान विध्यर्थ नहीं है। किन्तु बलवदनिष्टाननुबन्धित्वमात्र विध्यर्थ है। तथा 'न कलञ्जं भक्षयेत्' में नञर्थ अभाव से इसीका अभाव बोधित होता है जैसे—'कलञ्ज भक्षणं बलवदनिष्टानुबन्धित्वाभाववत्'

अथवा 'बलवदनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टेष्टसाधनत्वे सति कृतिसाध्यत्व विध्यर्थ है'। इसी का अभाव नञ से बोधित होता है; जो विशिष्टाभाव है। तथा विशेष्य के अधिकरण में विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभाव के रूप में विश्राम लेगा।

यदि विशिष्ट को विध्यर्थ माना जाय तो श्येन याग में 'बलवदनिष्टाननुबन्धित्व' रूप विशेषण के बाधित होने से 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' में विशिष्ट विध्यर्थ का बोध कैसे हो सकेगा। क्योंकि श्येन याग मरणानुकूल व्यापार रूप है जो हिंसा है अतएव नरक साधन है।

यदि वैध होने से निषिद्ध नहीं होना चाहिए कहा जाय तो ठीक नहीं। क्योंकि अभिचार याग के कर्ता तथा कारयिता को प्रायश्चित्त करने का उपदेश किया गया है।

यदि मरणानुकूल व्यापार मात्र को भी हिंसा कहा जाय तब तो खड्ग बनाने वाला

अन्योद्देश्यकक्षिप्तनाराचहतब्राह्मणस्य तु वाचनिकं प्रायश्चित्तमिति चेद्–न; तत्र बलवदनिष्टाननुबन्धित्वस्य विध्यर्थत्वाभात्।

वस्तुतः श्येनवारणायादृष्टाद्वारकत्वेन विशेषणीयम् अत एव काशीमरणाद्यर्थकृतशिवपूजनादेरपि न हिंसात्वम्।

न च साक्षान्मरणजनकस्यैव हिंसात्वं, श्येनस्तु न तथा, किन्तु तज्जन्यापूर्वमिति वाच्यम्, खड्गाघातेन ब्राह्मणे व्रणपाकपरम्परया मृते हिंसात्वानापत्तेः।

प्रायश्चित्ताभावः स्यात्तस्याहिंसात्वेन मा हिंस्यादिति निषेधाविषयत्वादित्यत आह—अन्योद्देश्यकेति।

वाचनिकमिति। ब्रह्महा द्वादश समाः कुटीं कृत्वा वने वसेत्। भैक्षयाश्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वाशवशिरोध्वजम्॥ इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाप्यकामतो द्विजम्। कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते। इति वचनबोधितं प्रायश्चित्तं न तु मा हिंस्यादिति निषेधविषयतयेति भावः।

अदृष्टाद्वारकत्वेनेति। श्येनस्यादृष्टद्वारैव वैरिमरणसाधनत्वमिति भावः।

ननु श्येनस्य हिंसात्वे इष्टापत्तिरिति अर्थमिदविशेषणमत आह—अत एवेति॥ काशीमरणार्थकृतशिवपूजनादेर्हिंसात्ववारणाय अदृष्टाद्वारकत्वविशेषणमावश्यकमिति भावः।

अथवा कूप खनने वाला भी हिंसक होगा और भोजन करते समय गले में भोजन के फँस जाने से मर जाने पर आत्म-हत्या करने का पाप लगेगा। किन्तु वह पक्ष उचित नहीं। क्योंकि मरणोद्देश्यक मरणानुकूल व्यापार को ही हिंसा का लक्षण माना जायगा।

फिर तो किसी अन्य के वध के लिए प्रक्षिप्त बाण के मार्ग में अकस्मात ब्राह्मण की हत्या हो जाने पर तो शास्त्रकारों ने वाचनिक प्रायश्चित्त बताया है। यद्यपि बाण प्रहार कर्ता ने ब्राह्मण के मारने के उद्देश्य से बाण प्रक्षेप नहीं किया था। तथापि यह ठीक नहीं क्योंकि श्येन याग में विध्यर्थ केवल बलवदनिष्टाननुबन्धित्व नहीं है। किन्तु कृतिसाध्यत्व विशिष्ट इष्ट साधनत्व विध्यर्थ है।

वस्तुतः श्येन में बलवदनिष्टानुबन्धित्व वारण करने के लिए हिंसा के लक्षण में अदृष्टद्वारकत्व का निवेश कर देना चाहिए। जैसे—अदृष्टद्वारकत्वे सति, मरणोद्देश्यकत्वे सति मरणानुकूलव्यापारत्वम् हिंसात्वम्। अतएव काशी मरण के लिए की जाने वाली शिवपूजा में हिंसात्व नहीं। क्योंकि यह तो अदृष्टद्वारक है।

यदि साक्षात मरण के जनक को हिंसा कहा जाय तो श्येन याग भी साक्षात मरण का जनक नहीं है किन्तु श्येन याग जन्य अपूर्व मरण का जनक है। किन्तु यह उचित

केचित्तु श्येनस्य हिंसा फलं, न तु मरणम्, तेन श्येनजन्यखड्गघातादिरूपा हिंसाऽभिचारपदार्थः, तस्य च पापजनकत्वम्, अतः श्येनस्य वैधत्वात्पापाजनकत्वेऽपि अग्रिमपापं प्रतिसन्धाय सन्तो न प्रवर्तन्त इत्याहुः।

आचार्यास्तु–आप्ताभिप्रायो विध्यर्थः। 'पाकं कुर्याः' इत्यादावाज्ञादिरूपेच्छावाचित्ववल्लिङ्मात्रस्येच्छावाचित्वं लाघवात्। एवं च 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादौ यागः स्वर्गकामकृतिसाध्यता आप्तेष्ट इत्यर्थः। ततश्चा-

---

ननु साक्षान्मरणजनकस्यैव हिंसात्वमिति स्वीकारेणैव श्येने तादृशशिवपूजनादेरपि न हिंसात्वमिति अदृष्टाद्वारकत्वरूपगुरुविशेषणं व्यर्थमत आह न चेति।

अदृष्टाद्वारकत्वविशेषणं विनैव श्येने बलवदनिष्टाननुबन्धित्वमुपपादयतां मतमाह—केचित्विति।

आचार्यास्त्विति। आचार्या उदयनाचार्याः। तथा च तदीये पद्ये—

विधिर्वक्तुरभिप्रायः प्रवृत्त्यादौ लिङादिभिः। अभिधेयोऽनुमेया तु कर्तुरिष्टाभ्युपायता॥
कृत्स्न एव हि वेदोऽयं परमेश्वरगोचरः। स्वार्थद्वारैव तात्पर्यं तस्य स्वर्गादिवद्विधौ॥

कुसुमाञ्जलौ पञ्चमस्तबके श्लो० १५।१६॥

नहीं है क्योंकि खड्ग के आघात से घायल ब्राह्मण यदि घाव के पकने आदि से मर जाय तो हिंसा न होगी।

कुछ लोगों का मत है कि श्येन याग का हिंसात्मक व्यापार ही फल है, मरना तो व्यापार का फल है कर्म का नहीं। अर्थात् श्येनयाग से जो फल उत्पन्न होता है वह है शत्रु पर हिंसाफलक प्रहार होना शत्रु का मरना तो प्रहाररूपी व्यापार का फल है श्येन याग का नहीं। अतः श्येन क्रिया से जन्य जो खड्ग प्रहाररूपा क्रिया वही हिंसा है, वही अभिचार पद का अर्थ है। इसी अभिचार को 'अभिचार महीनं च—' आदि शास्त्र से पापजनक कहा गया है। इस प्रकार श्येन को वैध कर्म होने के कारण तथा साक्षात् मरणफलक हिंसात्मक व्यापार फलक हिंसा पदार्थ के होने से पाप पदार्थ से भिन्न होने के कारण, वैधहिंसा में हिंसात्व न रहने से श्येन पाप का जनक नहीं होता तथापि परम्परया आगामी शत्रुमरण जन्य पाप का प्रतिसन्धान करके सज्जन लोग श्येन याग में प्रवृत्त नहीं होते। किन्तु इस मत में बलवदनिष्टाननुबन्धित्व नहीं है ऐसा मानना इसलिए अनुचित है कि मनु ने अभिचार कर्म की उपपातकों में गणना की है। अतएव ग्रन्थकार ने इत्याहुः कह कर अपनी अरुचि सूचित की है।

उदयनाचार्य ने तो आप्त जनों के अभिप्राय को विध्यर्थ माना है। आप्त यथार्थ वक्ता के लिए कहा जाता है। यह विध्यर्थ अपनी इष्टसाधनता का अनुमापक है। जैसे

प्तेष्टत्वेनेष्टसाधनत्वादिकमनुमाय प्रवर्तते। कलञ्जभक्षणे तदभावान्न प्रवर्तते।

यस्तु वेदे पौरुषेयत्वं नाभ्युपैति तं प्रति विधिरेव तावद्गर्भ इव श्रुतिकुमार्याः पुंयोगे मानम्। न च कर्त्रस्मरणं बाधकं, कपिलकणादादिकमारभ्याद्यपर्यन्तं कर्तृस्मरणस्यैव प्रतीयमानत्वात्, अन्यथा स्मृतीनामप्यकर्तृकत्वापत्तेः। तत्रैव कर्तृस्मरणमस्तीति चेद्वेदेऽपि 'छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्' इत्यादिकर्तृस्मरणमस्त्येव। एवं—

प्रतिमन्वन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते।

इत्यपि द्रष्टव्यम्।

'यागः स्वेष्टसाधनम्, आप्तेष्टत्वात्'। इष्ट साधनता ज्ञान ही प्रवर्तक है। जैसे—'पाकं कुर्याः' इस मध्यम पुरुष में लिङ् को आज्ञारूप इच्छावाचकत्व है। वैसे 'पाकं कुर्याम्' उत्तम पुरुष में भी इच्छावाचित्व है। इसी प्रकार बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्व की अपेक्षा लाघवात् लिङ् मात्र में इच्छावाचकत्व मान लेना चाहिए। इस प्रकार स्वर्गकामो यजेत्' इत्यादि स्थलों में 'यागः स्वर्गकामकृतिसाध्यतया आप्तेष्टः' अर्थात् याग स्वर्ग कामना वाले की कृति का साध्यरूप में आप्तवक्ता की इच्छा का विषय है। यह वाक्यार्थ बोध होता है। तदनन्तर अधिकारी पुरुष 'यागः, मम स्वर्गकामस्य बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनं, मत्कृतिसाध्यतया आप्तेन इष्यमाणत्वात्, मन्मात्र कृतिसाध्यत्वेन इष्यमाणमद्भोजनवत्' इस प्रकार अनुमान द्वारा याग क्रिया में प्रवृत्त होता है। और कलञ्जभक्षण में अधिकारी को कृतिसाध्यतया आप्तेष्टत्व है नहीं अतः आप्तेष्टत्वाभाव प्रयुक्त स्वेष्टसाधनत्वज्ञान के न होने से प्रवृत्ति नहीं होती है।

जो लोग वेद को पौरुषेय नहीं मानते उनके प्रति तो जैसे कुमारी का गर्भ किसी पुरुष के सम्बन्ध का अनुमापक है वैसे मीमांसकों की श्रुति रूपी कुमारी में 'यजेत' के लिङर्थ विधि ही पुंयोग में प्रमाण होता है। अर्थात् विधि ही श्रुति के पुरुषकर्तृकत्व का अनुमान कराती है।

यदि कर्ता का स्मरण न होना ही वेद के पौरुषेयत्व होने में बाधक हो। अर्थात् 'वेदः अपौरुषेयः अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्' यह अनुमान वेद के पौरुषेयत्व सिद्धि में बाधक हो। तो ऐसा मानना ठीक नहीं क्योंकि कपिल कणाद से लेकर अबतक कर्ता के स्मरण होते हैं। अन्यथा स्मृतियाँ भी अपौरुषेय होने लगेंगी। यदि स्मृतियों में ही उनका पौरुषेय होना उल्लिखित होने से वे पौरुषेय हैं तो वेद में भी 'छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्' इत्यादि मन्त्रों में वेद के कर्ता का स्मरण किया ही गया है। इसमें 'प्रति मन्वन्तरों में नई-नई श्रुतियों का विधान होता है' यह वचन भी प्रमाण है।

स्वयंभूरेष भगवान्वेदो गीतस्त्वया पुरा ।
शिवाद्यिऋषिपर्यन्ताः स्मर्तारोऽस्य न कारकाः ॥

इति तु वेदस्य स्तुतिमात्रम् ।

न च पौरुषेयत्वे भ्रमादिसम्भवादप्रामाण्यं स्यादिति वाच्यम्, नित्यसर्वज्ञत्वेन निर्दोषत्वात् ।

अत एव पुरुषान्तरस्य भ्रमादिसम्भवान्न कपिलादेरपि कर्तृत्वं वेदस्य, किञ्च वर्णानामनित्यत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्सुतरां तत्सन्दर्भस्य वेदस्यानित्यत्वमिति सङ्क्षेपः ॥

'उपादानस्य चाध्यक्षं प्रवृत्तौ जनकं भवेत्'

उपादानस्येति । उपादानस्य–समवायिकारणस्य, अध्यक्षं–प्रत्यक्षं प्रवृत्तौ कारणमिति ॥

समवायिकारणस्याध्यक्षमिति । तत्साध्यकप्रवृत्तिं प्रति तत्समवायिकरणात्मकतदुपादानगोचरलौकिकप्रत्यक्षस्यं हेतुत्वम् ।

ननु शब्दसाध्यकप्रवृत्तिर्गगनादौ न स्यात् शब्दसमवायिकारणस्य गगनस्यातीन्द्रियत्वेनाप्रत्यक्षत्वात् । किं च ध्वंससाध्यकप्रवृत्तिरपि न स्यात्तत्समवायिनोऽप्रसिद्धेरिति चेन्न; इष्टापत्तेः शब्दसाक्षात्कारसाध्यकप्रवृत्तेरेव मृदङ्गादिगोचराया उपगमादिति प्राचीनाः ।

नव्यास्तु । प्रकृतेऽधिष्ठानमात्रमुपादानं तेन च यागादेर्हविः, शब्दस्य मृदङ्गादि, प्राणसञ्चारादेश्च प्राणवहनाड्यादि, उपादानमिति वदन्ति ॥ १४९–१५१ ॥

इन स्वयंभू वेद भगवान को सबसे प्रथम तुमने गाया है उसके बाद शिव से लेकर ऋषियों तक इसके स्मरण करने वाले हैं कोई रचयिता नहीं है । यह महाभारतीय वचन जो वेद को स्वयंभू कहता है वह तो वेद की स्तुतिमात्र है वस्तु स्थिति नहीं ।

यदि वेद को पौरुषेय मानने में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि पुरुष दोषों की वेद में सम्भावना होने से अप्रामाण्य आ पड़ेगा तो ठीक नहीं क्योंकि वेद के रचयिता को नित्य तथा सर्वज्ञ मान लेने पर कोई दोष न होगा ।

इसलिए ईश्वर को छोड़कर अन्य पुरुषों में भ्रम आदि की सम्भावना होने से महर्षि कपिल आदि को भी वेद का कर्ता नहीं माना जा सकता है । अन्तिम बात यह है कि आगे चलकर हम वर्णों की अनित्यता कह रहे हैं तब तो वर्ण समुदाय रूप वेद सुतरां अनित्य सिद्ध हो रहे हैं यह संक्षेप है ।

उपादान का (समवायिकारण का) प्रत्यक्ष प्रवृत्ति में कारण है ।

निवृत्तिस्तुभवेद् द्वेषाद् द्विष्टोपायत्वधीर्यदि ॥ १५१ ॥

निवृत्तिरिति । द्विष्टसाधनताज्ञानस्य निवृत्तिं प्रति दुःखसाधनविषयकनिवृत्तिं प्रति जनकत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यामवधारितमिति भावः ॥ १४६–१५१ ॥

यत्नो जीवनयोनिस्तु सर्वदातीन्द्रियो भवेत् ।

यत्न इति । जीवनयोनियत्नो यावज्जीवनमनुवर्तते । स चातीन्द्रियः । तत्र प्रमाणमाह—

शरीरे प्राणसञ्चारे कारणं परिकीर्तितः ॥ १५२ ॥

शरीर इति । प्राणसञ्चारो हि अधिकश्वासादिर्यत्नसाध्यः । इत्थं च प्राणसञ्चारस्य सर्वस्य यत्नसाध्यत्वमनुमानात् । प्रत्यक्षयत्नस्य बाधाच्चातीन्द्रिययत्नसिद्धिः । स एव जीवनयोनिर्यत्नः ॥ १५२ ॥

गुरुत्वं निरूपयति—

[1]अतीन्द्रियं गुरुत्वं स्यात्पृथिव्यादिद्वये तु तत् ।

फल के प्रति द्वेष होने से निवृत्ति होती है यदि यह ज्ञान हो कि इससे द्विष्ट की उत्पत्ति होगी ॥ १५१ ॥

द्वेष के विषय दुःखादि साधनता का ज्ञान निवृत्ति के प्रति कारण है, यह अन्वय और व्यतिरेक द्वारा निर्धारित है ॥ १४९–१५१ ॥

जीवनयोनि नाम यत्न तो सर्वदा अतीन्द्रिय होता है ।

जीवनयोनि नाम का यत्न जीवन पर्यन्त साथ रहता है । जो अतीन्द्रिय होता है । इसमें प्रमाण यह है कि—

शरीर में प्राण संचार का कारण यह जीवनयोनि नाम का यत्न है ॥ १५२ ॥

अधिक श्वास को प्राण संचार कहते हैं । यह यत्न से होता है । इस प्रकार समस्त प्राणसंचारों की यत्न साध्यता अनुमान से होती है । जैसे—अधिकश्वासादि प्राणसंचारः, प्रयत्नसाध्यः, कार्यत्वात् । इस प्रकार यत्नसाध्यत्व सिद्ध होने पर प्रत्यक्ष यत्न उपलब्ध न होने से उसे अतीन्द्रिय माना जाता है। वह ही जीवनयोनि यत्न माना जाता है ॥१५२॥

गुरुत्व का निरूपण करते हैं—

गुरुत्व अतीन्द्रिय होता है। वह पृथिवी और जल इन दोनों में रहता है। वह

---

१. गुरुत्वमतीन्द्रियं भवति, तस्यानुमानेन सिद्धिः यथा- संयोगाऽसमवधानकालीना पतनक्रिया गुणासमवायिकारणिका क्रियात्वात्, संयोगजन्यक्रियावत् अत्र यो गुणस्तत्तु

अनित्ये तदनित्यं स्यान्नित्ये नित्यमुदाहृतम् ॥ १५३ ॥
तदेवासमवायि स्यात्पतनाख्ये तु कर्मणि ।

अतीन्द्रियमिति । अनित्य इति । अनित्ये द्व्यणुकादौ तद्गुरुत्वमनित्यम् । नित्ये परमाणौ नित्यम् । गुरुत्वमित्यनुवर्तते । तद्गुरुत्वमसमवायि असमवायिकारणम् । पतनेति । आद्यपतन इत्यर्थः ।

द्रवत्वं निरूपयति—

सांसिद्धिकं द्रवत्वं स्यान्नैमित्तिकमथापरम् ॥ १५४ ॥
सांसिद्धिकं तु सलिलं द्वितीये क्षितितेजसोः ।
परमाणौ जले नित्यमन्यत्रानित्यमिष्यते ॥ १५५ ॥

सांसिद्धिकमिति । द्रवत्वं द्विविधं–सांसिद्धिकं नैमित्तिकं चेत्यर्थः । परमाणाविति । जलपरमाणौ द्रवत्वं नित्यमित्यर्थः । अन्यत्र–पृथिवीपरमाण्वादौ जलद्व्यणुकादौ च द्रव्यत्वमनित्यम् ॥ १५३–१५५ ॥

द्वितीयादिपतनस्य वेगासमवायिकारणकत्वादाह—आद्येति ॥ १५२–१५७ ॥

अनित्य पृथ्वी और जल में अनित्य तथा नित्य पृथ्वी और जल में नित्य होता है । आद्यपतन में असमवायिकारण गुरुत्व है ॥ १५३ ॥

अनित्य द्वणुक आदि में गुरुत्व अनित्य है । नित्य परमाणु में वह नित्य है । यहां 'वह' शब्द से गुरुत्व का ही अनुवर्तन किया गया है । वह गुरुत्व है असमवायि अर्थात् असमवायिकारण । पतन अर्थात् आद्य पतन, द्वितीय पतन तो वेग से होता है ।

द्रवत्व का निरूपण करते हैं—

द्रवत्व दो प्रकार का होता है एक सांसिद्धिक अर्थात् स्वयं सिद्ध और दूसरा नैमित्तिक । सांसिद्धिक द्रवत्व जल में और नैमित्तिक द्रवत्व पृथ्वी और तेज में होता है जल के परमाणु में नित्य द्रवत्व होता है अन्यत्र अनित्य द्रवत्व माना गया है ॥ १५५ ॥

द्रवत्व दो प्रकार का है सांसिद्धिक और नैमित्तिक । जलपरमाणु में द्रवत्व नित्य है ।

गुरुत्वम् । पतनासमवायिकारणतावच्छेदकतया गुरुत्वत्वजातिसिद्धिः । यथा—पतनासमवायिकारणता किञ्चिद्धर्मावच्छिन्ना कारणतात्वादित्यनुमानाकारः ।

कुत्रचित्तेजसि कुत्रचित्पृथिव्यां च नैमित्तिकं द्रव्यत्वं तत्र को वा नैमित्तिकार्थस्तद्दर्शयति—

नैमित्तिकं वह्नियोगात्तपनीयघृतादिषु ।

नैमित्तिकमिति । वह्नीति पदं तेजोऽर्थकम् । तथाच अग्निसंयोगजन्यं नैमित्तिकं द्रवत्वम् । तच्च सुवर्णादिरूपे तेजसि घृतजतुप्रभृतिषु पृथिव्यां च वर्तत इत्यर्थः ॥

द्रवत्वं स्यन्दने हेतुर्निमित्तं सङ्ग्रहे तु तत् ॥ १५६ ॥

द्रवत्वं स्यन्दने हेतुरिति । असमवायिकारणमित्यर्थः । संग्रहे–सक्त्वादिसंयोगविशेषे । तत्–द्रवत्वं, स्नेहसहितमिति बोद्धव्यम् । तेन द्रुतसुवर्णादीनां न संग्रहः ॥ १५६ ॥

स्नेहं निरूपयति—

स्नेहो जले स नित्योऽणावनित्योऽवयविन्यसौ ।
तैलान्तरे तत्प्रकर्षाद्दहनस्यानुकूलता ॥ १५७ ॥

अन्यत्र पृथ्वी के परमाणु आदि में और जल के द्वयणुक आदि में द्रवत्व अनित्य है ॥ १५३–१५५ ॥

कहीं सुवर्ण आदि तेज में, कहीं घृत जतु प्रभृति पृथ्वी में नैमित्तिक द्रवत्व होता है । तब शंका होती है कि नैमित्तिकत्व क्या है । इसी प्रश्न के उत्तर का निरूपण करते हैं कि—

सुवर्ण घृत आदि में 'अग्निसंयोगजन्य द्रवत्व को नैमित्तिक द्रवत्व कहते हैं । कारिकावली में पठित वह्नि शब्द का तेज अर्थ है । इसलिए 'तेजः संयोगजन्यद्रवत्वत्' नैमित्तिक द्रवत्व का लक्षण है । यह सुवर्णरूप तेज में तथा घृतजतु प्रभृति पृथ्वी में रहता है । स्पन्दन (प्रश्रवणरूप क्रिया) में द्रवत्व असमवायिकरण है और संग्रह अर्थात् चूर्णादि के पिण्डीभाव में वही द्रवत्व जब स्नेह सहित होता है तब निमित्तकारण होता है । संग्रह में चूर्ण द्रव्य के अवयव संयोग असमवायिकरण होते हैं । अतएव द्रुत सुवर्ण संग्रह में निमित्त नहीं होता क्योंकि उसमें स्नेह नहीं होता ।

स्नेह का निरूपण करते हैं—

स्नेह जल में रहता है । वह नित्य और अनित्य दो प्रकार का होता है । नित्य जलीय परमाणु में तथा अनित्य स्नेह द्वयणुकादि अवयवी जल में रहता है । तेल आदि स्नेह का आधिक्य होने से वह दहन के अनुकूल होता है ॥ १५७ ॥

स्नेहो जले इति। जल एवेत्यर्थः। असौ-स्नेहः।

ननु पृथिव्यामपि तैले स्नेह उपलभ्यते, न चासौ जलीयः, तथा सति दहनप्रातिकूल्यं स्यादत आह—तैलान्तर इति। तत्प्रकर्षात्। तैले उपलभ्यमानः स्नेहोऽपि जलीय एव, तस्य प्रकृष्टत्वादग्नेरानुकूल्यम्। अपकृष्टस्नेहं हि जलं वह्निं नाशयतीति भावः॥ १५७॥

संस्कारं निरूपयति—

संस्कारभेदो वेगोऽथ स्थितिस्थापकभावने।

संस्कारेति। वेगस्थितिस्थापकभावनाभेदात्संस्कारस्त्रिविध इत्यर्थः।

मूर्तमात्रे तु वेगः स्यात्कर्मजो वेगजः क्वचित्॥ १५८॥

मूर्तमात्र इति। कर्मजवेगजभेदाद्वेगो द्विविध इत्यर्थः। शरीरादौ हि नोदनजनितेन कर्मणा वेगो जन्यते, तेन च पूर्वकर्मनाशस्तत उत्तरं

वेगो जन्यते इति। **वेगत्वं जातिविशेषः प्रत्यक्षसिद्धः। स्थितिस्थापकत्वं जाति-विशेषः—क्रियाविशेषजनकतावच्छेदकतया सिद्धः।**

स्नेहो जले के कहने का तात्पर्य है कि जल में ही रहता है। असौ पद से प्रकरण पतित स्नेह का बोध होता है। यदि कहा जाय कि तेल तो पृथिवी है उसमें भी स्नेह देखा जाता है। यह स्नेह जलीय नहीं है यदि जलीय होता तो अग्नि के प्रतिकूल होता इसके समाधान के लिए **तैलान्तरे आदि** है। तेल में जो स्नेह की प्रतीति होती है वह भी जलीय ही है। तेल में स्नेह की प्रकृष्टता अर्थात् आधिक्य के कारण तेल का स्नेह अग्नि के अनुकूल होता है। क्योंकि अपकृष्ट स्नेह वाला जल ही अग्नि का नाशक है।

संस्कार का निरूपण करते हैं—

संस्कार तीन प्रकार का होता है। वेग, भावना और स्थितिस्थापक।

वेग नाम का संस्कार मूर्त (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन) मात्र में रहता है। वह दो प्रकार का है एक कर्मज और दूसरा विभागज।

शरीर में नोदन के बाद एक कर्म होता है उससे वेग उत्पन्न है। वेगत्व एकजाति है जो प्रत्यक्ष सिद्ध है। उस वेग से वेग जनक पूर्व कर्म का नाश होता है उसके बाद उत्तर (अगला) कर्म होता है। इसी प्रकार आगे भी द्वितीय कर्म से पूर्ववेग का नाश तथा वेगान्तर की उत्पत्ति होती है। वेग के विना कर्म स्थायी होगा अतः उत्तर कर्म का प्रतिबन्धक होगा क्योंकि जब तक पर्वकर्म का नाश नहीं होगा तब तक उत्तर कर्म की उत्पत्ति नहीं होगी। जिस वेगयुक्त कपाल से उत्पन्न घट में वेग उत्पन्न होता है वह वेगज वेग कहा जाता है॥ १५८॥

कर्म। एवमग्रेऽपि। विना च वेगं कर्मणः कर्मप्रतिबन्धकत्वात्पूर्वकर्मनाश उत्तर कर्मोत्पत्तिश्च न स्यात्। यत्र वेगवता कपालेन जनिते घटे वेगो जन्यते स वेगजो वेगः॥ १५८॥

स्थितिस्थापकसंस्कारः क्षितौ केचिच्चतुर्ष्वपि।

अतीन्द्रियोऽसौ विज्ञेयः क्वचित्स्पन्देऽपि कारणम्॥१५९॥

स्थितिस्थापकेति। आकृष्टशाखादीनां परित्यागे पुनर्गमनस्य स्थितिस्थापकसाध्यत्वात्। केचिदिति। चतुर्षु क्षित्यादिषु स्थितिस्थापकं केचिन्मन्यन्ते तदप्रमाणमिति भावः। असौ—स्थितिस्थापकः। क्वचिदाकृष्टशाखादौ॥ १५६॥

भावनाख्यस्तु संस्कारो जीववृत्तिरतीन्द्रियः।

उपेक्षानात्मकस्तस्य निश्चयः कारणं भवेत्॥ १६०॥

भावनाख्य इति। तस्य—संस्कारस्य। उपेक्षात्मकज्ञानात्संस्कारा-

स्थितिस्थापक संस्कार पृथ्वी में रहता। कुछ लोगों का मत है कि पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चारों में स्थिति स्थापक संस्कार होता है। वह अतीन्द्रिय होता है अतः अनुमान से विज्ञेय है। कहीं-कहीं स्पन्दक्रिया में भी यह कारण है॥ १५९॥

किसी शाखा को नीचे खींच लेने के बाद छोड़ देने पर जो वह अपने स्थान पर पुनः चली जाती है वह स्थितिस्थापक का कार्य है। कुछ लोगों का मत है कि जैसे पृथ्वी में स्थितिस्थापक संस्कार है वैसे जल में भी निकाल लिए जाने के बाद पुनः यथावस्थिति होती है, वायु में अधिक गर्मी से जब वायु ऊपर की ओर भागता है तब रिक्तस्थान को दौड़कर दूसरा वायु यथास्थिति बनाता है अग्नि की ज्वाला भी पवन के झटके से ज्योंही टूटती है तब तक पुनः दूसरी लपक यथास्थिति बना देती है। अतः इस यथास्थिति के लिए स्थितिस्थापक संस्कार का अनुमान किया जाता है। यद्यपि ग्रन्थकार इसे प्रमाण नहीं मानते तथापि अनुभव प्रमाण इसके पक्ष में है। इसमें आकृष्टशाखागत स्पन्दक्रिया भी कारण होती है॥ १५९॥

भावनासंस्कार तो जीववृत्ति है तथा अतीन्द्रिय है। अनुपेक्षात्मक निश्चय उसका कारण होता है॥ १६०॥

तस्य पद का अर्थ है भावनाख्य संस्कार। उपेक्षात्मकज्ञान से संस्कार की उत्पत्ति नहीं होती अतः उपेक्षानात्मक पद है। उपेक्षानात्मक संशय से संस्कार की उत्पत्ति नहीं होती अतः निश्चय पद है। अतः उपेक्षान्य निश्चय संस्कार के प्रति कारण है।

नुत्पत्तेरुपेक्षानात्मक इत्युक्तम्। तत्संशयात्संस्कारस्यानुत्पत्तेर्निश्चय इत्युक्तम्। तेनोपेक्षान्यनिश्चयत्वेन संस्कारं प्रति हेतुतेति भावः।

ननु स्मरणं प्रत्युपेक्षान्यनिश्चयत्वेन हेतुत्वं, तेनोपेक्षादिस्थले न स्मरणम्। इत्थं च संस्कारं प्रति ज्ञानत्वेनैव हेतुतास्त्विति चेद्—

न; विनिगमनाविरहेणापि संस्कारं प्रति उपेक्षान्यनिश्चयत्वेन हेतुतायाः सिद्धत्वात्। किञ्चोपेक्षास्थले संस्कारकल्पनाया गुरुत्वात्संस्कारं प्रति चोपेक्षान्यनिश्चयत्वेन हेतुतायाः सिद्धत्वात् ॥ १६० ॥

स्मरणे प्रत्यभिज्ञायामप्यसौ हेतुरुच्यते।

असौ—संस्कारः। तत्र प्रमाणं दर्शयति—स्मरण इति। यतः स्मरणं प्रत्यभिज्ञानं च जनयत्यतः संस्कारः कल्प्यते। विना व्यापारं पूर्वानु-

---

वस्तुतः संस्कारं प्रत्युपेक्षान्यनिश्चयत्वेन हेतुत्वे एव प्रमाणमस्तीत्याह—किञ्चेति।

संस्कारकल्पनाया इति। अस्य स्मृतिं प्रत्युपेक्षान्यनिश्चयत्वेन हेतुत्वे इत्यादिः।

संस्कारः कल्प्यते इति। नन्वनुभवध्वंस एव व्यापारोऽस्तु प्रतियोग्यभावयोरेकत्राजनकत्वमिति नियमस्याप्रयोजकत्वात्। न च कारणीभूताभावप्रतियोगित्वेन अनुभवस्य स्मृतिप्रतिबन्धकत्वापत्तिरिति वाच्यम्, संसर्गाभावत्वावच्छिन्नकारणताश्रयीभूताभावप्रतियोगित्वस्यैव प्रतिबन्धकतापदार्थत्वादिह च संसर्गाभावत्वेनाजनकत्वादिति चेन्न संस्कारानङ्गीकारे कदाचिदनुभूतस्य सर्वदा स्मरणापत्तेः अनुभवध्वंसात्मकव्यापारस्य सत्त्वादिति। शिवम्।

यदि स्मरण के प्रति उपेक्षान्यनिश्चयत्वेन संस्कार कारण है तब तो उपेक्षा स्थल में स्मरण नहीं बनेगा। इसी प्रकार संस्कार के प्रति ज्ञानसामान्य को कारण मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी किन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि विनिगमनाविरहात् संस्कारों के प्रति उपेक्षानात्मकनिश्चयत्वेन कारणता स्वयं सिद्ध है। अतः ज्ञानत्वेन हेतुता मानना उचित नहीं है। उपेक्षास्थल में संस्कार की कल्पना करना भी गुरुतर होगा, संस्कार के प्रति उपेक्षान्यत्वेन हेतुता सिद्ध भी है ॥ १६० ॥

उपर्युक्त सिद्धान्त में प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

स्मरणात्मक तथा प्रत्यभिज्ञात्मकज्ञान में संस्कार को हेतु कहा गया है।

'घटं स्मरामि' स्मृति के प्रति, तथा सोऽयं घटः इस प्रत्यभिज्ञा के प्रति 'घटः' यह संस्कार कारण माना जाता है। संस्कारमात्र जन्यं ज्ञानं स्मृतिः, इन्द्रियसहकृतं संस्कारजन्यं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा। यतः पूर्वानुभव ही कालान्तर में स्मरण अथवा प्रत्यभिज्ञा को उत्पन्न

भवस्य स्मरणादिजननासामर्थ्यात्स्वस्वव्यापारान्यतराभावे कारणत्वासम्भवात्। न च प्रत्यभिज्ञां प्रति तत्तत्संस्कारस्य हेतुत्वे प्रत्यभिज्ञायाः संस्कारजन्यत्वेन स्मृतित्वापत्तिरिति वाच्यम्, अप्रयोजकत्वात्।

परेत्वनुद्बुद्धसंस्कारात्प्रत्यभिज्ञानुदयादुद्बुद्धसंस्कारस्य हेतुत्वापेक्षया तत्तत्स्मरणस्यैव प्रत्यभिज्ञां प्रति हेतुत्वं कल्प्यत इत्याहुः ॥

अदृष्टं निरूपयति—

धर्माधर्मावदृष्टं स्याद्धर्मः स्वर्गादिसाधनम् ॥ १६१ ॥

गङ्गास्नानादियागादिव्यापारः स तु कीर्तितः।

धर्माधर्माविति। स्वर्गादीति। स्वर्गादिसकलसुखानां स्वर्गसाधनीभूतशरीरादीनां च साधनं धर्म इत्यर्थः। तत्र प्रमाणं दर्शयितुमाह—

इत्याहुरिति। परेतु स्वन्मते उद्बुद्धसंस्कारस्य स्मरणं प्रति स्मरणस्य च प्रत्यभिज्ञां प्रति हेतुताकल्पनं मन्मतेऽन्तरास्मरणव्यक्तिमकल्पयित्वा उद्बुद्धसंस्कारस्यैव प्रत्यभिज्ञां प्रति हेतुत्वकल्पने लाघवमित्यरुचिराहुरित्यनेन सूचिता ॥ १५२-१६१ ॥

करता है। इसीलिए मध्य में व्यापारात्मक संस्कार का अनुमान करते हैं। जैसे 'पूर्वानुभवः संस्कारात्मकव्यापारवान्, स्मरणादिजनकत्वात्' व्यापार के बिना पूर्वानुभव स्मरण या प्रत्यभिज्ञा को उत्पन्न नहीं कर सकता। क्योंकि अपने और अपने व्यापार में से किसी एक के अभाव में कारणत्व होता नहीं है। यदि प्रत्यभिज्ञा के प्रति संस्कार को ही कारण माना जाता है तो प्रत्यभिज्ञा भी संस्कार से जन्य होने से स्मृतिरूप होने लगेगी किन्तु यह तर्क अप्रयोजक हैं। क्योंकि संस्करजन्यत्व तो संस्कारध्वंस में भी है वह भी स्मृति हो सकेगा। अतः अनुभवजन्य ज्ञानत्वेन ही स्मृति का प्रयोजकत्व माना गया है। चिन्तामणिकार का मत है कि अनुद्बुद्धसंस्कारों में प्रत्यभिज्ञा का उदय होता नहीं अतः प्रत्यभिज्ञा के प्रति उद्बुद्धसंस्कार को हेतु मानने की अपेक्षा तत्तद्वस्तु विषयक स्मरण को ही प्रत्यभिज्ञात्मकज्ञान के प्रति हेतु मानने में लाघव है।

अदृष्ट का निरूपण करते हैं—

अदृष्ट दो प्रकार के होते हैं एक धर्म और दूसरा अधर्म। इनमें धर्म स्वर्ग आदि का साधन है। गङ्गास्नान याग आदि क्रियाओं को धर्म कहते हैं ॥ १६१½ ॥

स्वर्ग आदि समग्र सुखों का और स्वर्ग साधन शरीर का भी साधन धर्म है। इसमें प्रमाण यह है कि याग, होम, दान, गङ्गास्नान करने के बाद भविष्यत् स्वर्गफल के बीज में धर्म (अदृष्ट) को व्यापार मानते हैं। अन्यथा याग के पूर्ण होने के चिरकाल बाद

यागादीति। यागादिव्यापारतया धर्मः कल्प्यते। अन्यथा यागादीनां चिरविनष्टतया निर्व्यापारतया च कालान्तरभाविस्वर्गजनकत्वं न स्यात्। तदुक्तमाचार्यैः—

चिरध्वस्तं फलायालं न कर्मातिशयं विना। इति।

ननु यागध्वंस एव व्यापारः स्यात्। न च प्रतियोगितद्ध्वंसयोरेकत्राजनकत्वं सर्वत्र तथात्वे मानाभावात्, न च त्वन्मते फलानन्त्यं, मन्मते चरमफलस्यापूर्वनाशकत्वान्न तथात्वमिति वाच्यम्, कालविशेषस्य सहकारित्वादित्यत आह–गङ्गास्नानेति। गङ्गास्नानस्य हि स्वर्गजनकत्वे-

यागेति। यागत्वं च देवतोद्देश्यकस्वस्वत्वध्वंसवद्द्रव्यविशेष्यकेच्छात्वम्। होमत्वं च अग्निसंयोगानुकूलक्रियाजनकघृतादिवृत्तिनोदनादिव्यापारत्वम्। दानत्वं च मूल्यग्रहणं विना स्वस्वत्वध्वंसपरस्वत्वजनकत्यागत्वम्।

मीमांसकास्तु देवतामुद्दिश्य द्रव्यत्यागो यागः। त्यक्तस्य द्रव्यस्य वह्नौ प्रक्षेपो होमः। स्वकीयद्रव्यस्य स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वापादनं दानम्। तदुक्तं न्यायमालायाम्—

आकाङ्क्षा यागशब्दस्य त्यागेनैव निवर्तते।
त्यागस्योपरि होमस्य विधेः क्षेपावसानता॥
स्वीयं द्रव्यं परित्यज्य परकीयं यथा भवेत्।
तथा सम्पादनं दानं त्यागेप्येषामियं भिदा॥ इति॥

तथात्वे—प्रतियोगिध्वंसयोरेकत्राजनकत्वे।

स्वर्गफल की प्राप्ति होनी चाहिये। किन्तु याग तो चिरकाल से नष्ट है यदि वह निर्व्यापार होगा तो कालान्तर में होने वाले स्वर्ग रूपी फल का जनक न हो सकेगा। अतः अदृष्ट नाम का अवान्तर व्यापार माना जाता है। यह अदृष्ट भोग से ही नष्ट होता है काल से नहीं।

आचार्य उदयन का भी यही मत कुसुमाञ्जलि में वर्णित है कि चिरकाल से ध्वस्त (याग आदि कर्म) अतिशय (अपूर्व नाम के आंवान्तर व्यापार) के बिना स्वर्ग आदि फल देने में अलं (समर्थ या कारण) नहीं हो सकता। अतः व्यापार अवश्य मानना चाहिए।

यदि कहा जाय कि याग ध्वंस को ही व्यापार मानना उचित भी है। जो लोग कहते है कि कारण तथा कारणाभाव एक का कारण नहीं हो सकता। अतः प्रतियोगी और उसका ध्वंस एकत्र जनक नहीं होंगे। किन्तु सर्वत्र ऐसा होने में कोई प्रमाण नहीं है।

यदि कहा जाय कि तुम्हारे (यागध्वंस को व्यापार मानने वाले के) पक्ष में ध्वंस के अविनाशी होने से अनन्तफल होगा और हमारे (अपूर्ववादी) के मत में अन्तिम फल के द्वारा अपूर्व का नाश होने से वह निवृत्त होता है इस प्रकार दोनों में मत भेद है। किन्तु

ऽनन्तानां जलसंयोगध्वंसानां व्यापारत्वमपेक्ष्यैकमपूर्वमेव कल्प्यते लाघवादिति भावः॥

ननु ध्वंसोऽपि न व्यापारोऽस्तु। न च निर्व्यापारस्य चिरध्वस्तस्य कथं कारणत्वमिति वाच्यम्, अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्तित्वस्य तत्रापि सत्त्वात्, अव्यवहितपूर्ववर्तित्वं हि चक्षुस्संयोगादेः कारणत्वे, न तु सर्वत्र, कार्यकालवृत्तित्वमिव समवायिकारणस्य कारणत्वे इत्यत आह—

कर्मनाशाजलस्पर्शादिना नाश्यस्त्वसौ मतः॥ १६२॥

कर्मनाशेति। यदि ह्यपूर्वं न स्यात्तदा कर्मनाशाजलस्पर्शादिना नाश्यत्वं धर्मस्य न स्यात्। नहि तेन यागादेर्नाशः प्रतिबन्धो वा कर्तुं शक्यते तस्य पूर्वमेव वृत्तत्वादिति भावः। एतेन देवताप्रीतेरेव फलत्वमित्यपास्तम्, गङ्गास्नानादौ सर्वत्र देवताप्रीतेरसम्भवात्, देवतायाश्चेतनत्वेऽपि तत्प्रीतेरनुद्देश्यत्वात्, प्रीतेः सुखस्वरूपत्वेन विष्णुप्रीत्यादौ तदसम्भवात्, जन्यसुखादेस्तत्राभावात्। तेन विष्णुप्रीतिजन्यत्वेन पराभिमतस्वर्गादिरेव विष्णुप्रीतिशब्देन लक्ष्यते॥ १६१-१६२॥

ऐसा मानना उचित नहीं क्योंकि जिस याग से जितने दिन स्वर्ग में स्थिति स्मृति में मान्य है उतने काल से विशिष्ट याग ध्वंस को स्वर्ग के प्रति कारण मानने से फलानन्त्य दोष नहीं होगा। किन्तु याग ध्वंस को व्यापार मानना उचित नहीं क्योंकि गङ्गास्नान से स्वर्ग उत्पन्न होने में अनन्त जलसंयोग ध्वंसों को व्यापार मानने की अपेक्षा एक अपूर्व को ही व्यापार मानने में लाघव होगा। अतः अपूर्व मानना ही उचित है॥ १६१½॥

यदि कहा जाय कि अदृष्ट अथवा ध्वंस किसी को भी व्यापार न माना जाय तो ठीक नहीं, क्योंकि निर्व्यापार और चिरध्वस्त याग स्वर्गरूप फल के प्रति कारण नहीं होगा। यदि कहा जाय कि **अन्यथासिद्धिशून्यत्वे सति कार्यनियतपूर्ववर्तित्व** रूप कारण के होने से याग के कारण होने में कोइ आपत्ति नहीं है। जहाँ चक्षुःसंयोग कारण होगा वहाँ तो अव्यवहितपूर्ववर्तिता कारण में होनी चाहिए किन्तु सर्वत्र अव्यवहित पूर्ववर्तित्वनिवेश में कोई कारण नहीं। जैसे—समवायिकारण का कार्य के उत्पत्ति काल में वर्तमान रहना अनिवार्य है। किन्तु यह पक्ष ठीक नहीं क्योंकि–

कर्मनाशा नदी के जलस्पर्श आदि से अदृष्ट का नाश माना गया है॥ १६२॥

यदि अपूर्व न माना जाय तो कर्मनाशा के जल स्पर्श आदि से (उसका) धर्म का नाश नहीं बनेगा। कर्मनाशा जल स्पर्श याग का नाशक या प्रतिबन्धक हो सकेगा क्योंकि याग का नाश तो पहिले ही हो जाता है। इस कथन के पश्चात् जो लोग कहते

अधर्मो नरकादीनां हेतुर्निन्दितकर्मजः ।

अधर्म इति । नरकादिसकलदुःखानां नारकीयशरीरादीनां च साधन-मधर्म इत्यर्थः ॥

तत्र प्रमाणमाह—

प्रायश्चित्तादिनाश्योऽसौ जीववृत्ती त्विमौ गुणौ ॥ १६३ ॥

प्रायश्चित्तेति । यदि ह्यधर्मो न स्यात्तदा प्रायश्चित्तादिना नाश्यत्व-मधर्मस्य न स्यात् । न हि तेन ब्रह्महननादीनां नाशः प्रतिबन्धो वा विधातुं शक्यते, तस्य पूर्वमेव विनष्टत्वादिति भावः । जीवेति । ईश्वरे धर्माधर्माभावादिति भावः ॥ १६३ ॥

इमौ तु वासनाजन्यौ ज्ञानादपि विनश्यतः ।

हैं कि देवता की प्रीति ही फल है वे परास्त हो गये । क्योंकि गङ्गास्नान से सर्वत्र देवता की प्रीति मानना असम्भव है । यदि देवताओं के चेतन होने से प्रीति होना सम्भव है तो ठीक नहीं क्योंकि स्नानकर्ता ने देवता की प्रीति के उद्देश्य से स्नान भी नहीं किया है । यदि देवता की प्रीति मान भी ली जाय तो प्रीति सुखस्वरूप होगी जो विष्णु की नित्य प्रीति से भिन्न होगी क्योंकि जन्य सुख विष्णु में नहीं होता । अतः विष्णु प्रीतिजन्यत्वेन मीमांसकों के द्वारा मान्य स्वर्ग आदि ही विष्णु प्रीति शब्द से लक्षित होते हैं । अर्थात् लक्षणा द्वारा स्वर्ग का ही बोध होता है ॥ १६१–१६२ ॥

निन्दित कर्मों से जन्य नरक आदि साधन अधर्म है । नरक आदि सकल दुःखों का, नारकियों के शरीर आदि का साधन अधर्म है ।

इसमें प्रमाण है कि—

'यह अधर्म' प्रायश्चित्त द्वारा नष्ट होता है । इस प्रकार ये दोनों धर्म और अधर्म गुण जीवमें रहते हैं ।' १६३ ॥

यदि अधर्म नाम का गुण न होता तो प्रायश्चित्त द्वारा उसका नाश न होता । प्रायश्चित्त ब्रह्महनन कर्म का नाश अथवा प्रतिबन्ध नहीं किया जा सकता । क्योंकि ब्रह्म हत्या रूपकर्म का नाश तो पूर्वकाल में ही हो जाता है । ईश्वर में धर्म अथवा अधर्म के न होने से वे दोनों धर्म और अधर्म जीव में रहते हैं । अर्थात् जीववृत्ति हैं ॥ १६३ ॥

ये धर्म और अधर्म वासना से जन्य हैं और ज्ञान से नष्ट होते है ।

इमौ—धर्माधर्मौ । वासनेति । अतो ज्ञानिना कृते अपि सुकृतदुष्कृतकर्मणी न फलायालमिति भावः । ज्ञानादपीति । अपिना भोगपरिग्रहः ।

ननु तत्त्वज्ञानस्य कथं धर्माधर्मनाशकत्वं ? 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' इति वचनविरोधात्, इत्थं च तत्त्वज्ञानिनां झटिति कायव्यूहेन सकलकर्मणां भोगेन क्षय इति चेद्—न; तत्र भोगस्य वेदबोधितनाशकोपलक्षकत्वात् । कथमन्यथा प्रायश्चित्तादिना कर्मणां नाशः । तदुक्तम्—'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन' इत्यादिना । श्रूयते च—'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे' इति ।

चिरविनष्टतयेति ननु चिरनष्टस्याप्यनुभवस्य स्मृतिजनकत्वं दृष्टमत आह—निर्व्यापारतयेति । तथाच तस्य संस्काररूपव्यापारद्वारा स्मृतिजनकत्वमिति न दोष इति भावः ।

फलानन्त्यं—ध्वंसस्याविनाशित्वेन फलपरम्पराप्रसङ्गः ।

ईश्वरे इति । नन्वीश्वरे कुतो न धर्माधर्मयोरुत्पत्तिरत आह—वासनाजन्याविति ईश्वरे वासनाया अभावादिति भावः ।

ननु वासनाया धर्माधर्मजनकत्वे मानाभावो अत आह—अतो ज्ञानिनेति ।

सर्वकर्माणि— सर्वकर्मजन्यादृष्टानीत्यर्थः । अन्यथा कर्मणां क्षणिकत्वेन नष्टतया ज्ञाननाश्यत्वकथनासङ्गतिः स्यात् ।

ये दोनों (धर्म और अधर्म) वासना से जन्य हैं । अत एव ज्ञानियों द्वारा आचरित पुण्य अथवा पापकर्म फलप्रदान में समर्थ नहीं होते । तात्पर्य यह है कि ज्ञानी पुरुष में ज्ञान द्वारा वासना का क्षय होता है । अतः ज्ञानी द्वारा किए गए शुभ अथवा अशुभ कर्म से धर्म अथवा अधर्म की उत्पत्ति नहीं होती । ज्ञानादपि में 'अपि' शब्द भोग का संग्रह करता है । अर्थात् ज्ञान तथा भोग से अदृष्टों का नाश होता है ।

यदि कहा जाय कि तत्त्वज्ञान से धर्म अथवा अधर्म का नाश नहीं होता है । क्योंकि श्रुति का वचन है कि बिना भोग के कर्म का क्षय नहीं होता है । अतः मानना चाहिए कि तत्वज्ञानियों को झट से कायों के समुदाय में सकल कर्मों का भोग द्वारा क्षय होता है किन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं । क्योंकि 'नाभुक्तं' पद में 'भोग' पद वेद से प्रतिपादित समस्त नाशकों का उपलक्षक है । अर्थात् भोग, ज्ञान अथवा प्रायश्चित्तों में से किसी एक कारण के रहने पर भी कर्मों का क्षय होता है । अन्यथा प्रायश्चित्त से कर्मों का नाश नहीं हो सकेगा । कहा भी है कि हे अर्जुन—ज्ञानरूपी-अग्नि समग्र कर्मों से उत्पन्न अदृष्टों को भस्मसात् करती है । 'श्रुति भी है कि' उस परमात्म तत्त्व के दर्शन से जीव के समस्त कर्म फलों का क्षय होता है ।

ननु तत्त्वज्ञानिनस्तर्हि शरीरावस्थानं सुखदुःखादि च न स्याज्ज्ञानेन सर्वेषां कर्मणां नाशादिति चेद्—

न, प्रारब्धेतरकर्मणामेव नाशात् । तत्तच्छरीरभोगजनकं हि यत्कर्म-तत्प्रारब्धं, तदभिप्रायमेव नाभुक्तमिति वचनमिति ॥

शब्दं निरूपयति—

शब्दो ध्वनिश्च वर्णश्च मृदङ्गादिभवो ध्वनिः ॥ १६४ ॥
कण्ठसंयोगादिजन्या वर्णास्ते कादयो मताः ।
सर्वः शब्दो नभोवृत्तिः श्रोत्रोत्पन्नस्तु गृह्यते ॥ १६५ ॥
वीचीतरङ्गन्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता ।

शब्द इति । नभोवृत्तिराकाशसमवेतः । दूरस्थशब्दस्याग्रहणादाह-श्रोत्रेति ।

ननु मृदङ्गावच्छेदेनोत्पन्ने शब्दे श्रोत्रे कथमुत्पत्तिरत आह—वीचीति ।

यदि कहा जाय कि 'ऐसी स्थिति में तो तत्त्वज्ञानी के शरीर का रहना, तथा सुख-दुःख का अनुभव भी नहीं होगा क्योंकि ज्ञान से समस्त कर्मों का नाश हो जाता है । किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि प्रारब्ध कर्म से अन्य (संचित तथा क्रियमाण) कर्मों का ही नाश होता है । उन-उन देहों को भोग देने वाले कर्म को प्रारब्ध कर्म कहा जाता है । इसी कर्म को उद्देश्य करके 'नाभुक्तं' श्रुति है । तात्पर्य यह है कि प्रारब्धकर्म का बिना भोग के नाश नहीं होता है ।

शब्द का निरूपण करते हैं ।

शब्द दो प्रकार का है एक ध्वनि तथा दूसरा वर्ण । जिनमें मृदङ्ग आदि से उत्पन्न शब्द को ध्वनि कहते है और कण्ठ के संयोग से जन्य जो ककार आदि वे वर्ण माने गये हैं । समस्त शब्द चाहे ध्वन्यात्मक हों या वर्णात्मक आकाश में रहते हैं किन्तु वीचीतरङ्ग-न्यायेन श्रोत्रदेश में उत्पन्न शब्द का ग्रहण होता है । उसकी उत्पत्ति वीचीतरङ्गन्याय से होती है । नभोवृत्ति कहने का तात्पर्य है कि शब्द समवाय सम्बन्ध से आकाश मे रहता है । दूरस्थ शब्द का ग्रहण कैसे हो सकता है इस शङ्का के निराकरण के लिए बताया गया कि श्रोत्रदेश में उत्पन्न शब्द का ग्रहण होता है ।

यदि यह कहा जाय कि जब शब्द मृदङ्गदेश में उत्पन्न होता है तो वह श्रोत्रदेश में कैसे उत्पन्न हो सकता है ठीक है वह शब्द वीचीतरङ्ग की भाँति लहर में चलता हुआ श्रोत्रदेश तक आता है और श्रोत्रदेशस्थ शब्द से जो श्रोत्र में शब्द उत्पन्न होता है ।

आद्यशब्देन बहिर्दशदिगवच्छिन्नोऽन्यः शब्दस्तेनैव शब्देन सदृशो जन्यते । तेन चापरस्तद्व्यापकः । एवं क्रमेण श्रोत्रोत्पन्नो गृह्यत इति ।

कदम्बगोलकन्यायादुत्पत्तिः कस्यचिन्मते ॥ १६६ ॥

कदम्बेति । आद्यशब्दाद्दशसु दिक्षु दश शब्दा उत्पद्यन्ते । तेभ्यश्चान्ये दश शब्दा उत्पद्यन्त इति भावः । अस्मिन्मते कल्पनागौरवादुक्तं—कस्यचिन्मत इति ॥ १६४।१६५।१६६ ॥

ननु शब्दस्य नित्यत्वादुत्पत्तिकथनमसङ्गतमत आह—

उत्पन्नः को विनष्टः क इति बुद्धेरनित्यता ।

उत्पन्न इति । शब्दानामुत्पादविनाशप्रत्ययशालित्वादनित्यत्वमित्यर्थः ॥

कल्पनागौरवादिति । **दशशब्दानां तत्प्रागभावानां तेषां कार्यकारणभावस्य च कल्पने गौरवादित्यर्थः ॥ १६२–१६६ ॥**

अर्थात् जैसे आदि वीची से, तरङ्ग उससे पुनः वीची इसी क्रम से नदी के मध्य में उत्पन्न लहर किनारे तक आती है वैसे आदि (मुखोच्चारित) शब्द से बाहर दशों दिशाओं में शब्द की लहर बनती है यह लहर उसी उच्चारित शब्द की भाँति दूसरे शब्दों को जन्म देती है । इसी प्रकार लहरें व्यापक हो जाती हैं और क्रम से श्रोत्र देश तक आकर शब्द उत्पन्न करती हैं । वहीं शब्द गृहीत होता है ।

कुछ लोगों के मत में [वीचीतरङ्गन्याय से शब्द की उत्पत्ति मानना ठीक नहीं है क्योंकि वीची और तरङ्ग जल में उत्पन्न होती हैं शब्द की लहरियों का कोई आधार नहीं होगा अतः] कदम्ब गोलकन्याय से शब्द की उत्पत्ति मानना चाहिए ।

इनके मत में आद्य शब्द से दशों दिशाओं में दश शब्द उत्पन्न होंगे । उनसे अन्य दश शब्द उत्पन्न होंगे । किन्तु इनके मत में दोष यह है कि आद्य शब्द से दशों दिशाओं में शब्द उत्पन्न होना यह कल्पना गुरुतर है । इसीलिए मूलकारने कस्यचिन्मते कहकर अपनी अरुचि प्रकाशित की है ।

यदि कहा जाय कि शब्द तो नित्य है उनकी उत्पत्ति का होना असंगत है तो ठीक नहीं—

क्योंकि 'उत्पन्नः ककारः' 'विनष्टः ककारः' इस प्रकार शब्दों की उत्पत्ति और विनाश प्रत्ययशालिनी बुद्धि होने से शब्दों को अनित्य मानना ही उचित है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि शब्दों की उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति होने से शब्दों को अनित्य मानना चाहिए ।

ननु स एवायं ककार इत्यादिप्रत्यभिज्ञानाच्छब्दानां नित्यत्वम्, इत्थं चोत्पादविनाशबुद्धिर्भ्रमरूपैवेत्यत आह—

सोऽयं क इति बुद्धिस्तु साजात्यमवलम्बते ॥ १६७ ॥

सोऽयं क इति। साजात्यमिति। तत्र प्रत्यभिज्ञानस्य तत्सजातीयत्वं विषयो न तु तद्व्यक्त्यभेदो विषयः—उक्तप्रतीतिविरोधात्। इत्थञ्च द्वयोरपि प्रतीत्योर्न भ्रमत्वमिति ॥ १६७ ॥

द्वयोरपीति। अत्र मीमांसकाः। स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञाबलाद्गकारस्य तावत्कालं स्थितेरभ्युपेयत्वात् नाशकसामग्र्यभावाच्चिरस्थिरत्वम्। नचेयं प्रत्यभिज्ञा साजात्यविषयिणी न तु व्यक्त्यभेदविषयिणीति वाच्यम्। सैवेयं दीपकलिकेत्यादौ व्यक्तिभेदस्य स्पष्टमवगमात् तादृशप्रतीतेः साजात्यविषयत्वेऽपि स एवायं गकार इति प्रतीतेः व्यक्त्यभेदांशे बाधकाभावेन साजात्यविषयकत्वे मानाभावात्, तज्जातीयोऽयमित्यप्रतीतेश्च।

न च तारत्वमन्दत्वादिविरुद्धधर्म्माध्यासोऽभेदबाधक इति वाच्यम्। प्रत्यभिज्ञाबलेन तस्य नित्यत्वसिद्धौ तारत्वादेर्वायुधर्मत्वाङ्गीकारेणादोषात्। एकस्मिन्निरूपकभेदेन पितृत्वपुत्रत्वयोरिव तारत्वमन्दत्वयोरपि समावेशे विरोधाभावाच्चेत्याहुः।

तन्न, तथासति कत्वगत्वादेरपि व्यञ्जकवायुधर्मत्वापत्त्या ककारगकारयोरपि भेदाभावप्रसङ्गात् वर्णनित्यतापक्षे कण्ठताल्वाद्यभिघातानां 'क'साक्षात्कारत्वस्य जन्यतावच्छेदकत्वाङ्गीकारे गौरवाच्च मम तु कत्वमेव तथेति लाघवमिति ध्येयम् ॥

नगवसुनवचन्द्रैः सम्मिते वैक्रमेऽब्दे रघुपतिजनितिथ्यां मासि,चैत्रे मयूखः।
उदित इति विपश्चित्सूर्यनारायणाख्याद्रघुपतिपदपूजादीपकार्यं श्रयेत ॥ १ ॥

श्रीगर्गान्वयसिन्धुतः समुदितो रामेश्वरो यत्पिता,
देवीश्रीसुधरा च यस्य जननी, श्रीदत्तशर्मा गुरुः-
श्रीमच्चन्द्रधरश्च यस्य विदितः, साकेत प्रान्तस्थितेः
श्रीमत्सारवपारिणः कृतिरियं लोके समुज्जृम्भताम् ॥ २ ॥

यदि कहा जाय कि 'सोऽयं ककारः' प्रतीति के आधार पर शब्दों को नित्य भी माना जा सकता है और उत्पन्न तथा विनाश बुद्धि को भ्रमरूप मान लेना चाहिए। किन्तु यह मत ठीक नहीं। क्योंकि —

'सोऽयं ककारः' यह बुद्धि तो सजातीयता के आधार पर होती है।

इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा का विषय तत्सजातीयता है किन्तु व्यक्ति का एक होना नहीं। अन्यथा 'उत्पन्नो ककारः' प्रतीति का विरोध आ पड़ेगा। इस प्रकार दोनों प्रतीतियाँ भ्रमरूप नहीं हैं।

ननु सजातीये सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा कुत्र दृष्टेत्यत आह—

तदेवौषधमित्यादौ सजातीयेऽपि दर्शनात्।
तस्मादनित्या एवेति वर्णाः सर्वे मतं हि नः ॥१६८॥

इति श्रीविश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्यकृता कारिकावली समाप्ता ॥

तदेवेति। यदौषधं मया कृतं तदेवान्येनापि कृतमित्यादिदर्शनादिति भावः ॥ १६८ ॥

इति न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्यां गुणनिरूपणं समाप्तम्।

इति महामहोपाध्याय विद्यानिवासभट्टाचार्यसुत-श्रीविश्वनाथपञ्चानन-भट्टाचार्यविरचिता न्यायसिद्धान्तमुक्तावली सम्पूर्णा ॥

साकेताख्यपुरी मनुप्रभृतिभिः श्रीरामचन्द्रान्तिमैः
सम्राड्भिः प्रथिता त्रिलोकमहिता मुक्तिप्रदा राजते ॥
तस्याः वह्निदिशं श्रिते सुखकरे ग्रामाऽठडीहाभिधे
क्रोशेर्विंशतिसङ्ख्यकैः परिमिते वेद्या जनिर्मेबुधैः ॥ ३ ॥

इति न्यायव्याकरणाचार्य श्रीसूर्य्यनारायणशर्मशुक्लविरचिते मुक्तावलीमयूखे गुणनिरूपणं समाप्तं, समाप्तश्चायं मुक्तावलीमयूखः।

यदि कहा जाय कि सजातीय में भी प्रत्यभिज्ञा क्या दृष्ट है। हाँ,

'यह वही औषध है जो मैंने पहिले खाई थी' यहाँ सजातीय में प्रत्यभिज्ञा दृष्ट है। इसलिए हम नैयायिकों तथा वैशेषिकों के मत में वर्ण अनित्य ही हैं ॥ १६८ ॥

वही औषध जो मैंने की थी वही अन्य ने भी की थी इस प्रकार सजातीय में प्रत्यभिज्ञा बनती है।

इति न्याय-व्याकरण-साहित्याचार्य श्रीरामगोविन्दशुक्ल रचित न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली की हिन्दी टीका पूर्ण हुई।

---

१. इत्यादीति—अत्र आदिपदेन, सैवेयं दीपकलिका, सोयं स्वभावः इत्यादीनां संग्रहः।

इति न्यायव्याकरणसाहित्याचार्यश्रीरामगोविन्दशर्मशुक्लकृता टिप्पणी समाप्ता।